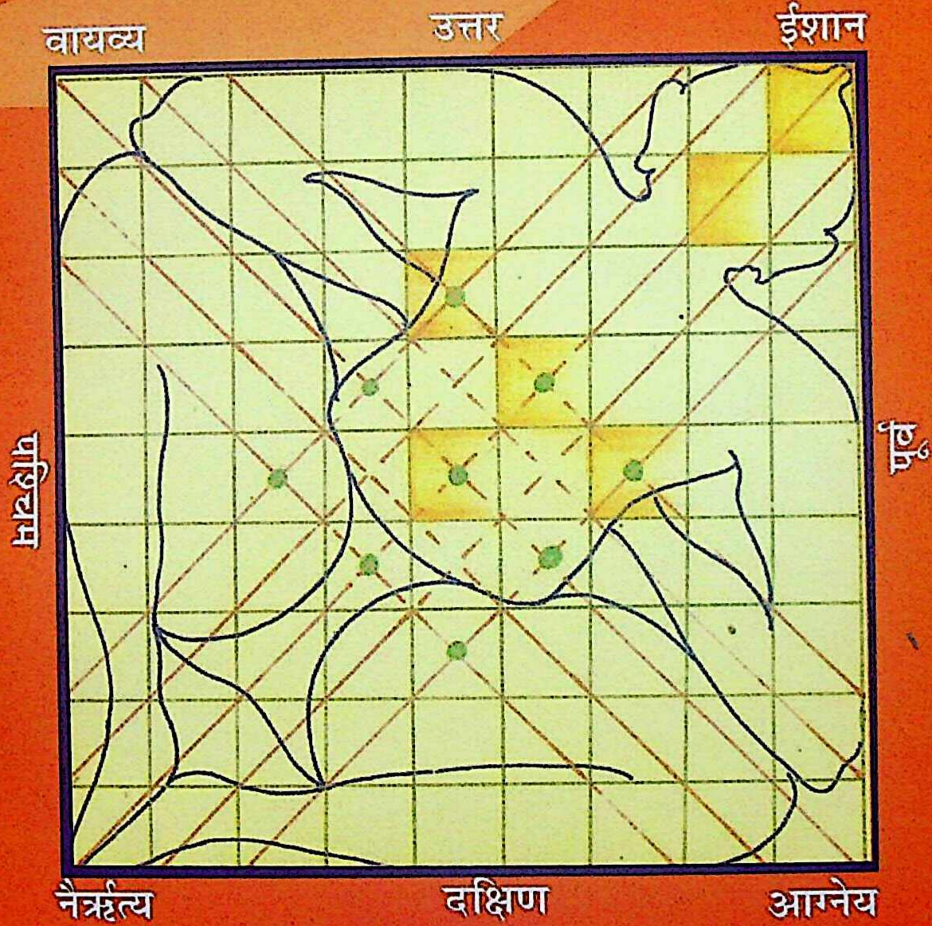
ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला – दशम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एव मूल्याङ्कित शोधपत्रिका





श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–दशम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

सन्दर्भित एवं मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

प्रधान सम्पादक
प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय
कुलपतिः

सम्पादक
प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष



वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली-११००१६

प्रकाशक–

वास्तुशास्त्र विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली–११००१६

ISSN :- 0976-4321

संस्करण – २०१७

मूल्य २००/–

मुद्रकः

अमर प्रिंटिंग प्रैस

दिल्ली–११०००९

९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८

पुरो वाक्

परब्रह्म परमेश्वर जब सृष्टिरूपी वास्तु के निर्माण हेतु उद्यत होते हैं तब वे वेदात्ममय अनिरुद्ध के साकाररूप में स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। यही हिरण्यगर्भ के नाम से श्रुतियों में परिकीर्तित हैं। आदिभूत अर्थात् सबसे पहले व्यक्तीभूत होने के कारण से वे आदित्य हैं। इनसे ही जगत् की प्रसूति होती है अतः ये सूर्य के नाम से भी जाने जाते हैं (सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय 14-15)। ये सूर्य भौतिक जगत् में दृश्यमान सूर्य से पृथक् हैं क्योंकि दृश्यमान भौतिकसूर्य की उत्पत्ति ब्रह्मा के नेत्र से हुई है (सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय 22)। आदिभूत आदित्य के चतुष्पाद में से तीन पाद अमृतमय एवं गुप्त हैं तथा चतुर्थपाद यह स्थावरजङ्गात्मक दृश्यमान जगत् है (सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय 20)। अतः श्रुतियों में भी कहा गया है-

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादेऽस्येहाभवत् पुनः।। पुरुषसूक्त 3-4

इस प्रकार यह ब्रह्माण्डवास्तु परब्रह्म परमेश्वर के चतुर्थपाद पर स्थित है। इसी ब्रह्माण्डवास्तु में हमारी पृथिवी है, जो सर्वप्रथम जलमग्न थी। इसे निवासयोग्य बनाने के लिए देवगण ने वास्तुपुरुष को इसके ऊपर प्रतिष्ठापित किया और स्वयं भी इसके ऊपर अधिष्ठित हुए। मत्स्यपुराण (अध्याय 251) में वर्णित वास्तुपुरुष की उद्भव कथा इस कथन की पुष्टि करती है। इस प्रकार पृथिवी का निर्माण हुआ, जिसमें समस्त जड़-चेतन प्राणियों के साथ मनुष्य निवास करने लगा। अपने सामाजिक रहन-सहन एवं व्यवहार के आधार पर मानव ने ग्राम, नगरादि अधिष्ठानों का निर्माण किया-

द्विजकुलपरिपूर्णं वस्तु यन्मङ्लाख्यं नृपवणिग्भिर्युक्तं वस्तु यत्तत् पुरं स्यात्।
तदितरजनवासं ग्राममित्युच्यतेऽस्मिन् मठमिति पठितं यत्तापसानां निवासम्।।

- मयमतम् 9, 40

मयाचार्य ने वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ मयमतम् में मुख्यरूप से दश प्रकार के वासयोग्य अधिष्ठान कहे हैं-

स्थानीयदुर्गपुरपत्तनकोत्मकोलद्रोणमुखानि निगमञ्च तथैव खेटम्।
ग्रामञ्च खर्वटमितीह दशैव युक्त्याधिष्ठानकानि कथितानि पुरातनार्यैः।।

– मयमत 10, 92

इन वासयोग्य अधिष्ठानों में निवासयोग्य स्थल, भूखण्ड या गृह को ही सामान्यतः वास्तु कहा जाता है। जिसमें वस्तुसंग्रहणादिपूर्वक धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन पुरुषार्थों का पालन विधिपूर्वक किया जा सकता है। वेदों में वर्णित वास्तुपद का अर्थ भी निवास या गृह ही होता है। इस वास्तु को अनुशासित करने वाला शास्त्र ही वास्तुशास्त्र है। इसलिए यह शास्त्र वास्तु निर्माणविधि के सिद्धान्तों एवं नियमों का प्रतिपादन करता है। सर्वविधसुखप्रद, शान्तमय, सुरक्षितभवन की निर्माणयोजना में सहायता प्रदान करना ही वास्तुशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

वास्तु के मूलभूततत्त्व वेदों, वेदांगों, पुराणों एवं आगमग्रन्थों में दिखाई देते हैं। अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्यवेद के रूप में प्रतिष्ठित वास्तुशास्त्र का विशेष रूप से ज्योतिष एवं कल्प के साथ घनिष्ठसम्बन्ध है। शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदीपरिकल्पना इस शास्त्र की आधारशिला है। यजुर्वेदीयसंहिता में तो वास्तुशब्द का अर्थ प्रायः यज्ञवास्तु ही है। अथर्ववेद में सुवास्तु शब्द का प्रयोग शोभन व सुन्दर गृह के लिए तथा अवास्तुशब्द का प्रयोग गृहाभाव के लिए प्रयुक्त किया गया है। आपस्तम्बश्रौत्रसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र, कौशिकगृह्यसूत्र, कामिकातन्त्र, रामायण, महाभारत, मयमत, अपराजितपृच्छा, मानसार, कौटिल्यार्थशास्त्र आदि में भी वास्तु का विभिन्न अर्थों में वर्णन प्राप्त होता है।

इस प्रकार निःसन्देह भारत में अति प्राचीन काल से ही वास्तुशास्त्र की एक समृद्ध व सुदृढ़ अध्ययन-अध्यापन की परम्परा का प्रचलन रहा है। इसी को आगे बढ़ाने के सदुद्देश्य से विद्यापीठ में वास्तुशास्त्र विभाग की स्थापना हुई। प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी के कुशल नेतृत्व में विभाग में शिक्षण एवं शोध कार्य निरन्तर गतिशील है। इसी सातत्य में विभाग द्वारा

वास्तुशास्त्रविमर्श नामक शोधपत्रिका का सतत रूप से प्रकाशन होता आ रहा है, जिसमें विद्वानों के उत्कृष्ट शोधलेखों का प्रकाशन किया जाता है। इसी क्रम में **वास्तुशास्त्रविमर्श** के इस दशम पुष्प को विद्वज्जनों को समर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस सारस्वत कार्य हेतु मैं प्रो. त्रिपाठी एवं उनके सहयोगियों को अत्यन्त साधुवाद देता हूँ। साथ ही आशा करता हूँ कि वे इसी प्रकार मां भारती की सेवा एवं साधना में निरत रहेंगे। शमिति।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा, वि.सं.2074 — **प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय**

दिनांक 03.12.2017 — कुलपति

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति के मूल वेद हैं। वेदों में ही ऋषियों का अलौकिक ज्ञान प्रतिफलित होता दिखाई देता है। जगत् का आदिमतम ग्रन्थ वेद ही भाव और भाषा की दृष्टि से आज भी दुरूह बना हुआ है। ज्ञान के इस प्रकाश के बोधगम्य न होने पर किसी ने इसको कृषकों का गीत कहा, किसी ने अशिक्षित आदिमानव का व्यर्थ प्रलाप समझा, किसी ने प्रकृति के ताण्डव से भयभीत असहाय भाव का आर्तनाद माना और किसी ने सोचा कि यह एक अदृश्य शक्ति के सामने मूढ़ मानव की व्याकुल प्रार्थना है इत्यादि।

स्व श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से इसी प्रकार प्राच्य विज्ञान का, पाश्चात्य विज्ञान उपहास करता आया है। इन तथ्यों पर विचार करने की किसी ने आवश्यकता अनुभव नहीं की कि आधुनिक विज्ञान ने बहिर्मुख पर्यवेक्षण के द्वारा जिन सब तत्त्वों का आविष्कार किया है, उन्हीं को प्राचीन प्राच्य विज्ञान ने अन्तर्मुख साधना के माध्यम से यम-नियम से आरम्भ कर समाधि तक की यात्रा करते हुए ध्यानावस्थित होकर तत्त्वों के कारणों की उपलब्धि की, और इन्हीं सारी उपलब्धि को ही ऋषियों ने वेद के माध्यम से प्रकाशित किया। इसीलिए भारतीय मनीषा इन तथ्यों को स्वीकार करती है कि सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान का मूल वेद ही है। यथोक्तम्– **सर्वज्ञानमयो हि सः।।** (मनुस्मृति 2,7) **सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।** (मनुस्मृति 12,97) इति।

जिन विद्याओं का वैदिक पृष्ठभूमि पर विकास हुआ, वे विद्याएँ मानव ही नहीं, अपितु सृष्टि के प्रत्येक जीव के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुई। भारत में विकसित सभी की आधारशिला वेद ही है, भारतीय परिप्रेक्ष्य में समस्त विज्ञान और कलाएँ अध्यात्म में अनुस्यूत होकर ही विकसित हुई। ऐसा विज्ञान या ऐसी कला जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकसित हुई,

उनको जानने वाले वैज्ञानिकों की संज्ञा ऋषि थी, जो अध्यात्म, धर्म, प्रकृति, ईश्वर आदितत्त्वों के विरोधी नहीं अपितु पोषक थे। आधुनिक विज्ञान प्रकृति को मृत मानते हुए प्रायः प्रत्येक आविष्कार के द्वारा प्राकृतिक सम्पदाओं को हानि पहुँचा रहा है, जबकि भारतीय प्राच्य विज्ञानों के विकास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यही था कि उनके द्वारा आविष्कृत कोई भी पदार्थ प्रकृति के छोटे से छोटे तत्त्व को भी किसी प्रकार से हानि न पहुँचाएँ। वेद के विविध मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि प्रकृति के साथ एक सम्बन्ध स्थापित करता था। वह पृथ्वी को माँ और स्वयं को उसका पुत्र मानकर पृथ्वी के साथ वैसा ही आचरण करता था जैसा एक पुत्र अपनी माँ के साथ करता है। यथोक्तम्– **"माता पृथ्वी पुत्रोऽहं पृथिव्याः"** (अथर्ववेद 12.1.12) द्युलोक को वह पिता मानता है, वृक्षों को, नदियों को, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि समस्त प्राकृतिक तत्त्वों को वह देवता मानता है। उनके प्रति आस्था और श्रद्धाभाव रखता हुआ उनका त्यागपूर्वक भोग करता था। वैदिक ऋषि इस सम्पूर्ण सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व में ईश्वर की उपस्थिति को अनुभव करता हुआ कहता है– **"ईशावास्यमिदं सर्वम्"** (ईशोपनिषद् 1)

ऐसी दृष्टि रखने वाले ऋषि ने कला और कलाविदों के प्रति सम्मान के भाव का उपस्थापन विविध वैदिक मन्त्रों में किया है। वेद में विविध कलाओं की चर्चा प्राप्त होती है और उन कलाओं को जानने वाले शिल्पी को महान् कहा गया है। ऋग्वेद में चमस अर्थात् सोमपात्र (4/35/03), त्रिचक्र रथ (4/36/01) एवं बृहतमान अर्थात् भव्य भवन के निर्माता (4/36/02, 4/36/06, 4/33/01) ऋभु का उल्लेख प्राप्त होता है। शिल्पी ऋभु चमस बनाते समय न तो एक साधारण बढ़ई बन जाता है और न रथ बनाते समय एक कुशल तकनीकविद् और न भव्य भवन बनाते समय एक महान् वास्तुकार, इन तीनों सौन्दर्यमयी रचनाओं के सृजन के समय वह समान रूप से एक महान् शिल्पी ही रहता है। चमस का निर्माण उसके लिए हेय नहीं है और भवन निर्माण उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। ऋभुओं के चमस को देखकर ही देवताओं ने उस शिल्पी को भी देवगणों में सम्मिलित कर उनको ऋभुदेवगणों की संज्ञा दी। इस तथ्य का अभिप्राय यही है कि ऋषि की दृष्टि में सभी कलाएँ समान हैं। उसकी दृष्टि में कोई विभेद नहीं है कि जो चमस बनायेगा वह

रथ नहीं बनायेगा और जो रथ बनायेगा वह भवन नहीं बनायेगा। अपितु बहु–कलाविद् होना पूर्णता और गौरव का विषय माना जाता था। वाजसनेयी संहिता में वैदिक वैज्ञानिकों की एक लम्बी तालिका प्राप्त होती है, जिसमें त्वष्टा (तक्षक) हिरण्यकार (स्वर्णकार) कर्मार (धातुकर्मी) रथकार, चर्मस्न (चर्मकार) कुलाल (कुम्भकार), तन्तुवाय (बुनकर), रजयित्री (धोबिन), इषुकृत, धन्वकृत, वाप्ता, नृतु, जरित्र, शैलूष आदि कलाकारों का विवरण प्राप्त होता है (उद्धृत– वैदिककालीन रूपकर कलाएं, पृ. 22)। इसमें ऊँच–नीच का भेद नहीं है। वाप्ता (नाई) भी समाज में उतना ही सम्मानित है जितना कि रथकार, कुशल तक्षक या कोई अन्य शिल्पी। शिल्पी की कोई जाति नहीं है। उसे आनंद (ब्रह्म) का साधक, मन, वचन और कर्म से पवित्र व्यक्ति माना गया है। वह ऋषि है, दार्शनिक है, सृजनकर्ता है। इन सब शिल्पियों का आदर्श विश्वकर्मा है। वेद में इन्द्र की प्रतिमा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इन्द्र की प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं जिनका उपयोग इन्द्रोत्सव में किया जाता था (ऋग्वेद 4/24/10)। यज्ञशाला का यूप मूर्ति–पूजन का प्रारम्भिक संकेत है। यज्ञ–वेदी का निर्माण अत्यन्त सूक्ष्मेक्षया किया जाता था। विविध प्रकार के यज्ञों के लिए विविध प्रकार की यज्ञ–वेदियों के निर्माण की परम्परा थी, जिसमें मापन का विशेष महत्त्व था। मापन का यही सिद्धान्त आगे चलकर भवन निर्माण की आधारशिला बना। वस्तुतस्तु आधुनिक भव्य मन्दिरों के मूल में वैदिक यज्ञ–वेदी ही थी। मन्दिरों के निर्माण में भी उसी प्रकार से मान का महत्त्व था, जैसे यज्ञवेदी में था। मन्दिर को तभी रम्य माना जाता था, जब उसका निर्माण वास्तुसम्मत होता था। शास्त्रमान के विरुद्ध निर्मित मन्दिर भवन सुन्दर दिखाई देने पर भी पूज्य नहीं माना जाता था। यथोक्तम्–

शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि।
शास्त्रमानविहीनं यदरम्यं तद्विपश्चिताम्॥ – शुक्रनीति 4/527

इस प्रकार से मन्दिर का निर्माण पूर्णतः अनुशासित ढंग से वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप ही किया जाता था। यही परम्परा देवप्रासादों से होती हुई राजप्रासादों में अनुकरणीय हो गई और शनैः शनैः साधारण भवनों तक पहुँची। वास्तुशास्त्रीय भारतीय दृष्टि में भवन ईंट, पत्थर रेत और सीमेंट से निर्मित केवल पार्थिव ढाँचा मात्र नहीं है, अपितु

ऋषियों ने भवन के अपार्थिव तत्त्वों का चिन्तन किया और किस प्रकार से उन अपार्थिव तत्त्वों को जागृत किया जाय और उनकी चेतनता का लाभ मानव-मात्र को प्राप्त हो सके, इस हेतु वास्तुशास्त्र के विविध आचार्यों ने अपराजित-पृच्छा, क्षीरार्णव, समराङ्गणसूत्रधार, विश्वकर्माप्रकाश, मयमतम् आदि अनेक ग्रन्थों में उन वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लेख है।

वास्तुशास्त्र की इस विस्तृत परम्परा एवं वर्तमान में इसके स्वरूप को देखते हुए आज वास्तुशास्त्र विभाग इस शास्त्र के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों पक्षों के अध्यापन में निरन्तर क्रियाशील है। इस दृष्टि से विद्वानों, शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं के निबन्धों से सुसज्जित वास्तुशास्त्रविमर्श का प्रकाशन विगत कई वर्षों से विभाग द्वारा अनवरत किया जा रहा है।

इस वास्तुशास्त्र विमर्श के दशम पुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम संस्कृत व संस्कृति के संरक्षक परमश्रद्धेय यशस्वी कुलपति महोदय प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी को सादर अभिनन्दन पूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके सन्मार्गनिर्देशन एवं संरक्षकत्व में वास्तुशास्त्र विभाग का यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित है। इस अवसर पर मैं पूर्व कुलपति स्व. प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी एवं पूर्व ज्योतिष विभागाध्यक्ष स्व.प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी को श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ, जिनके शुभाशीर्वाद से वास्तुशास्त्रविभाग पल्लवित एवं पुष्पित हो रहा है। इसी सन्दर्भ में शोध एवं प्रकाशन समिति के सदस्यों (डॉ. रश्मि चतुर्वेदी, डॉ. अशोक थपलियाल, डॉ. देशबन्धु, डॉ. प्रवेश व्यास) तथा अन्य त्रिभागीय समस्त विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सत्परामर्श एवं सहयोग से वास्तुशास्त्रविमर्श का यह पुष्प प्रकाशित हो सका। मुद्रणकार्य हेतु अमर प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृज्जनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। शमिति

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष - वास्तुशास्त्र विभाग

शोध एवं प्रकाशन समिति

1.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
2.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य
3.	डॉ. अशोक थपलियाल	सदस्य
4.	डॉ. देशबन्धु	सदस्य
5.	डॉ. प्रवेश व्यास	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

वेदेषु वर्णितानां वास्तुविज्ञानसिद्धान्तानां विमर्शः

विद्यावाचस्पतिः डॉ.सुन्दरनारायणझाः

वस्तुतो वेद इति शब्दश्रवणादृग्यजुस्सामाथर्वसंज्ञकानां शब्दराशिभूतानां चतसृणामपि संहितानां बोधो भवति। यद्यप्यापस्तम्बादिभिर्वैदिकैराचार्यैर्वेदानां द्विविधं स्वरूपं स्वीक्रियते **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**[1] इति। तत्र मन्त्रब्राह्मणयोर्लक्षणं प्रस्तूयता महर्षिणा जैमिनिना द्वादशलक्षण्यां पूर्वमीमांसायामुक्तं- **तत्र प्रयोगकालीनार्थस्मरणहेतुतया मन्त्राणामुपयोग इति वक्ष्यते। विधायकं वाक्यं ब्राह्मणम्**[2] इति। **ब्रह्म वै मन्त्रः**[3] इति ब्राह्मणोक्तवचनाद्ब्रह्मवेदयोरैक्यं सिद्ध्यति। अत्र ब्रह्मपदं कर्मबोधकं सद्यज्ञस्यैवोद्बोधकमिति ज्ञायते। तस्माद्यज्ञादीनां साङ्गोपाङ्गानि विधिविधानानि यत्रोक्तानि तानि ब्राह्मणानीति। ब्रह्मपदव्याख्यानावसरे प्राचीनैर्ऋषिभिरेवमुक्तम्-

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्मपरञ्च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।।[4]

शब्दब्रह्मरूपेणात्र शब्दराशिभूताः मन्त्रब्राह्मणात्मकाः वेदा उक्ताः। परब्रह्मपदेन च सर्वजगत्कारणभूत अनादिनिधनाव्यक्तागोचरानन्तादिपदैर्व्यवह्रियमाणः परमात्मा बुध्यते। तत्रेदमुच्यते यच्छब्दब्रह्मरूपाः वेदाः परब्रह्मणो मूलस्वरूपमुपवर्णयन्ति। तेनेदं सिद्धं यद्वेदेषु ये मन्त्राः पठितास्सन्ति तेषां तात्त्विकार्थज्ञानद्वारा शब्दब्रह्मणि निष्णातताम‌वाप्तुं शक्यते। ये जनाः शब्दब्रह्मणि निष्णाताः भवन्ति ते परब्रह्माणमधिगच्छन्तुं समर्थाः भवन्तीति।

तत्रापि च मन्त्रब्राह्मणात्मकेषु वेदेषु यस्य यज्ञस्वरूपस्य परमात्मनो वर्णनमस्ति सः परमात्मा मन-प्राण-वाक्-आनन्द-विज्ञानमयोऽस्तीत्युक्तम् उपनिषदादिषु। तद्यथा- **स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदं मयोऽदोमय इति।।**[5]

अनेनेदं सिद्ध्यति यद्वेदेषु सर्वविधं ज्ञानविज्ञानं सुविस्तृतेन व्याख्यातमस्ति। तस्मान्मनूक्तवचनमिदं

---

1. आपस्तम्बश्रौतसूत्रे-24/1/31
2. मीमांसा परि.- पृष्ठ-4 (वेदद्वैविध्यम् इति प्रकरणे)
3. शतपथब्राह्मणे-7/1/1/5
4. अमृतबिन्दूपनिषदि-17 ; मैत्रायण्याम्-6/12
5. बृहदारण्यकोपनिषदि-4/4/5

सर्वज्ञानमयो हि सः[6] इति साधुरेव। तत्र ज्ञानमिति कथनेनाध्यात्मविद्याया: बोधो भवति। यतस्त्वनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणं ज्ञानं ब्रह्मविद्येत्युच्यते। तथैकस्मादनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्येति। तस्मादुक्तं श्रुतौ- **विज्ञानं यज्ञं तनुते**[7] इति। अनेनेदं स्फुटं भवति यद्ब्रह्मविद्यातिरिक्ता: सर्वा अपि विद्या अनेकत्वप्राधान्याद्यज्ञविद्यायामर्थाद्विज्ञान एवान्तर्भवन्ति। विज्ञानस्य कर्माणि प्रयोगशालायामर्थात् प्रायोगिकस्थले सम्पाद्यन्ते, यज्ञार्थमपि यज्ञशालात्वेन प्रसिद्धैका प्रयोगशाला भवत्यपेक्षिता तस्माद्यज्ञविद्या विज्ञानमित्युच्यते। आभ्यामेव ज्ञानविज्ञानाभ्यां मानवजीवनस्य कृतकृत्यता सम्पद्यते। इदमेव ज्ञानविज्ञानयुगलं मुख्यो धर्म:। तत्र ज्ञानं नि:श्रेयसजनकम्, विज्ञानन्त्वभ्युदयहेतु:। तदुक्तं परमवैज्ञानिकेन भगवता कणादेन- **यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धिस्स धर्म:**[8] इति।

उपर्युक्तैर्विवेचनैरिदं स्फुटं यद्वेदेषु सर्वविधज्ञानविज्ञानस्य पर्याप्तसामग्र्यो विद्यन्ते। अस्माकं पूर्वजै: कृष्णाजिनेषूपविष्टैस्सत्यानुसन्धानतत्परैर्ऋषिभिर्यत्किञ्चिदवलोकितं तत्सर्वमप्याधुनिकैर्नवीनै: ऋषिभिरनुसन्धितमिति। रहस्यस्यास्योद्घाटनमृग्वेदस्यैकेन मन्त्रेण भवति यथा-

अग्नि: पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ।।[9] **इति।**

अत्र पूर्वेभि: ऋषिभिरिति कथनेन पुरातनैर्वसिष्ठात्रिकश्यपादिभिर्मन्त्रद्रष्टृभिरिति बुध्यते। नूतनैरिति पदेन चान्यै: श्रुतर्षिभिरिति, तैश्च पुरातनैर्नूतनैश्च ऋषिभिस्सोऽग्निरीड्य इति स्फुटं भवति। सम्प्रत्यनुसन्धानशब्दोच्चारणेन तदेवार्थमवगम्यते। यथा- अन्विति पदमानन्तर्यस्य बोधकम्। सन्धानमितीक्षणम्। उभयमपि मिलित्वाऽनुसन्धानमिति सिद्ध्यति। अस्यानुसन्धानपदस्यानेके पर्याया: विद्यन्ते- अन्वेषणम्, गवेषणम्, अन्वीक्षणम्, शोधकार्यमित्यादय:। अत्र प्रश्नोत्पद्यते यदनुसन्धानं कस्य भवति? तत्रेदमुच्यते यद्यस्य वस्तुन: पूर्वं सन्धानं कृतं स्यात्तस्यैवेदानीं पुनरवलोकनायानुसन्धानं क्रियते। शब्दोऽयं वैज्ञानिकभाषायां प्रयुक्त:। तस्माद्वेदेषु वैज्ञानिकविषयाणां विवेचनमस्तीति कथने न कस्यापि विप्रतिपत्तिरिति।

विज्ञानमिति पदस्यार्थो भवति विशिष्टं ज्ञानम्। तत्रामरसिंहेनोक्तं- **मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयो:**[10] इति। भगवता श्रीकृष्णेनाप्युक्तम्- **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत:**[11] इति। अर्थाच्छिल्पशास्त्रादिषु यदाविष्कारात्मकं ज्ञानं व्याख्यातं तद्विज्ञानपदबोध्यमिति। यज्ञादिकं

---

6. मनुस्मृतौ-2/7
7. तैत्तिरीयारण्यके-8/5/1 ; तैत्तिरीयोपनिषदि-2/5/1
8. वैशेषिकसूत्रे-1/2
9. ऋग्वेदे-1/1/
10. अमरकोषे-धीवर्गे-6 तमे श्लोके
11 श्रीमद्भगवद्गीतायां-7/2
12. गोपथब्राह्मणे-2/6/7

शिल्पशास्त्रान्तर्गतमेव स्वीक्रियते, यतस्तत्र वेद्यादिसाधनं शिल्पानुमतमेव भवति। याज्ञिकप्रक्रिया चापि पूर्णतो वैज्ञानिकी भवति, तत्र यजमानस्यासद्वृत्तेर्विनाशः सद्वृत्तेरुदयश्च क्रियते, तेन स स्वर्गमाप्नोति। एतस्मादेव कारणात्- **आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि आत्मानमेवास्य तत्संस्कुर्वन्ति**[12] तथा च- **आत्मा वै यज्ञः**[13] इत्युक्तं श्रुतिषु। आत्मसंस्काररूपं कर्म नावैज्ञानिकं भवितुमर्हति। यत आत्मनो विज्ञानरूपत्वं स्वयं सिद्धमेव। तस्य विज्ञानरूपस्यात्मनः संस्कारो विज्ञानं विना कथं शक्यः? अतो यज्ञस्य वैज्ञानिकत्वमुक्तं पूर्वम्। आधुनिकविज्ञानानुसारं येषां वैज्ञानिकविषयाणामध्ययनमुद्घुष्टं तत्सर्वमत्र वेदे विस्तृतेन व्याख्यातमस्ति। यथा- भौतिकविज्ञानम्, रसायनविज्ञानम्, वनस्पतिविज्ञानम्, जन्तुविज्ञानम्, प्रौद्योगिकीविज्ञानम्, कृषिविज्ञानम्, गणितविज्ञानम्, ज्योतिर्विज्ञानम्, वृष्टिविज्ञानम्, पर्यावरणविज्ञानम्, अन्तरिक्षविज्ञानम्, भूगर्भविज्ञानम्, आयुर्विज्ञानम्, सूर्यविज्ञानम्, अग्निविज्ञानम्, खगोलविज्ञानम्, पिण्डविज्ञानम्, ब्रह्माण्डविज्ञानम्, वास्तुविज्ञानम् इत्यादीनि सर्वाण्यपि विज्ञानानि वैदिकयज्ञविज्ञानान्तर्गतानि सन्ति।

वेदेषु उपर्युक्तैराधुनिकविज्ञानविषयैश्चाप्यधिकविषयाणां वर्णनान्युपलभ्यन्ते तानि च विज्ञानान्यस्माभिर्विस्मृतानि सम्भाव्यते यत्कालान्तरेषु तान्यस्माकं साक्षात्कृतानि स्युः, परमधुना दार्ढ्येन वक्तुमशक्यानि। तदेतस्यां परिस्थिताविह प्रकृतविषयमनुसृत्य वास्तुविज्ञानदृशा तावत्किञ्चिद्विचार्यते।

वास्तुशब्दस्य निर्वचनं प्रस्तूयता निर्वचनशास्त्रप्रवक्त्रा वैज्ञानिकान्वेषणशीलवता भगवता यास्काचार्येणोक्तम्- **वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः**[14] इति। पाणिनीयव्याकरणस्य **वस्-निवासे**[15] इत्यस्माद्धातोः **वसेस्तुन् वसेर्णिच्च**[16] इत्यनयोः सूत्रयोः **वस्**धातौ तुन्-प्रत्यये कृते सति **वस्तु**शब्दो निष्पद्यते। **वस्**-धातौ णित् प्रत्यये कृते सति णित्वादुपधावृद्धिस्तेन **वास**शब्दो निष्पन्नो भवति। वासशब्दे च पुनः तुन्-प्रत्यये कृते सति **'वास्तु'** शब्दो निष्पद्यते। **वस्तु**शब्दे च **णित्वात् वास्तु**रिति शब्दो निष्पद्यते। तस्य च वास्तोः पाता पालयिता वा वास्तोष्पतिरिति वैदिको देवविशेषः। वास्तुशब्दस्यार्थो भवति वासयोग्यं यत्स्थानं तद्वास्त्विति। अस्य वासयोग्यस्य स्थानस्यावश्यकता सर्वेभ्योऽपि देव-दानव-मानव-पशु-पक्षि-कृमि-कीट-पतङ्ग-पिपीलिका-लता-गुल्म-वृक्ष-वनस्पत्यन्नौषध्यादिभ्यो वर्तत एव। यतस्तु यत्र यो वसति तदेव तस्य वास्तुः।

वस्तुतः सर्वेऽपि देवाः प्राणिनश्च कस्मिंश्चिदपि स्थानविशेषे निवसन्ति। यथा वैकुण्ठे विष्णुः, कैलाशे शिवः, स्वर्गे इन्द्रादयो देवाः, पाताले दानवाः, पृथिव्यां गृह-भवन-प्रासाद-आलय-निलय-पुर-वेश्मादिषु च मानवाः, मानवनिर्मितगोष्ठादिषु गवाश्वादयो ग्राम्यपशवः, समुद्रनदीतड़ागादिषु जलचरजीवाः, वृक्षकोटरेषु नीडेषु वा खगाः, गुहासु गहनवनेषु च सिंहव्याघ्रादयो वनचरा वन्यप्राणिनः, बिलेषु मूषकमण्डूकसर्पपिपीलिकादयो जीवाः, धरणीमाश्रित्य वृक्षवनस्पत्यन्नौषध्यादयो निवसन्ति।

वेदेषु वैदिकवाङ्मयेषु च क्वचिदपि कस्यचिदेकस्यैव जातेः व्यक्तेश्च कल्याणार्थं न

13. शतपथब्राह्मणे-6/2/1/7
14. निरुक्ते-10/2/16
15. भ्वादिगणे- परस्मैपदी, सिद्धान्तकौमुद्याम्

किमप्युक्तमपितु समस्तसंसारस्य समस्तप्राणिनाञ्च कल्याणाय बहुत्रोक्तमस्ति। यथा- **योगक्षेमो नः कल्पताम्**[17] अत्र नः बहुवचनात्मकः शब्दः, यस्यार्थो भवत्यस्माकमिति। एवमेवान्यत्रापि **शं नो देवीः**[18] **स नो वसून्याभर**[19], **शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे**[20], **वयं स्याम पतयो रयीणाम्**[21], इत्यादिषु स्थलेष्वपि बहुवचनस्यैव प्रयोगो वर्तते। तेनेदं स्पष्टं यद्वास्तु- प्रयोजनमपि सर्वेभ्य एव प्राणिभ्यो वर्णितम्, तथाप्यधुना सर्वप्राणिषु मानवस्योत्कृष्टत्वं सर्वविधज्ञानविज्ञानशीलत्वं, सुखसमृद्ध्यर्थं सततपरिश्रमशीलत्वमवलोक्य च तेभ्य एव विशेषरूपेण वास्तुप्रयोजनं शास्त्रेषु निर्दिष्टम्। यतः सुखर्द्धि-सन्तति-धनानि च सर्वदा सर्वेषां नृणां प्रियाणि भवन्ति। तैत्तिरीयसंहितायामुक्तं यत्- **बहिः प्राणो वै मनुष्य**[22] इति। अर्थान्मानवाः बाह्यसुखमवलोक्य तत्प्राप्तुं सततं यत्नशीलाः भवन्ति। बाह्यसुखेषु भोजनं वस्त्रमावासश्च मुख्यरूपेण मनुष्येभ्यः कल्पिताः। मनुष्याणां कृते यावन्त्योऽप्यावश्यकताः सन्ति निर्दिष्टास्तास्वावश्यकतासु एतास्तिस्रो मुख्याः। आसु तिसृष्वावश्यकतास्वपि आद्ये द्वे आवश्यकते भोजनवस्त्ररूपे तदैव सम्पूर्णे भवतः यदाऽन्तिमा आवासजन्याऽऽवश्यकता पूर्णा भवति। यत आवासस्थानं विना भोज्यवस्तूनां परिधानानाञ्च रक्षणमसम्भवम्। तस्मात्तयोरभिवृद्ध्यर्थमन्तिमाऽऽवश्यकता खल्वावासरूपाऽत्यन्तमहत्त्वपूर्णाऽस्ति। अत एव श्रौताचार्यास्तेषामनुयायिनोऽन्येप्याचार्याः सर्वास्वावश्यकतासु देश-पुर-निवास-वेश्मादीन् श्रेयस्करत्वेन स्वीकृतवन्तः, तदनुसृत्यैवात्र किञ्चिद्विचार्यते।

निरुक्तशास्त्रे- **गृहनामानि द्वाविंशतिः**[23] यथा- **1.**गयः, **2.**कृदरः, **3.**गर्त्तः, **4.**हर्म्यम्, **5.** अस्तम्, **6.**पस्त्यम्, **7.**दुरोणे, **8.**नीळम्, **9.**दुर्याः, **10.**स्वसराणि, **11.**अमा, **12.**दमे, **13.**कृत्तिः, **14.** योनिः, **15.**सद्म, **16.**शरणम्, **17.**वरूथम्, **18.**छर्दिः, **19.**छदिः, **20.**छाया, **21.**शर्म, **22.**अज्मेति द्वाविंशतिर्गृहनामानि निघण्टौ पठितानि। अन्यत्र च सदनम्, गृहम्, शालेत्यादयोऽप्यनेके शब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति। एतेषां शब्दानां विस्तृतं विवेचनम्मया विद्यापीठीयवास्तुशास्त्रविभागेन प्रकाशितायां 2015 तमाब्दीयायां **वास्तुशास्त्रविमर्शाख्य**पत्रिकायां कृतं तस्मादत्र पिष्टपेषणमकृत्वैव वास्तुविज्ञानसिद्धान्त-विमर्शम्प्रत्यग्रेसरामि।

वस्तुतः निवासस्थानस्य निर्माणार्थमुचितभूमेश्चयनं सर्वप्रथममावश्यकम्भवति। तत्रापि भूपरीक्षणम्, दिक्साधनम्, वर्णव्यवस्थया परिवेशविशेषेण च भूमेः परिमापनम्, इष्टकानिर्माणम्, इष्टकास्थापनम्, गृहपरिमाणम्, इष्टकाचयनम्, द्वारनिर्माणमित्यादयो विविधा विषयाश्चिन्त्यन्ते। एते सर्वेऽपि विषयाः वेदेषु वर्णितेषु यज्ञपरम्परायां साधु चर्चितास्सन्ति। तानेव विषयानादाय क्वचित्कतिचित्परिवर्तनेन वेदाङ्गभूते ज्योतिषशास्त्रावयवे वास्तुशास्त्रे पुरातनैरस्माकमृषिभिर्नूतनःसिद्धान्तः प्रदर्शितमिति। तेनेदं

16. उणादिप्रकरणे- सू.-75 तथा 657
17. शु.य.संहिता -2/22
18. ऋग्वेदसंहितायाम्- 10/9/4, साम-33, अथर्व सं.-1/6/1, शु.य.संहिता-36/12, तै.ब्रा1/2/1/1, तै.आ-4/42/4
19. ऋ.संहिता-10/191/1, शु.य.संहिता-15/30
20. ऋ.संहिता-10/165/121 शु.य.संहिता-19/44, 'अथा नो वर्धया रयिम्'-शु.य.सं.-15/56, 3/14
22. तै.संहिता- 6/1/1/4
23. निघण्टौ-3/4

स्फुटमेव प्रतिभाति यद्वेदेषु वास्तुविज्ञानसिद्धान्ताः सन्त्यनुस्यूता इति। तदन्विह वेदेषु वर्णितानां केषाञ्चन प्रमुखवास्तुविज्ञानसिद्धान्तानां विमर्शो विधीयते।

भूचयनम्- निर्माणकार्यं कर्तुं सर्वप्रथममिदं विचिन्त्यते यत्कुत्र निर्माणकार्यमुचितं भविष्यतीति। तदर्थमियं भूमिरेव प्रतिष्ठेत्युक्ता **अभूद्वाऽइयं प्रतिष्ठेति। तद् भूमिरभवत्**[24] इति श्रौतवचनात्। यतो ह्यत्रैव गृहनिर्माणं क्रियते। तदेव गृहं प्रतिष्ठावाचकमिति। यथा- **गृहा वै दुर्याः**[25] **गृहा वै प्रतिष्ठा**[26] **गृहा गार्हपत्यः**[27] **प्रतिष्ठा गार्हपत्यः**[28] एभिः श्रौतवचनैरिदं स्पष्टं भवति। सेयं भूमिः कीदृशी स्याद्यत्र यज्ञायोपयुक्तं गृहनिर्माणं कर्तुं शक्येत? इत्यस्मिन् विषये प्राह महर्षिकात्यायनेन स्वकीये शुल्बसूत्रे-

संख्याज्ञः परिमाणज्ञः समसूत्रनिरञ्छकः।
समभूमौ भवेद्विद्वान् शुल्बवित् परिपृच्छकः॥[29]

समे भूमौ शुल्बशास्त्रस्य ज्ञाता निर्माणकार्यं कुर्यादिति। समत्वज्ञानाय चापि कात्यायनो वदति-

न जलात्सममन्यत् स्यान्नान्यद्वृत्तात्प्रमा भवेत्।
नान्यद्दूरं भ्रमादूर्ध्वं नान्यत्सूत्रादृजुर्भवेत्॥[30]

एवमुक्तप्रकारेण भूमेस्समत्वं विज्ञाय निर्माणकार्यं करणीयमित्यस्माकमृषीणामभिप्रायो वर्तते। एवमेव विधिना वास्तुशास्त्रविद्भिरपि समे भूमौ गृहनिर्माणादिकं समुपदिष्टमिति।

भूपरीक्षणम्- भूपरीक्षणायादौ सायंकाले हस्तपरिमितं चतुरस्रं गर्तं कृत्वा जलेनापूर्य प्रातःकाले तस्य गर्तस्य स्वरूपमवलोक्य वासस्थानाय योग्यायोग्यभूमिज्ञानं क्रियते सैषा विधिर्वास्तुशास्त्रविद्भिरुक्ता। वैदिकयज्ञे वेदिखननरूपं भूपरीक्षणं व्याख्यातमस्ति। तद्यथा- **अपरेणाऽऽहवनीयं वेदिं खनति त्र्यङ्गुलखाताम्**[31] **आमूलोच्छेदनादोषधीनाम्**[32] इत्यत्रेदमवधेयं यत् यस्मिन् देशे वेदिः परिमीयते तत्र रूढानामोषधीनां मूलं यावता खननेन उच्छिद्येत् तावत् खातव्यमिति। साम्प्रतमपि भूपरीक्षणायैषैव प्रक्रिया स्वीक्रियते परं तत्र भेदोऽयमस्ति यच्छ्रौते वेदिनिर्माणाय त्र्यङ्गुलं खन्यते, अत्र भूपरीक्षणविधौ हस्तपरिमितमिति। तेनास्य विधेः वेदमूलकतैव सिद्ध्यति।

---

24. श.प.ब्रा.- 6/1/1/15;3/7
25. ऐ.ब्रा.-1/13, श.प.ब्रा.-1/1/2/22, 3/3/4/30
26. श.प.ब्रा.- 1/1/1/19; 9/3/19; 2/4/1/7
27. मै.-1/5/10; काठ.-8/7; क.-7/4; जै.- 1/61
28. तै.सं.- 5/2/3/6; काठ.- 20/1; क.- 31/3; ऐ.ब्रा.-8/24
29. कात्यायनश्लोकशुल्बे- श्लोकः-3
30. कात्यायनश्लोकशुल्बे- श्लोकः-4
31. कात्यायनश्रौतसूत्रे- 2/6/1
32. कात्यायनश्रौतसूत्रे- 2/6/2

दिक्साधनम्- दिक्साधनविधिं ब्रुवता भगवता कात्यायनेनोक्तं यत्- **समे शङ्कुं निखाय, शङ्कुसम्मितया रज्ज्वा मण्डलं परिलिख्य, यत्र लेखयोः शङ्क्वग्रच्छाया निपतति तत्र शङ्कुं निहन्ति सा प्राची।**[33] समतले भूमौ शङ्कुमेकं संस्थाप्य शङ्कुसम्मितया रज्ज्वैकं मण्डलं परितो विलिख्य प्रातः काले यत्र रेखायां शङ्क्वग्रच्छाया पतति सा प्रतीची सायंकाले च रेखायां यत्र छाया निपतति सा प्राची दिग्भवति। एवं पूर्वपश्चिमयोस्साधनं कृत्वा उदीच्यवाच्योस्साधनं विधीयते। तदर्थं सूत्रमिममवलोक्यताम्- **तदन्तरथं रज्ज्वाऽभ्यस्य, पाशौ कृत्वा, शङ्कोः पाशौ प्रतिमुच्य, दक्षिणाऽऽयम्य, मध्ये शङ्कुं निहन्त्येवमुत्तरतः सोदीची।**[34] शङ्कुंसम्मितां रज्जुं द्विगुणीकृत्य तदुभयतः पाशौ कृत्वा पूर्वपश्चिमयोः शङ्क्वोः पाशौ कृत्वा मध्यमं पाशं दक्षिणस्यामाकृष्य तत्र शङ्कुं निहन्ति सा दक्षिणा दिक्, एवमेव विपर्यस्योत्तरस्यामाकृष्य शङ्कुं निहन्ति सोदीची दिग्भवति। एवमेव किञ्चित्परिवर्तनेन वास्तुशास्त्रेऽपि दिक्साधनविधिरुक्तः।

भूपरिमापनम्- वेदप्रतिपादितेषु यज्ञेषु यागविहारनिर्माणाय मण्डपशालेत्यादीनां निर्माणायाध्वर्युना परिमापनं क्रियते। तदुक्तमपि- **यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः**[35] इति। भगवता कात्यायनेन वेदिमापनविधिं वर्णयता प्रोक्तं यत्- **औपवसथ्यात्पूर्वेऽहनि पौर्वाह्णिक्या प्रचर्य वेदिं मिमीते**[36] इति। अर्थादध्वर्युः उपवसथदिनस्य पूर्वाह्णकृत्यं सम्पाद्य वेदिमापनं करोत्यध्वर्युः। **पूर्वार्द्ध्यात्स्तम्भात्पुरस्तात् त्रिषु प्रक्रमेषु शङ्कुं निहन्ति सोऽन्तःपात्यः। तस्मात्पुरस्तात्षट्त्रिंशति। दक्षिणोत्तरौ च पञ्चदशसु पञ्चदशसु। अर्द्धसप्तदशेषु वा। पूर्वार्द्ध्याच्च द्वादशसु द्वादशसु।**[37] एवमुक्तविधानेनात्र सोमयागस्य वेदिमापनमुक्तम्। प्रतियज्ञवेदिमापनविधानं भिन्नं भिन्नमुक्तमस्ति। तदुक्तं कात्यायनशुल्बे-**आधाने पदिकं कुर्यात् द्विपदः सौमिको भवेत्। अग्नौ तु त्रिपदं कुर्यात् प्रक्रमं याज्ञिको बुधः।।**[38] प्रक्रमेण मापनं क्रियते, तदग्न्याधानकाले पादमात्रः, सोमयागीयवेदिमापने पदद्वयस्य, चयनयागीयवेदिमापने च पदत्रयस्य प्रक्रमः स्वीक्रियते। एवमेव वास्तुशास्त्रेऽपि ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण गृहनिर्माणार्थं भूपरिमापनं भिन्नं भिन्नमुक्तमस्ति।

इष्टकानिर्माणम्- इष्टिकाकरणविधिः देवयाज्ञिकेनाह- **यजमानेनोर्ध्वबाहुना प्रपदोत्थितेन वा समं वंशं मित्वा पुरुषप्रमाणस्य त्रिंशांशं द्वात्रिंशांशं वाऽतिरिक्तं वंशच्छेदनेन तावत्प्रमाणं कुर्यात्। ततस्तस्य वंशस्य समा दश विभागाः शलाकादिभिर्वा मित्वा कार्याः। दशस्वपि भागेषु वंशे क्षुरिकादिना वंशस्य त्वचं छित्वा चिह्नानि कार्याणि। तस्य वंशस्य दशमेन भागेन पदं भवति। पदस्य द्वादशो भागोऽङ्गुलम्। एवं विधैरङ्गुलैर्द्वादशाङ्गुलं समचतुरस्रं पद्यानां प्रमाणं सारदारुकाष्ठैः कारयितव्यम्। षडङ्गुलं समचतुरस्रं पादभागानां प्रमाणं द्वितीयम्। षडङ्गुलदीर्घ**

---

33. का.शु.सू. दिक्साधनप्रकरणे सू. 2
34. का.शु.सू. दिक्साधनप्रकरणे सू. 3
35. ऋ.सं.-10/71/11
36. का.श्रौ.सू.- 8/3/6
37. का.श्रौ.सू.- 8/3/7-11
38. का.शुल्बसूत्रे- श्लोक-34

त्र्यङ्गुलविस्तारमर्द्धपादभागानां प्रमाणम्। त्र्यङ्गुलं समचतुरस्रं चतुर्भागानाम्। अष्टादशाङ्गुलदीर्घं द्वादशाङ्गुलविपुलमद्ध्यर्द्धानां प्रमाणम्। अष्टादशाङ्गुलं समचतुरस्रं जङ्घामात्रीणां प्रमाणम्। चतुर्विंशत्यङ्गुलं समचतुरस्रं बृहतीनां प्रमाणम्। चतुर्विंशत्यङ्गुलदीर्घ- मष्टादशाङ्गुलविपुलं त्रिग्राहिणीनां प्रमाणम्। द्वादशाङ्गुलदीर्घं षडङ्गुलविस्तारमर्द्धपद्यानां प्रमाणम्। चतुर्विंशत्यङ्गुलदीर्घं द्वादशाङ्गुलविस्तारमर्द्धबृहतीनां प्रमाणम्। वक्राणां कृते चतुर्विंशत्यङ्गुलं समचतुरस्रं साधयित्वा तस्योत्तरांशे शङ्कुं निखायार्द्धव्यामप्रमाणां रज्जुमुभयतः पाशां कृत्वोत्तरां सशङ्कौ एकं पाशं प्रतिमुच्य दक्षिणांसस्योपरि लम्बायमानां तां रज्जुं दक्षिणत आकृष्यार्द्धव्यामप्रमाणां रेखां कृत्वा पाशप्रोतशङ्कुना प्रदक्षिणं तावद्वृत्तं लिखेत् यावत्सार्द्धव्यामपरिमिता रज्जुस्तस्य चतुरस्रस्य दक्षिणश्रोणेरुपर्यायाति। ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्य रज्जुप्रान्तं यावद्रेखां कुर्यात्। ततश्चतुरस्रस्य पश्चिमोत्तरपूर्वपार्श्वानि मार्जयेत्। अवशिष्टं क्षेत्रं वक्राणां प्रमाणम्। एतादृशं क्षेत्रं विलोक्य वक्रदारुघटनेन वक्राप्रमाणं निष्पादनीयम्। सर्वेषां प्रमाणानां चतुरङ्गुलं वा षडङ्गुलं वा मत्या बोच्छ्रायप्रमाणं भवति। अर्द्धेनार्द्धोत्सेधानां पद्यार्द्धपद्यानामुत्सेधो भवति। षडङ्गुलपक्षे त्र्यङ्गुलं चतुरङ्गुलपक्षे च द्व्यङ्गुलम्। तत्प्रमाणद्वयं पद्यानामर्द्धपद्यानां च पृथक् करणीयम्। एवं त्रयोदशप्रमाणानि समानि श्लक्ष्णानि च कारयित्वा तैरिष्टकाः समभूमौ निष्पादनीयाः।[39]

वास्तुशास्त्रे इष्टकाप्रमाणम्- वास्तुशास्त्रे ब्राह्मणाय एकविंशत्यङ्गुललम्बप्रमाणा, 10 ½ अङ्गुल- विस्तृताः, 5 ¼ अङ्गुलस्थूला चेष्टकाः विहितास्सन्ति। एवमेव क्षत्रियाय सप्तदशाङ्गुललम्बमाना, 8 ½ अङ्गुलविस्तृता 4 ¼ अङ्गुलस्थूला च इष्टकाः। तथा च वैश्याय 13 अङ्गुललम्बमाना, 6 ¼ अङ्गुलविस्तृताः, 3 ¼ अङ्गुलस्थूला इष्टकाः। शूद्राय च 9 अङ्गुललम्बप्रमाणा, 4 ½ अङ्गुलविस्तृताः, 2 ¼, इष्टकाः शुभफलप्रदायिकाः भवन्ति।

एतस्मान्न्यूनाधिकप्रमाणा इष्टका नैव निर्मातव्याः यतो हि उपर्युक्तप्रमाणादितरा इष्टकाः शुभप्रदा न भवन्ति। उक्तप्रमाणान्न्यूनाः प्रमाणाधिकाश्चेष्टकाः पुत्रं नाशयन्ति, छिन्नभिन्नाः व्ययं वर्धयन्ति, तथा च भ्रष्टविवर्णदेहा धनसम्बन्धिदुःखं प्रयच्छन्ति। प्रस्तरभवने शिल्पिजनानाम् इच्छानुसारम् इष्टकानिर्माणं करणीयम्। तद्यथा-

शिलाप्रमाणं क्रमशः प्रदिष्टं वर्णानुपूर्व्येण तथाङ्गुलानाम्।
अथैकविंशद् घनविश्वनन्दा विस्तारके व्यासमितं तदर्धम्॥
तदर्धमानं त्वथ पिण्डिका स्यादूर्ध्वाधिका न्यूनतरा न कार्या।
प्रमाणहीना सुतनाशकारिणी, व्यङ्गा व्ययं, भ्रष्टविवर्णदेहा॥
धनार्तिदा विस्तरगेहमाने कार्या शिला शिल्पिजनाऽनुकूला॥[40]

---

39. दे.या.प.पृ.सं. 517-518
40 विश्वकर्मप्रकाशः 4/50-51

एकविंशद्द्विजाग्र्याणां क्षत्राणां दशसप्त च।
त्रयोदश तु वैश्यानां शूद्राणां तु नवाङ्गुलम्।।[41]

प्रासादे तु हस्तयामाः कार्याः- राजभवनं देवमन्दिरं वा निर्मातुं विधिपूर्वकं शोभनाश्चतुरस्राः समाः हस्तप्रमाणलम्बाकाराः, हस्तसम्मिताः विस्तृताश्चेष्टकाः निर्मातव्याः। तदुक्तं वास्तुरत्नाकरे-

प्रासादादौ विधानेन कर्त्तव्याः सुमनोहराः।
चतुरस्राः समाः कृत्वा समन्ताद्धस्तसम्मिताः।।[42]

विशेषः- षोडशाङ्गुललम्बाकाराः, दशाङ्गुलविस्तृताः, इष्टका उत्तमाः भवन्ति। तथा च पञ्चदशाङ्गुललम्बाकाराः नवाङ्गुलविस्तृताश्च मध्यमाः (न तूत्तमाः, न निकृष्टाः) भवन्ति। चतुर्दशाङ्गुललम्बाकाराः, अष्टाङ्गुलविस्तृता इष्टकाः निकृष्टाः भवन्ति। एतासामिष्टकानां विस्तृतानाञ्च तृतीयांशसमाः स्थूलाकारा इष्टका निर्मातव्याः । तद्यथा-

दैर्घ्ये चन्द्रकलाङ्गुलोत्तमशिला मध्यङ्गुलो नान्तिमा।
व्यासो दिङ्नवभूभृदुच्छ्रितिरपि त्र्यंशेन विस्तारतः।।[43]

अन्यच्च- पञ्चदशाङ्गुललम्बाकारा इष्टका विजया, सप्तदशाङ्गुललम्बाकारा इष्टका मङ्गला, द्वादशाङ्गुललम्बाकारा इष्टका निर्मला, त्रयोदशाङ्गुललम्बमानेष्टका सुखदा चेति कथ्यते। तद्यथा-

तिथ्यङ्गुलानि विजया मङ्गला सप्तचन्द्रकैः।
पक्षेन्दुभिर्निर्मला स्यात्सुखदा रामपक्षकैः।
प्रमाणमिष्टकायाश्च गर्गाद्यैर्मुनिभिः स्मृतम्।।[44]

उपसंहर्तुमुद्यतसन्नहमेवं ब्रवीमि यद्वास्तुशास्त्रे गृहनिर्माणाय ये विधयः प्रोक्तास्सन्ति ते सर्वे वेदोक्तप्रमाणान्याश्रित्यैव विहितास्सन्ति। भूचयनादारभ्येष्टकाचयनं यावत्सर्वेऽपि विधयः वेदाधारिताण्यैव प्रयुक्तास्सन्ति। अद्यत्वे इष्टकानां निर्माणे ये विधयः समाचरिता भवन्ति तेष्विष्टकानिष्पादनकालिकविधयो मुख्यरूपेणानुक्रियन्त एव। यथा-

चयनयागे इष्टकानां निर्माणाय विविधाः प्रक्रियाः प्रोक्तास्सन्ति। तासु प्रक्रियासु आर्द्र प्रमाणम् इष्टकाप्रमाणादधिकं कर्त्तव्यमिति शास्त्रविद्भिः निर्दिष्टम्। अत्र प्रश्नः समुदेति यद् इष्टकानाम् आर्द्रप्रमाणं कति परिमाणकं भवेत्? इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरं शुल्बसूत्रकृता भगवता कात्यायनेन प्रोक्तं यत्-

---

41. वा.र. 6.1-2 टीकायाम्
42. विश्वकर्मप्रकाशः 6.17
43. वास्तुराजवल्लभे 5.12
44. वा.र. 6.5

ह्रसते शोषपाकाभ्यां द्वात्रिंशद्भागमिष्टका।
तस्मादार्द्रप्रमाणं तु कुर्यान्मानाधिकं बुधः॥[45]

अर्थात् आर्द्रप्रमाणं द्वात्रिंशद्भागादधिकं कर्त्तव्यमिति शुल्बसूत्रकारस्यादेशः। तत्रापि देवयाज्ञिकादिषु पद्धतिषु त्र्यालिखिता इष्टकाः भवेयुरिति निर्देशो लभ्यते। त्र्यालिखितासु इष्टकासु त्रिविधाः रेखाः भवन्ति। तत्र काश्चन इष्टका वक्रालिखिता ~~~, काश्चन तिरश्चालिखिताः . . . , काश्चन चेष्टकाः ऋज्वालिखिताः । । । भवन्ति।

एतासाम् इष्टकानां निर्माणाय पूर्वं सारदारुनिर्मितम् इष्टकाकरणयन्त्रम् इष्टकाप्रमाणात् द्वात्रिंशद्भागाधिकं निर्मीयते। तेन यन्त्रमाध्यमेन या इष्टका निर्मीयन्ते ताः पाकशोषाभ्यामनन्तरं समुचितप्रमाणयुताः भवन्ति।

अद्यापि लोके अनयैव प्रक्रियया इष्टकाकरणयन्त्रमाध्यमेन इष्टकाः निर्मीयन्ते। त्र्यालिखिता इति स्थाने अक्षरत्रयं लिखितं भवति इष्टकानामुपरि यथा- **भारत, महान्, आजाद** इत्यादयः शब्दाः वर्णत्रयात्मका इष्टकानिर्माणयन्त्रे व्यत्यासेन उट्टङ्किताः भवन्ति इति अस्माभिः सर्वैरपि समवलोक्यत एव। तेनेदं सिद्धमेव यद्वास्तुविज्ञानसिद्धान्ताः वेदेषु प्रौढत्वेनोपवर्णितास्सन्ति।

---

45. श्लोकशुल्ब- 30

पञ्चभूतात्मकं वास्तु

डॉ.अशोकथपलियालः

गोविन्दवल्लभः

वस्तुसम्बन्धिनं चिन्तनं मानवजीवनाय यत्र विस्तरेण परिज्ञायते तच्छास्त्रं वास्तुशास्त्रमिति। वस्तुनैव वास्तुर्निर्मीयते। प्रासादादीनि सर्वाणि वास्तूनि वस्तुत्वादेवोत्पद्यन्ते वस्त्वोपर्यवश्चाश्रितास्सन्ति, कारणेनानेन प्राचीनाचार्यैरस्मिन् वस्तु वा वास्तुर्निगदितम्[1]। वस्तु भूमिरित्यर्थः[2]। वस्तुत्वाद् वास्त्विति। ईष्टिकाकीलमृत्तिकादारवादयश्च सर्वे एव वस्तुसंज्ञयाऽभिज्ञायन्ते[3]। अमरधर्माः देवगणाः, मरणधर्माः मनुष्याः पशुपक्षिणश्च[4] यत्र-यत्र निवसन्ति तत्सर्व वास्तुसंज्ञयाऽभिज्ञायते[5]। एतेषां सर्वेषां निवासयोग्या भूमिः प्रासादः गृहं वेति सर्वमेववास्तुः[6]।

कथञ्चास्य वस्तोर्निर्माणमभवत् येन वास्तुर्विनिर्मीयते? कथं वस्तुना वास्तुरुत्पद्यते? सृष्टेश्चोत्पत्तिः कथमित्यत्र विचार्यते। सृष्टौ पञ्चमहाभूतानां महत्यावश्यकता वर्तते। पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशाश्च इमानि पञ्चमहाभूतानि। ततः पञ्चमहाभूतैः कथं सृष्टिरभवदिति जिज्ञासोत्पद्यते। अपञ्चीकृतानि परमाणुरूपाणि भूतानि नित्यानि तेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः स्थूलभूतानामुत्पत्तिर्भवत्येतान्येव वस्तुसंज्ञया अवबुध्यन्तेऽतो वस्तुनैव वास्तुरुत्पद्यते। पञ्चमहाभूतेभ्य एव सृष्ट्युत्पन्ना। भूतत्वं किमिति सर्वप्रथमं भूतलक्षणं प्रतिपाद्यते।

तत्र बहिरिन्द्रियग्राह्यसजातीयविशेषगुणत्वं भूतत्वमिति प्राचीनकृतं भूतलक्षणमुपलभ्यत इति। एतल्लक्षणस्यायमभिप्रायः यद् बहिरिन्द्रियाणि खलु श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि,

---

1. प्रासादीनि वस्तूनि वस्तुत्वात् वस्तुसंश्रयात्।
   वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन्पुरातनैः।। मयमतम,
2. द्वितीयोऽध्यायः श्लो.
3. इष्टिका च शिला दारुरयः कीलादयोप्यमी।
   वास्तुकर्मणि चान्यत्रवस्तुसञ्ज्ञमुदीरितम्।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् अध्या.7 श्लो.61
4. देवतानां नराणां च गजगोवाजिनामपि।
   निवासभूमि शिल्पज्ञैर्वास्तुसञ्ज्ञमितीर्यते।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् अध्या.7 श्लो.1
5. तैतिलाश्च नराश्चैव यस्मिन्यस्मिन् परिस्थिताः।
   तद्वस्तु सूरिभिः प्रोक्तं तथा वै वक्ष्यते अधुना।। मानसार अध्या.3 श्लो.1
6. अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि।
   तद् वास्त्विति मतम् प्रोक्तान्यस्मिन्पुरातनैः।। मयमतम् अध्या.2 श्लो.1

तेषां ग्राह्या: विशेषगुणा: यथासंख्यं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: तद्भवन्ति भूतानीति कृत्वा शब्दवदाकाशं स्पर्शवान् वायु: रूपवत्तेज: रसवज्जलं गन्धवती च पृथिवीति पञ्चभूतानि।[7]

पञ्चमहाभूतानामुत्पत्ति: सृष्ट्युत्पत्तिश्च-

परमाणुस्वरूपेभ्य: पञ्चविधभूतेभ्यो यदि पञ्चमहाभूतानि जायन्ते तदा केन क्रमेण तान्युत्पद्यन्ते? तथा सर्वेषामेव भूतानां एकैकेन्द्रियार्थाश्रयत्वेऽपि गगने एकगुण: शब्द:, वायवे द्वौ गुणौ शब्दस्पर्शौ, तेजसि त्रयो गुणा: शब्दस्पर्शरूपा:, जले चत्वार: गुणा: शब्दस्पर्शरूपरसा: तथा पृथिव्यां पञ्चगुणा: शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च केन नियमेन दृश्यन्ते? इत्यादिशंकासमाधानाय पञ्चभूतानां समुत्पत्तिक्रमोऽत्र प्रदर्श्यते-

तत्र महाप्रलये सर्वाण्येव महाभूतानि भौतिकानि च जडचेतनशरीराणि विनश्यन्ति। केवलं नित्यानि एव द्रव्याणि अवशिष्यन्ते इति सर्वैरेव अङ्गीकृतमस्त्यत: सृष्ट्यारम्भत: विद्यमानानां महाभूतानामपि विनाशान्महाप्रलये वियुक्ता: परमाणव: एव अवशिष्यन्ते, तत्र सर्गादौ पुन: सूक्ष्मभूतेभ्यो महाभूतानामुत्पत्ति: युगपदेव जायते क्रमाद्वेति लौकिकपरीक्षया निर्णेतुं न शक्यते, तदानीं परीक्षकपरीक्षासाधनादीनां अनुत्पन्नत्वादत: अत: अलौकिकपदार्थेषु प्रमाणं परमं श्रुतिरिति यथा- एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधय:। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुष:।[8]

सूक्ष्मभूतान्यपञ्चीकृतानि स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि[9]। पञ्चमहाभूतानां सृष्ट्युत्पत्तये सम्मिश्रणप्रक्रिया पञ्चीकरणमिति वेदान्तदर्शनस्य सृष्ट्युत्पत्तिविषयकप्रक्रिया अस्य समर्थनं करोति। पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुव:स्वर्महर्जनस्तपस्सत्यमित्योर्ध्वलोकानाम् अतलवितलसुतलरसातलतलातल-महातलपातालाख्यानाम् अधोलोकानां, ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां, जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेद-जाख्यानां, अन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति[10]। एतत्सर्वं पञ्चमहाभूतेभ्य उत्पद्यते।

वास्तुशास्त्रे पञ्चमहाभूतानि

ब्रह्माण्डेऽस्मिन् ग्रहनक्षत्रप्राणिवनस्पत्यादिसमस्तभौतिकरचना: पञ्चमहाभूतैर्निर्मिता:। सृष्ट्युत्पत्तये निर्माणाय विकासाय च पञ्चमहाभूतानामावश्यकता भवति। पञ्चमहाभूतं विना सृष्टिकल्पनाऽपि न भवितुं शक्यते। एतेषां पञ्चमहाभूतानां सामाञ्जस्येन मानवीयक्रियाकलापेषु गतिशीलता सुविधा चायाति।

वास्तुशास्त्रस्य प्रवर्तकानामाचार्याणामयं दृढीयान् विश्वासोऽस्ति यन्निर्मिते वास्तुनि अस्माकं सुविधा सुरक्षा च पञ्चमहाभूतानां सामञ्जस्योपर्याधारिताऽस्ति। अत एव वास्तुनिर्माणे प्रमुखतया पञ्चमहाभूतानां पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशानां मानवजीवनस्य क्रियाकलापै: सह सामञ्जस्यनियमा: परिपाल्यन्ते।

---

7. पञ्चभूतविज्ञानम् प्रथमोध्याय: पृ.सं. 8-9
8. तैत्तिरीयोपनिषद्, द्वितीयवल्ल्यां, अनुवाक: 1
9. वेदान्तसार: 15
10. वेदान्तसार: 16

इत्थं वास्तुनियमानुसारेण पञ्चमहाभूतैर्निर्मिते भवने मानवीयक्षमता शक्तिश्च स्वतः स्फूर्ता विकसिता च सञ्जायते।

पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशश्चेति पञ्चमहाभूतानि स्थूल-अणुभेदेन द्विविधानि। वैशेषिकदर्शनानुसारेणाऽपि पृथिव्यादिचतुर्महाभूतानि द्विविधानि परमाणुरूपाणि कार्यरूपाणि च परमाणुरूपे सर्वे नित्यपदार्थाः तथा कार्यरूपे भौतिकोपयोग्याः प्राकृतिकसंसाधनाः अनित्यपदार्थाः समायान्ति। परञ्च आकाशमेकरूपं विभुर्नित्यं च।[11] पञ्चमहाभूतेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणाः भवन्ति। पृथिव्यां सामान्यतया शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धेति सर्वे पञ्चगुणाः समाहिताः। अस्याः विशेषगुणः गन्धमस्ति। जले सामान्यतया चत्वारः गुणाः शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः एते समाहिताः परन्तु अस्य विशिष्टतमः गुणः रसः। तेजसि सामान्यतया त्रिगुणाः शब्द-स्पर्श-रूपा इति भवन्ति परन्तु अस्य विशेषगुणः रूपमस्ति। वायुनि सामान्यतः शब्द-स्पर्शौ द्वौ गुणौ भवतः परन्तु अस्य विशेषगुणः स्पर्शो भवति। आकाशे एकमेव शब्दगुणो भवति।

पञ्चमहाभूतानां गुणाः

पञ्चमहाभूताः	सामान्यगुणाः	विशेषगुणः
पृथ्वी	शब्दः, स्पर्शः, रूपम्, रसः, गन्धः	गन्धः
जलम्	शब्दः, स्पर्शः, रूपम्, रसः	रसः
तेजः	शब्दः, स्पर्शः, रूपम्	रूपम्
वायुः	शब्दः, स्पर्शः	स्पर्शः
आकाशम्	शब्दः	शब्दः

'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' इति सिद्धान्तानुसारेण प्राणिमात्रस्य शरीरमपि पञ्चमहाभूतैर्निर्मितमस्ति। पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाशादीनां परस्परसम्बन्धेनेदं शरीरं निर्मितम्। किन्त्वेतेषु पृथिवीतत्वस्य अस्मिन् बाहुल्यम् अस्ति। शरीरे पृथिवीतत्वतः जलस्य, जलतत्वतः तेजसः, तेजतत्वतः वायोः, वायुतत्वतः आकाशस्य च भागाः उत्तरोत्तरन्यूनाः भवन्ति। पञ्चमहाभूतानां पूर्वोक्तेन विवेचनेन स्पष्टं यत् पृथिवीतः समारभ्य आकाशपर्यन्तानां पञ्चमहाभूतानां सामान्यगुणेषु उत्तरोत्तरो ह्रासो दृश्यते। तथ्यमिदं विचार्य वास्तुशास्त्रस्याचार्यैः पञ्चमहाभूतेषु तारतम्यं संस्थाप्य अनेन प्रकारेण गुणविभागः कृतः—पञ्चमहाभूतेषु तेषां गुणानाम् आधारेण पञ्चदशकलाः भवन्ति, यत्र आकाशस्य एककला, वायोः द्वे कले, तेजसः तिस्रः कलाः, जलस्य चतस्रः कलाः, पृथिव्याः पञ्चकलाः। अनेन प्रकारेण इदं स्थूलशरीरं पञ्चतत्त्वैः विनिर्मितमस्ति। इमानि सर्वाणि तत्वानि न्यूनाधिकरूपेण समष्टिगतशरीरस्य विनिर्माणं कुर्वन्तीति।

पृथ्वीजलतेजवायुराकाशतत्वैः निर्मितेऽस्मिन् शरीरे पञ्चमहाभूतानां न्यूनाधिकतावशाद् मानवेषु

नैकविधस्वभावा: दृश्यन्ते। अस्मिन् शरीरे त्वग्-अस्थि-मांस-नख-स्नायुतन्त्र (नाडीतन्त्र)पृथ्वीतत्वात् उत्पन्ना: वर्तन्ते। मल-मूत्र-वीर्य-रक्तादिसमस्ता: द्रव्यपदार्था: जलतत्वाद् उत्पन्ना: भवन्ति। निद्रा-तंद्रा-हसन-बुभुक्षा-प्रमादादय: तेजतत्वादुत्पन्ना:। धारण-चालन-क्षेपण-संकोच- विस्तारादीनामुत्पत्ति: वायुतत्त्वादस्ति। काम-क्रोध-लोभ-मोह-लज्जादय: गुणा: आकाशादुत्पन्ना: भवन्ति। यथा ब्रह्मज्ञानतन्त्रे उद्धृतम् -

अस्थिमांसनखश्चैव नाडीत्वक् चेति पञ्चम:।
पृथ्वीपञ्चगुणा: प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥

मलमूत्रं तथा शुक्रं श्लेष्मा शोणितमेव च।
आप: पञ्चगुणा: प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥

हासो निद्रा क्षुधाश्चैव भ्रान्तिरालस्यमेव च।
तेज: पञ्चगुणा: प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥

धारणं चालनं क्षेप: संकोच: प्रसरस्तथा।
वायु: पञ्चगुणा: प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥

कामक्रोधस्तथा लोभस्तृष्णा मोहश्च पञ्चम:।
नभ: पञ्चगुणा: प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥

एवमेव वास्तुक्षेत्रेऽप्याचार्यै: पञ्चतत्त्वानां निवेशनं निम्नलिखितप्रकारेण विहितमस्ति –

पञ्चतत्वयुक्तानि शरीराङ्गानि गृहाङ्गानि च

पञ्चतत्वानि	तत्वयुक्तशरीराङ्गानि	गृहे समुपस्थिततत्त्वात्मकपदार्था:
पृथ्वी	अस्थि:, मांसादीनि, शरीरस्य पुष्टाङ्गानि	मृदा, ईष्टिका, शैलादिदृढपदार्था:
जलम्	रक्त:, मेद:, शुक्राणु:, प्रवाहिततरलपदार्था:	पदार्थानां मिश्रणात् समुत्पन्ना: मिश्रणस्य स्थिति:
तेज:	पञ्चतन्त्रनलिकायां समुचितशक्ति:, सामर्थ्यम् इति	निर्मितपदार्थात् शीतादिजन्यतत्त्वस्य शमनं वा उष्णोत्पन्नस्य च स्थिति:
वायु:	घ्राणादिस्थितिपरमात्मादात्मन: सम्बन्धं सृजनात्मकस्रोतम्	गृहे वायुप्रवेशहेतु: स्थानस्य स्थितिर्ज्ञानं वायुतत्वात्।
आकाशम्	ज्ञानविज्ञानमयकोशं विकासपुञ्जं मस्तिष्करूपेण ब्रह्माण्डस्य प्रतीकम्	गृहे वा प्रासादे परिमाणम् औच्चस्य विस्तारस्य स्थितिर्ज्ञानम्

पृथिव्यां तथाऽस्यां निवासिनां रचना पञ्चमहाभूतानां मिश्रेण जाता, यस्यां पृथ्वी-जल-

तेजोवायुराकाशादयश्च निश्चितमात्रायां भवन्ति। वास्तुशास्त्रस्य मुख्यः प्रतिपाद्यविषयोऽस्ति यन्मनुष्यः स्वजीवने सफलतां सन्तुष्टिश्च प्राप्त्यर्थ स्वकीयावासे पृथिवीजलतेजवायुराकाशादीनां च यथा-नियमानुसारमुपयोगः कुर्यादिति।

पञ्चमहाभूतनिर्मितेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे प्राणिनां जीवनस्य समुचितप्रबन्धं कथं करणीयम् ? मानवानां शारीरिकमानसिकाध्यात्मिकक्षमतानां वर्धनङ्कृत्वा जीवनं कथं नूतनोत्साहेन सह अग्रसरो भवेत् येन मानवाः स्वस्थसुखसमृद्धिपूर्वकं जीवनयापनं कुर्युः। अस्मिन् खलु ब्रह्माण्डे सर्वेष्वेतेषु जीवेषु रचनाकौशलदृष्ट्या तात्विकदृष्ट्या चैका विशेषसमानता वर्तते यद् एते समस्तदेहधारिणः पञ्चमहाभूतैर्निर्मितास्सन्ति। वस्तुतः पञ्चमहाभूतैस्सह सन्तुलनाज्जीवेषु निरन्तरता सक्रियता च भवत्यसन्तुलनवशाद् निष्क्रियता जायते। अतः वास्तुशास्त्रस्य प्राथमिक्योऽयं सिद्धान्तः यत् प्रकृतिना सह पञ्चमहाभूतैस्सह समायोजनं सम्यक्तया भवेदिति।

---

11 तर्कसंग्रह, द्रव्यलक्षणप्रकरणम्, पृ.सं. ७-१३

12. ब्रह्मज्ञानतन्त्रोद्धृतं, शारीरलक्षण एवं चेष्टाएं, अ.पृ.-१६

नारदमत्स्याग्निपुराणोक्तभूचयनविधेः अन्यवास्तुग्रन्थोक्तभूचयनसिद्धान्तैः सह तुलनात्मकं सहेतुकञ्चाध्ययनम्

डॉ. अरविन्दशर्मा

भूमेर्वर्णगन्धरसाधारेण चयनम्

भूमेर्वर्णगन्धरसाधारेण चयनं कर्तव्यमित्युक्तं नारदमत्स्याग्निपुराणेषु। वस्तुतः मनसः आनन्दस्यावाप्तिः यस्मिन् भूखण्डे भवेत्, सैव भूखण्डः भवननिर्माणार्थं युक्तोऽस्ति। किन्तु भिन्न-भिन्न जाति-वर्ण-गुण-धर्मयुक्तमनुष्याणां मनसः स्थितिः भिन्ना, तस्मात् तेषां रुच्यनुगुणपर्यावरणे भूखण्डे भवननिर्माणं कर्तव्यम्।

नारदमत्स्याग्निपुराणेषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां कृते क्रमशः श्वेत-रक्त-पीत-कृष्णवर्णयुक्तभूमिः निर्दिष्टा, भूमेः गन्धविषये मत्स्यपुराणं मौनमेव नारदाग्निपुराणयोश्च सामान्यभेदः तद्यथा– नारदानुसारेण तु चतुर्वर्णानां कृते क्रमशः भूमेः मधु-पुष्प-आम्ल-मांसादिवत् गन्धो भवेत्। अग्नौ तु घृत-रक्त-सुगन्ध-सुरादिवत् गन्धः प्रोक्तः, अन्यस्मिन् अध्याये च वैश्याय अन्नतुल्यगन्धोऽपि कथितः। भूमेः रसविषये तु मधु-कटु-तिक्त-कषायेति नारदमत्स्यपुराणयोर्वचनम्, अग्निश्चात्र भिद्यते मधुर- कषाय - अम्ल - अम्लेति चतुर्वर्णभूमेः विभाजनेन, तथा च क्रमेण एतैः वर्णैः कुश-शर-काश-दूर्वायुक्तभूमिषु गृहं निर्मेयम्।[1]

इदानीं नारदमत्स्याग्निपुराणेषु चतुर्वर्णानां कृते भूमेः वर्णगन्धरसाधारेण चयनस्य वर्णनं कोष्ठकमाध्यमेन प्रस्तूयते। यथा–

वर्णगन्धरसाधारेण		चयनकोष्ठकम्	
चतुर्वर्णाः	वर्णः	गन्धः	रसः
ब्राह्मणः	श्वेतः	मधुः/घृतम्	मधुरः
क्षत्रियः	रक्तः	पुष्पम्/रक्तः	कटुः/कषायः
वैश्यः	पीतः	आम्लः/सुगन्धः/अन्नम्	तिक्तः/आम्लः
शूद्रः	कृष्णः	मांस्/सुरा	कषायः/ आम्लः

वर्णविषये समराङ्गणसूत्रधारे वास्तुसौख्ये अपराजितपृच्छायां बृहद्वास्तुमालायाञ्च ब्राह्मणादीनां

1. (क) क्षेत्रमादौ परीक्षेत गंधवर्णसांशकैः। मधुपुष्पाम्लपिशितगंधं विप्रातुपूर्वकम्।।
सितं रक्तं च हरितं कृष्णवर्णं यथाक्रमम्। मधुरं कटुकं तिक्तं कषायरसं क्रमात्।। (ना.पु.,पू.ख. श्लो. 540, 541)

कृते श्वेत-रक्त-पीत-कृष्णभूमीनामुल्लेखो वर्तते।[2] विश्वकर्मप्रकाशे वैश्यानां कृते नातिकृष्णा नातिरक्ता च भूमिः कथिता, अन्यत् सर्वं तु पूर्ववदेव वर्तते।[3]

गन्धविषये अपराजितपृच्छायां चतुर्वर्णानां कृते घृत-रक्त-क्षार- विष्टानुगन्धिनी भूमिः प्रोक्ताः।[4] राजवल्लभमण्डने तु क्रमशः ब्राह्मणादीनां कृते घृत-रक्त-तिलमत्स्यगन्धिनी भूमिः निर्दिष्टा।[5] वास्तुसौख्ये तु क्रमः किञ्चित् भिद्यते, तथा– मधु-घृत-अन्न- रक्तगन्धिनी भूमिः ब्राह्मणादीनां कृते प्रशस्ता तत्र कथिता।[6] वास्तुविद्यानुसारं विप्रादिभ्यः क्रमशः घृत-रक्त-अन्न-सुरागन्धिनी भूमिः भवननिर्माणार्थं युज्यते।[7] रसाधारेण विविधवर्णानां कृते भूमेः चयनार्थं राजवल्लभमण्डनानुसारं क्रमशः शुभ-कषाय-अम्ल-कटुस्वादयुक्ताभूमिः प्रशस्ता[8] कथिता। अपराजितपृच्छानुसारं तु क्रमशः मधुर-कषाय-क्षार-कटुस्वाद-युक्ताभूमिः प्रशस्यते।[9]

(ख) पूर्वं भूमिं परीक्षेत् पश्चाद्वास्तुं प्रकल्पयेत्। श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णाचैवानुपूर्वशः।।
विप्रादः शस्यते भूमिरतः कार्यं परीक्षणम्। विप्राणां मधुरास्वादा कटुका क्षत्रियस्य तु।। (म. पु., अ. – 253, श्लो. 11-13)
(ग) शुक्लाऽऽज्यगन्धा रक्ता च रक्तगन्धा सुगन्धिनी।
पीता कृष्णा सुरागन्धा विप्रादीनां मही क्रमात्।। (अ. पु., अ. – 92, श्लो. – 7)
(घ) वास्तुलक्ष्म प्रवक्ष्यामि विप्रादीनां च भूरिह। श्वेतारक्ता तथा पीता कृष्णा चैव यथाक्रमम्।।
घृतरक्तान्नमद्यानां गन्धाढ्या वसतश्च भूः। मधुरा च कषाया च अम्लाद्युपरसा क्रमात्।।
कुशैः शरैरस्तथाकाशैर्दूर्वाभिर्या च संश्रिता। प्रार्च्य विप्रांश्च निःशल्यां खातपूर्वन्तु कल्पयेत्।। (अ. पु., अ. – 247, श्लो. 1- 3)

2. (क) कसिता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्मही।
विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषामथवा हिता।। (सम. सूत्र. वा., अ. 10, श्लो. – 48)
(ख) सितेषद्रक्तहरितकृष्णवर्णा यथाक्रमात्। (वा. सौ., द्वि. भागः, श्लो. – 15)
(ग) श्वेता च ब्राह्मणो भूमी रक्ता वै क्षत्रिया स्मृता।
पीतवर्णा भवेद्वैश्या शूद्री तु कृष्णवर्णिनी।। (अप. पृ., अ. – 51, श्लो. – 50)
(घ) शुभस्य शुभदा ज्ञेया दशा पापस्य चाधमा। शुक्ला मृत्स्ना च या भूमिर्ब्राह्मणी सा प्रकीर्तिता।।
क्षत्रिया रक्तमृत्स्ना च हरिद्वैश्या उदाहृता। कृष्णा भूमिर्भवेच्छूद्रा चतुर्धा परिकीर्तिता।। (बृ.मा.,पृ. 7, श्लो. 27, 28)

3. वि. क. वा., 5.8-13

4. घृतगन्धा भवेद्विप्री राज्ञी रक्तानुगन्धिनी।
क्षारगन्धा भवेद्वैश्या शूद्री विष्टानुगन्धिनी।। (अप. पृ., अ. – 51, श्लो. – 51)

5. श्वेता ब्राह्मणभूमिका च घृतवद्गन्धा शुभस्वादिनी रक्ता शोणितगन्धिनी नृपतिभूः स्वादे कषाया च सा। स्वादेऽम्ला तिलतैलगन्धिरुदिता पीता च वैश्या मही कृष्णा मत्स्यसुगन्धिनी च कटुका शूद्रेति भूलक्षणम्।। (रा.व.म., अ. – 1, श्लो. –13)

6. सुमध्वाज्यान्नपिशितं गन्धं विप्रानुपूर्वकम्।। (वा. सौ., द्वि. भागः, श्लो. – 14)

7. वा. वि., अ. – 1, श्लो. 27-30

8. राज. व. म., अ. – 1, श्लो. – 13

9. ब्राह्मणी मधुरा स्वादा कषाया क्षत्रिया तथा।
क्षारा स्वादा भवेद्वैश्या शूद्री विष्ठानुगन्धिनी।। (अप. पृ., अ. – 51, श्लो. – 52)

समराङ्गणेऽपि स्वादु-कषाय-तिक्त-कटुक्रमेण ब्राह्मणादीनां कृते भूमेः स्वादः प्रोक्तः अथवा सर्वेषां कृते मधुरोऽपि प्रशस्तः।[10] एवमेवान्यग्रन्थेषु भूमेर्वर्णगन्धरसाधारेण चयनस्य विचाराः प्राप्यन्ते। येषामस्ति विशिष्टं महत्त्वम्।

भूमेः वर्णाद्याधारेण चयनस्य सहेतुकं विवेचनम्

तपःपूतैः ऋषिमुनिभिः विश्वकल्याणभावनया भावितमिदं शास्त्रं स्ववैज्ञानिकाधारेणाधुनिक-विदुषामवधानं बलादाकर्षयति, भूमेः चयनादारभ्य उचितमानदण्डानुगमनपूर्वकं कृतभवनमेवाजीवनं गृहपतेः शुभं करोति। प्रशस्तभवनप्रशंसाविषये यथोक्तम्-

लक्षणहीने धामनि वसतामशुभानि सम्भवन्त्येव।
जन्माद्यवसानन्तं मनसा निश्चित्य कारयेत् तस्मात्॥[11]

प्रकृतिः रज-सत्व-तम-गुणात्मिका वर्तते, क्रमश इयं लोहित-शुक्ल- कृष्णवर्णात्मिका वर्तते। प्रकृतेः सृष्टिः स्थिति-लयहेतुनाऽत्र रज-सत्व-तमगुणादीनां क्रमः निर्धारितः।[12] सांख्यसूत्रानुसारमपि सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। अर्थात् सतोगुणस्य शुक्लः, रजोगुणस्य रक्तः, तमोगुणस्य कृष्णवर्णश्च वर्तते।

(क) ब्राह्मणवर्णस्य कृते भूमिः

वर्णसंकरताया अभावात् वंशपरम्परायाः शुद्धत्वात् स्वाध्याय - अभ्यासादीनामनवरताचरणात् शम - दम - तप - शौच - क्षान्ति - आर्जव - ज्ञान - विज्ञान -आस्तिक्यादयः गुणाः ब्राह्मणादीषु प्राधान्यं वहन्ति।[13] सतोगुणस्य च शुक्लः (श्वेतः) वर्णः, अत एव ब्राह्मणाय श्वेतवर्णभूमिरेव उपयुक्ता गौरवर्णः कुत्रचित् पीतवर्णो वा कथितः। कालपुरुषस्य शरीरे स एव बृहस्पतिः ज्ञानसुखयोश्च हेतुः वर्तते। कालरूपात्मकपुरुषे बृहस्पति आकाशतत्त्वयुक्तोऽस्ति। जन्मकुण्डल्यां पञ्चमविद्यास्थाने, नवमधर्मस्थाने च बृहस्पतेः विशेषदृष्टिर्भवति। यतोहि राष्ट्रस्य मन्त्रिणः प्रमुखकर्तव्यमिदं यद् राष्ट्रे विद्याधर्मयोरेव ध्यानं दातव्यमिति।"[14] अत एव बृहस्पतेः ब्राह्मणवर्णस्य च समानताकारणात् ब्राह्मण कृते श्वेतवर्णीया ब्राह्मणभूमिः प्रशस्ता वर्तते।

---

10. स्वादुः कषाया तिक्ता च कटुका चेत्यनुक्रमात्।
वर्णानां स्वादतः शस्ता सर्वेषां मधुराऽथवा॥ (सम. सूत्र. वा., अ. 10, श्लो. - 49)
11. मनु. चन्द्रि., अ. - 1, श्लो. - 15
12. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥ (सां. त. कौ., प्रथम कारिका)
13. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (श्रीमद्भ. गी., अ. - 18, श्लो. - 42)
14. बृ.जा., ग्रहयोनिप्रभेदाध्यायः, श्लो. - 7, 4, 5, 1, 6, 13

(ख) क्षत्रियवर्णस्य कृते भूमिः

क्षत्रियवर्णे रजोगुणस्य प्राधान्यं दृश्यते, रजोगुणस्य च रक्तवर्णः, अत एव क्षत्रियस्य कृते रक्तवर्णयुक्तभूमिः प्रशस्यते। ज्योतिषशास्त्रानुसारेण[15] अपि क्षत्रियवर्णस्य प्रतिनिधित्वं भौमग्रहः करोति, भौमस्तु रक्तवर्णीयः, शक्तिसम्पन्नः, रथवान्, सामर्थ्यवान्, तेजस्वी च वर्तते। कालरूपात्मके राष्ट्रे सेनापतिः अग्नितत्त्वयुक्तः, क्षत्रियवर्णीयश्चास्ति। भौमस्य क्षत्रियाणां तुल्यमेव चतुर्थगृहस्थाने अष्टमायुस्थाने च विशेषदृष्टिः भवति। भौमः तिक्तरसप्रियश्चास्ति। अत एव क्षत्रियैः भवननिर्माणार्थं रक्तवर्णीया क्षत्रियाभूमिः प्रशस्ता कथिता।

(ग) वैश्यवर्णस्य कृते भूमिः

बृहज्जातकानुसारं वैश्यवर्णस्य प्रतिनिधित्वं बुधग्रहः करोति।[16] बुधग्रहस्य च पीतवर्णो वर्तते।[17] अत एव वैश्यानां कृते पीतवर्णयुक्तभूमिः उत्कृष्टा भवति, इतोऽपि वैश्यानां बुधग्रहवत् रजोगुणप्रकृतिः, हास्यप्रियस्वभावः, व्यङ्ग्यात्मकवाणी चावलोक्यते[18]। एतस्मात् वैश्यानां भूमेः वर्णः पीत एवोत्तमो भवति। अतः वैश्यवर्णस्य कृते वैश्यभूमिरेव प्रशस्ता।

(घ) शूद्रस्य कृते भूमिः

ज्योतिषशास्त्रानुसारेण[19] शूद्रवर्णस्य प्रतिनिधिः शनिग्रहो वर्तते। तस्य शनेः कृष्णवर्णत्वात् शूद्राणां कृते कृष्णभूमिरेव अनुकूला वर्तते। कृष्णवर्णः तमोगुणस्य प्रतिनिधित्वं करोति। शनेः स्वरूपस्यावलोकनादपि शनेर्गुणधर्माः शूद्रजातेः तुल्याः दृश्यन्ते, इत्यस्मात् शूद्राणां भूमिः शनेः वर्णानुरूपां कृष्णावर्णीया एवोत्तमा वर्तते।

एवमुपर्युक्तप्रकारेण मनुष्यैः स्व-स्वगुणधर्मानुसारं भवननिर्माणार्थं भूमेः चयनं क्रियते चेत् जीवनं प्राकृतिकगुणानां सामञ्जस्यकारणात् स्वयमेव सुखमयं भविष्यति।

2. विविधप्रकारेण भूमिपरीक्षा

भूमिपरीक्षया अस्माभिः ज्ञायते यद् भूमिः भवननिर्माणार्थं परुषाः अस्ति न वा। यतो भवनस्य कठोराधारः तस्मायुर्दायं वर्धयति। पञ्चमहाभूतेषु भूमितत्त्वमेव भवनस्याधारो भवति, इत्यतो भवननिर्माणार्थमुत्तमाधारस्य (भूमेः) चयनमत्यावश्यकं भवति, भवननिर्माणात् पूर्वमत्र भूमिपरीक्षार्थं

15. बृ.जा., ग्रहयोनिप्रभेदाध्यायः, श्लो. - 7, 4, 5, 1, 6, 13, 14
16. बृ.जा., अ. - 2, श्लो. - 4
17. (क) श्वेतः सोमः कुजो रक्तो बुधः पीतो गुरुस्तथा।
शुक्रः श्वेतः शनी राहुः कृष्णौ धूम्रस्तु केतवः।। (रू. म., अ. - 2, श्लो. - 20)
(ख) श्वेतवर्णो भवेत्सोमो रक्तोह्यङ्गारकस्तथा।
बुधश्च पीतवर्णाभस्तादृग्रूपं गुरोस्तथा।। अप. पृ., अ. - 214, श्लो. - 13)
18. बृ.जा., अ. - 2, श्लो. - 7, 9
19. (क) बृ.जा., ग्रहयोनिप्रभेदाध्यायः, श्लो. - 7, 4, 5

केचन नियमाः निर्दिष्टाः, येषु भूमिचयनकाले अवधानं दातव्यं यथा–

मृत्तिकया भूमिपरीक्षा

नारदपुराणानुसारं भूमौ अरत्निमात्रं (हस्तपरिमितम्) गर्तं खनित्वा निष्कासितमृत्तिकातः पुनः गर्तं पूरयेत्। मृत्तिकायाः वर्धनेन गृहस्वामिनः वृद्धिः, हीने हानिः, समे मध्यमफलं ज्ञेयम्। अग्निपुराणे मत्स्यपुराणे चापि अस्योल्लेखः प्राप्यते।[20]

मयमते[21] बृहत्संहितायाम्[22] अपराजितपृच्छायाञ्चापि[23] मृत्तिकयापरीक्षणेन भूमिगुणवत्तापरीक्षायै मतमिदं समर्थितम्।

2.2 जलेन भूमिपरीक्षा

नारदपुराणोक्तप्रकारेण गर्तं कृत्वा सायंकाले च तं जलेन पूरयित्वा प्रातः जलावशिष्टे वृद्धिः, पङ्के सति मध्यमफलं, जलाभावे हानिरेव जानीयात्।[24] अग्निपुराणे तु जलद्वारा भूमिपरीक्षायाः स्मरणमात्रं कृतम्।[25] वास्तुसौख्येऽपि एवमेव जलेन भूमिपरीक्षा निर्दिष्टा।[26] किन्तु शिल्पदीपके किञ्चिद्भिन्नं वर्णितम्। तदनुसारेण गर्तं जलेनापूर्य शतपदं गत्वा अनन्तरं परीक्षणे सति पादोने जले मध्यमफलम्, जलार्धे त्वधमफलम्, जलस्य न्यूनाभावे तु भूमिः उत्तमा भवति।[27]

---

20. (ख) जा. पा., ग्रहगुणाध्यायः श्लो. – 27
21. (क) समगर्तारत्निमात्रं मात्रं खनित्वा तत्र पूरयेत्।
अत्यंतवृद्धिरधिके हीने हानिः समे समम्।। (ना. पु., पू. ख., अ. – 56, श्लो. – 543)
(ख) आखाते हास्तिके यस्याः पूर्णे मृदधिका भवेत्।।
उत्तमां तां महीं विद्यात्तोयाद्यैर्वा समुक्षितम्। (अ. पु. अ. – 92, श्लो. – 8, 9)
(ग) रत्निमात्रमधोगर्ते परीक्ष्यं खातपुराणे।।
अधिके श्रियमाप्नोति न्यूने हानिं समे समम्। (म. पु. अ. – 253, श्लो. – 16, 17)
22. वस्तुमध्ये ततस्तस्मिन् खानयेद् वसधातलम्।। अरत्निमात्रगम्भीरं चतुरस्रसमन्वितम्।
पूरिते तन्मृदा खाते समता मध्यमा मता।। उत्तमा भूर्मृदाधिक्या हीना हीना मृदा मही।
(मय. म., अ. – 4, श्लो. – 10, 11, 17, 18)
23. गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्।
यद्यूनमनिष्टं तत् समे समं धन्यमधिकं यत्।। (बृ. सं., अ. – 53, श्लो. – 92)
24. हस्तमात्रं खनेद् भूमिं तस्यान्तर्घृतपांशुकम्। ततः खातं समाशोध्य पूरयेत् पांशुना वृतम्।।
अधिके पांशुके श्रेष्ठा मध्यमा समपाशुके। हीनपांशौ कनिष्ठा च ज्येष्ठा मध्याधमा त्रिधा।।
(अ. पु. अ. – 51, श्लो. – 7, 8)
25. तथा निशादौ तत्कृत्वा पानीयेन प्रपूरयेत्।
प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिः समं पंके क्षयः क्षये।। (ना. पु. पू. खण्डः, द्वि. पा., अ. – 56, श्लो. – 544)
26. उत्तमां तां महीं विद्यात्तोयाद्यैर्वा समुक्षिताम्। (अ. पु. अ. – 92, श्लो. – 9)
27. तत्रारत्निमितं गर्तं खनित्वाऽन्तः प्रपूरयेत्।
प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिः समं पंके ब्रणे क्षयः।। (वा. सौ., द्वि. भागः, श्लो. – 17)

2.3 घृतवर्तिद्वारा भूमिपरीक्षा

मत्स्यपुराणानुसारमरत्निमात्रं गर्तं कृत्वा घृतवर्तिचतुष्टयं प्रज्वाल्य सर्वदिङ्मुखं कृत्वा गर्ते स्थापयेत्। पूर्व-उत्तर-पश्चिम-दक्षिणदिक्षु या ज्योतिः दीर्घकालं यावज्ज्वलति, तदा भूमिः गृहनिर्माणार्थं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादिक्रमेण चतुर्णां कृते शुभा भवति। यदि सर्वदिक्षु वास्तुदीपकः प्रज्वलति तर्हि चतुर्वर्णानां कृते प्रासादार्थं गृहार्थं वा सा भूमिः शुभदा ज्ञेया।[28]

अयं विधिः समराङ्गणसूत्रधारेऽपि निर्दिष्टः किन्तु तत्र ब्राह्मणादीनां कृते उत्तर-पूर्व-दक्षिण-पश्चिमादिक्रमः प्रोक्तः।

2.4 बीजवपनेन भूमिपरीक्षा

मत्स्यपुराणे भूमिपरीक्षणसन्दर्भे एकः अपरः नियमोऽपि निर्दिष्टः, तत्र सर्वप्रथमं हलाकृष्टभूमौ सर्वविधबीजानि वपेत्। यदि तृतीयरात्रौ, पञ्चमरात्रौ सप्तमरात्रौ वा बीजानां प्रस्फुटनं भवति तदा क्रमशः उत्तम-मध्यम-अधमफलं ज्ञेयम्।

अधमभूमिः तु सर्वथा त्याज्या।[30] विश्वकर्मवास्तुशास्त्रेऽपि बीजारोपणेन भूमिपरीक्षायाः विधिः प्राप्यते।[31] भोजोऽपि भूमेः उर्वरशक्त्या साकं बहुतृण-सम्पन्नतां, स्निग्धताञ्च प्रशस्तं स्वीकरोति।[32] वस्तुतः बीजाङ्कुरेण भूमेः उर्वरतायाः प्रवर्धनशीलतायाश्च ज्ञानं प्राप्यते। भूमिपरीक्षा वास्तुशास्त्रस्याधारभूतमङ्गं वर्तते, इत्यतः गृहनिर्माणात् पूर्वं भूमिपरीक्षा अवश्यमेव कर्तव्या यथोक्तम्—

पूर्वं भूमिं परीक्षत् पश्चाद् वास्तु समारभेत्।[33]

---

28. तत् कृत्वा जलपूर्णशतपदं गत्वा परीक्ष्य पुनः।
पादोनेऽर्धविहीनकेऽथ निभृते मध्याधमेष्टावनी।। (शि. दीप., प्रकरणम् - 1, श्लो. - 16)

29. तिक्ता कषाया च तथा वैश्यशूद्रेषु शस्यते। अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वनुलिप्ते च सर्वशः।।
घृतमामशरावस्थं कृत्वा वर्त्तिचतुष्टयम्। ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थं तत्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।।
दीप्तौ पूर्वादि गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः। वास्तुः सामूहिको नाम दीप्यते सर्वतस्तु यः।।
शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च। रत्निमात्रमधोगर्त्ते परीक्ष्यं खातपूरणे।।
(म. पु. अ. - 253, श्लो. - 16.....16)

30. खातस्योदक्प्रभृतिषु दिक्षु प्रज्वालयीत वा।
दीपान् यस्यां चिरं तिष्ठेत् तद्वर्णेष्टप्रदा हि सा।। (सम. सूत्र. वा., अ. - 10, श्लो. - 74)

31. फालकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत्।।
त्रिपञ्चसप्तरात्रे च यत्रारोहन्ति तान्यपि। ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूर्वर्जनीयतरा सदा।। (म. पु. अ. - 253, श्लो. - 17, 18)

32. सा भूमिरुत्तमा ज्ञेया त्रिरामाङ्कुरवर्धिनी। सा मध्यमा च विज्ञेया पञ्चरात्राङ्कुरप्रदा।
मन्दाङ्कुरप्रदा भूमिरधमा चेति गद्यते। सा वर्ज्या सर्वकार्येषु बीजानां क्षयकारिणी।। (वि. क. वा., 5-21, 22)

33. अनूपरा बहुतृणा शस्ता स्निग्धोत्तरप्लवा।। (सम. सूत्र. वा., अ. - 10, श्लो. - 65)

एवं प्रकारेण वास्तुग्रन्थेषु भूमिपरीक्षायाः इतरविधयोऽपि प्रोक्ताः, किन्तु नारदमत्स्याग्निपुराणेषूपर्युक्तचतुर्णां विधीनामेवोल्लेखः प्राप्यते।

3. भूमिपरिग्रहपूर्वकशल्यशोधनम्

गृहपतिना गृहनिर्माणात् पूर्वं शास्त्रोक्तविधिना भूमिपरिग्रहः शल्यशोधनञ्च करणीयम्। अत्यावश्यकमिदं यद् गृहपतिः भूखण्डस्य श्रेष्ठवास्तुवेदी[34] द्वारा परीक्षणपूर्वकं शल्यशोधनं कारयेत्। भूमेः अन्तर्गताः वाञ्छनीयाः अवाञ्छनीयाश्च पदार्थाः भवितुमर्हन्ति। अवाञ्छनीयपदार्थेषु पशु-पक्षि-मनुष्यादीनामवशेषाः भवन्ति, येषां गृहपतौ दुष्प्रभावो जायते। अत एव गृहनिर्माणात् पूर्वं शल्यशोधनमवश्यमेव कर्तव्यम्।

3.1 भूमिपरिग्रहः

अग्निपुराणे[35] भूमिपरिग्रहस्य विधिः निम्नलिखितप्रकारेण वर्णितः यथा – वास्तुकर्मणि अस्थ्यङ्गारादिभिः दूषितां भूमिं खननगोकुलावासकर्षणादिभिः सम्यक् रीत्या आचार्यैः शोधनं कारयेत्। मण्डपे द्वारपूजातः मन्त्रतर्पणादीन् यावत् सम्पूर्णकर्माणि विधाय अघोरास्त्रमन्त्रस्य सहस्रपरिमितं जपं कर्तव्यम्। समतलोपलिप्तभूमौ दिक्शोधनपूर्वकं स्वर्णदध्यक्षतैः प्रदक्षिणक्रमेण रेखाः निर्मेयाः। तत्रैव मण्डलमध्यात् ईशानकोणे पूर्णकुम्भे शिवं यजेत्। अनन्तरं वास्तुपूजनपूर्वकं तज्जलेन कुद्दालमभिसिञ्च्येत्। मण्डलात् बहिः राक्षसान् अभ्यर्च्य दिग्बलिं दद्यात्। ततश्च भूमिमभिसिञ्च्य कुद्दालं खनित्रं वा संस्नाप्य पूजयेत्। वस्त्रयुगलेनाच्छन्नमन्यघटं द्विजस्कन्धे निधाय गीतवाद्यादिभिः वेदमन्त्रोच्चारण-पूर्वकं कुम्भमर्चयेत्। प्राप्ते सुलग्ने चाग्न्यां दिशि अभिषिक्तेन कुद्दालेन भूमौ खननं कुर्यात्।

खातस्य मृत्तिकां नैऋत्यकोणे क्षिपेत्, खाते च कुम्भजलं प्रपूरयेत्। तज्जलं पुनः नगरस्य पूर्वसीमान्तं यावत् अभिसिञ्चयेत्। तत्र क्षणं स्थित्वा नगरं परितः सीमान्तचिह्नान्यभिसिञ्चन् ईशानकोणं यावदागच्छेत्, एवं प्रदक्षिणक्रमेण रुद्रकलशस्य परिभ्रमणमर्घ्यं दानमित्युच्यते। मयमतेऽपि[36] किञ्चित्

34. वा. वि., अ. – 2, श्लो. – 1
35. स्थापत्यवेदपर्यायः वास्तुवेदः। तस्य ज्ञाता वास्तुवेदी। यथा द्विवेदी-त्रिवेदी-चतुर्वेदी
(Samarangan Sutradhar, Ch. . 16A श्लो. 49)
36. अस्थ्यङ्गारादिभिर्दुष्टामत्यन्तं शोधयेद्गुरुः।।
नगरग्रामदुर्गार्थं गृहप्रासादकारणम्। खननैर्गोकुलावासैः कर्षणैर्वा मुहुर्मुहुः।।
मण्डपे द्वारपूजादिमन्त्रतृप्त्यवसानकम्। कर्म निर्वर्त्याघोरास्त्रं सहस्रं विधिना यजेत्।।
समीकृत्योपलिप्तायां भूमौ संशोधयेद्दिशः। स्वर्णदध्यक्षतै रेखाः प्रकुर्वीत प्रदक्षिणम्।।
मध्यादीशानकोष्ठस्थे पर्णकुम्भे शिवं यजेत्। वास्तुमभ्यर्च्य तत्तोयैः सिञ्चेत्कुद्दालकादिकम्।।
बाह्ये रक्षोगणानिष्ट्वा विधिना दिग्बलिं क्षिपेत्। भूमिं संसिच्य संस्नाप्य कुद्दालाद्यं प्रपूजयेत्।।
अन्यं वस्त्रयुगच्छन्नं कुम्भं स्कन्धे द्विजन्मनः। निधाय गीतवाद्यादिब्रह्मघोषसमाकुलम्।।
पूजां कुम्भे समाहृत्य प्राप्ते लग्नेऽग्निकोष्ठके। कुद्दालेनाभिषिक्तेन मध्वक्तेन तु खानयेत्।।
नैर्ऋत्या क्षेपयेन्मृत्स्नां खाते कुम्भजलं क्षिपेत्। पुरस्य पूर्वसीमान्तं नयेद्यावदभीप्सितम्।।
अथ तत्र क्षणं स्थित्वा भ्रामयेत्परितः पुरम्। सिञ्चन्सीमान्तचिन्हानि यावदीशानगोचरम्।।
अर्घ्यदानमिदं प्रोक्तं तत्र कुम्भपरिभ्रमात्। इत्थं परिग्रहं भूमेः कुर्वीत तदनन्तरम्।। (अ.पु.अ. 92,श्लो. 9....19)

भिन्नप्रकारेण भूपरिग्रहस्य सम्पूर्णविधानं वर्तते।

3.2 शल्यप्रश्नः

तदनन्तरं भूमेः शल्यदोषं परिहर्तुं प्रस्तरान्तं जलान्तं वा भूमौ खन्नं कुर्यात्। शल्यज्ञाने सति विधिपूर्वकं शल्यमुद्धरेत्। शल्यमस्ति नवेति प्रश्ने सति प्रश्नकर्तुः मुखात् निस्सृताः अकचटतपयशह इत्यादयः वर्णा एव पूर्वादिक्रमेण क्रमशः शल्यज्ञानं कारयन्ति। मातृकां निम्नोक्तनुसारेण फलके भूमौ वा विलिख्य वर्गाक्षरेण शल्यादिकं ज्ञानं कर्तव्यम्।[37]

यदा गृहकर्ता दैवज्ञं प्रश्नं करोति तदा प्रश्नाक्षरस्य प्रथमाक्षरः (वर्गाक्षरः) भूखण्डस्य यस्मिन् खण्डे (दिशायाम्) आगच्छेत्, तत्रैव पूर्वादिक्रमेण लौह-अङ्गार-भस्म-अस्थि-इष्टिका-कपाल-शवकीट-लौह-रजतादिकं वक्तव्यम्। वास्तुसौख्येऽपि[38] एवमेव वर्णानुसारं शल्यज्ञानमुक्तं किन्तु तत्र दिक्षु प्राप्तशल्यप्रकारेषु भेदो वर्तते। तत्रायमपि सङ्केतो वर्तते यत् प्रश्नस्य प्रथमाक्षरो यदि वर्गाद्यक्षरतः भिन्नो भवेत् तदा ब्रह्मोक्त्वात् तत्र भूमौ शल्यं न भवति।[39] मुहूर्तगणपतिग्रन्थेऽपि वर्गस्य दिशानुरूपं शल्यमवगन्तव्यमिति प्रोक्तम्।[40] वास्तुराजवल्लभेऽपि अकारादिवर्गानुसारं शल्यज्ञानस्य क्रमः निर्धारितः।[41]

3.3 शकुनद्वारा शल्यज्ञानम्

मत्स्यपुराणे उक्तं यद् गृहारम्भे गृहपतिना यस्मिन्नाङ्गे कण्डूयते, वास्तुपुरुषस्य तस्मिन्नेवऽङ्गे शल्यं वर्तते। तत्र कथितं यत् शल्यसहितं गृहं भयकारकं शल्यरहितञ्च शुभदायकं भवति।[42] अस्यैव वचनस्य समर्थनमग्निपुराणेऽपि वर्तते यथा– गृहकर्तुः अङ्गविकारेण शल्यं विजानीयात्। तत्र पशूनां

---

37. मय. म., अ. - 4, श्लो. - 1....20
38. कर्करान्तं जलान्तं वा शल्यदोषजिघांसया। खानयेद्धकुमारी चेद्विधिना शल्यमुद्धरेत्।।
अकचटतपयशहान्मानवश्चेत्प्रश्नाक्षराणि तु। अग्नेर्ध्वजादिपतिताः स्वस्थाने शल्यमाख्यान्ति।।
कर्तुश्चाङ्गविकारेण जानीयात्तत् प्रमाणतः। पश्वादीनां प्रवेशेन कीर्तनैर्विरुतैर्दिशः।।
मातृकामष्टवर्गाढ्यां फलके भुवि वा लिखेत्। शल्यज्ञानं वर्गवशात्पूर्वादीशान्ततः क्रमात्।।
अवर्गे चैव लोहं तु कवर्गेऽङ्गारमग्नितः। चवर्गे भस्म दक्षे स्यात्टवर्गेऽस्थि च नैर्ऋते।।
तवर्गे चेष्टका चाऽऽप्ये कपालं च पवर्गके। यवर्गे शवकीटादि शवर्गे लोहमादिशेत्।।
हवर्गे रजतं तद्वदवर्गाच्चानर्थकानपि। (अ. पु. अ. - 92, श्लो. - 20......26)
39. (वा. सौ., तृ. भागः, श्लो. - 64.......73)
40. वर्गाद्यक्षरभिन्ने तु प्रश्नस्याद्यक्षरं यदि।
न तत्र विद्यते शल्यं ब्रह्मोक्तत्वान्न संशयः।। (वा. सौ., तृ. भागः, श्लो. - 21)
41. गृहप्रश्नाक्षरं पूर्वं यदि वर्गादिसम्मतम्।
शल्यं तद्दिशि जानीयाद् द्वयक्षैरैर्भमध्यमं वदेत्।। (मु. गण., - वास्तुप्रकरणम्, श्लो. - 12)
42. आकाचाटाएतशापायवर्णाः प्राच्यादिस्थे कोष्ठके शल्यमुक्तम्।
केशाङ्गाराः काष्ठलोहास्थिकाद्याः तस्मात्कार्यं शोधनं भूमिकायाः।। (वा.रा.ब., अ. - 1, श्लो. - 20)

प्रवेशेन पक्षिणां कलरवैश्चापि शल्यज्ञानं कर्तव्यमित्युक्तम्।[43]

बृहत्संहितायामपि गृहपतेः कण्डूतिवशात् वास्तोरङ्गे शल्यं भवतीति निर्दिष्टम्। तथा चाहुतिकाले क्षुतनिष्ठीवनरोदनवातोत्सर्गादिभिः अथवा अग्नौ विस्फुलिङ्गादिविकारो भवेत् तर्हि भूमौ तस्य देवतायाः स्थाने शल्यं ज्ञेयम्।[44]

मत्स्यपुराणेऽन्यत्रोक्तं यत् स्तम्भारोपणे सूत्रपातकाले च शुभाशुभशकुनानि भवन्ति, तस्मिन् काले पक्षिः आदित्याभिमुखं रौति अथवा गृहपतिः शरीरस्य यमाङ्गं स्पृशति, वास्तोः, तस्मिनङ्गे एव हस्त्यश्वशुनकादीनां शल्यं विद्यात्।

अन्यस्मिन् शकुने प्रसार्यमाणे सूत्रे शृगालः शुनको वा यदि विलङ्घते, अथवा भयङ्करशब्दो यदि भवति, तर्हि तत्र शल्यं विजानीयात्। यदि सूत्रपातसमये ईशानकोणे काकः मधुरं रौति, तदा गृहस्वाम्यधिष्ठिते स्थले धनं विज्ञेयम्।[45]

शल्यशोधनं भवननिर्माणात् पूर्वमेव कर्तव्यम्, यतोहि भवननिर्माणात् परमिदमशक्यं भवति, यस्मात् गृहे निवासकर्तृणां कृते शान्तिः नैव प्राप्यते। अत एव शास्त्रोक्तविधिभिः शल्यशोधनपूर्वकं गृहनिर्माणं शुभं सुखदायकञ्च भवति।

4. भूमेः प्लवत्वविचारः

भूमेः प्लवत्वनुगुणं गृहे निवासकर्तारः प्रभाविताः भवन्ति। अत एव शास्त्रोक्तप्लवत्वनुगुणं भूमौ गृहनिर्माणं प्रशस्यते। नारदपुराणे ईशान-पूर्व-उत्तरदिक्षु भूमेः प्लवत्वं मनुष्येभ्यः अत्यन्तवृद्धिदं स्मृतम्। अन्यदिक्षु प्लवत्वं तु सर्वेभ्यः हानिप्रदं भवति।[46]

इदं तु स्पष्टमेव यद् यस्यां दिशि प्लवत्वं भविष्यति, तस्माद् विपरीतदिशि भूमेः उन्नतिः भविष्यति। अत एव ईशान-पूर्व-उत्तरदिक्षु भूमेः प्लवत्वे सति एतद् विरुद्धं नैर्ऋत्य-पश्चिम-दक्षिणदिक्षु

43. गृहारम्भेषु कण्डूतिः स्वाम्यङ्गे यत्र जायते। शल्यं त्वपनयेत् तत्र प्रासादे भवने तथा।।
सशल्यं भयदं यस्मादशल्यं शुभदायकम्। हीनाधिकाङ्गतां वास्तोः सर्वथा तु विवर्जयेत्।।
नगरग्रामदेशेषु सर्वत्रैवं विवर्जयत्।। (म. पु. अ. - 253, श्लो. - 49......51)

44. कर्तुश्चाङ्गविकारेण जानीयात्तत् प्रमाणतः।
पश्वादीनां प्रवेशेन कीर्तनैर्विरुतैर्दिशः।। (अ. पु. अ. - 92, श्लो. - 22)

45. कण्डूयते यदङ्गं गृहभर्तुर्यत्र वाऽमराहुत्याम्।
अशुभं भवेन्निमित्तं विकृतेर्वाग्नेः सशल्यं तत्।। (बृ. सं., वास्तुविद्याध्यायः, श्लो. - 59)

46. स्तम्भसूत्रादिकं तद्वच्छुभाशुभफलप्रदम्। आदित्याभिमुखं रौति शकुनिः परुषं यदि।।
तुल्यकालं स्पृशेदङ्गं गृहभर्तुर्यदात्मनः। वास्त्वङ्गे तद् विजानीयान्नरशल्यं भयप्रदम्।।
अङ्कनान्तरं यत्र हस्त्यश्वश्वापदं भवेत्। तदङ्गसम्भवं विन्द्यात् तत्र शल्यं विचक्षणः।।
प्रसार्यमाणे सूत्रे तु श्वा गोमायुर्विलङ्घते। तत्तु शल्यं विजानीयात् खरशब्देऽतिभैरवे।।
यदिशाने तु दिग्भागे मधुरं रौति वायसः। धनं तात्र विजानीयाद् भागे वा स्वाम्यधिष्ठिते।।
(म. पु. अ. - 256, श्लो. - 16......20)

भूमेः उन्नतिः भवेत्। वास्तुविद्याग्रन्थे[47] भूमेः ईशानादिशुभप्लवत्वस्य कृते क्रमशः धनवीथि-गोवीथि-गजवीथि इति नामकरणं कृतम्। तथा चान्येषां वीथीनामपि वर्णनं कृतमस्ति।

मनुष्यालयचन्द्रिकायां[48] भूमेः प्लवत्वनुगुणं वीथीनां नामानि फलञ्चोक्तम्। वास्तुविद्यायामपि[49] चतुर्णां वीथीनां फलमुक्तम्। बृहद्वास्तुमालाग्रन्थे[50] च सर्वासां वीथीनां फलमुक्तम्। भूमेः शुभाशुभप्लवत्वबोधक-चक्रेण विषयमिदं स्पष्टं भवति। शुभाशुभप्लवत्वबोधकचक्रम् यथा-

क्र. अष्टवीथिनामानि	दिक्प्लवत्वम्	औच्च्यम्	प्राप्तफलम्
1. गोवीथि	पूर्वदिशि	पश्चिमदिशि	धनधान्यवृद्धिः समृद्धिश्च
2. अग्निवीथी/ वैश्वानरी	आग्नेयविदिशायाम्	वायव्यविदिशायां	दाहः धननाशः मृत्युः शोकश्च
3. यमवीथि	दक्षिणदिशि	उत्तरदिशि	मृत्युः गृहनाशश्च
4. भूतवीथी	नैर्ऋत्यविदिशायां	ईशानविदिशायां	धननाशः निर्धनता वा
5. जलवीथी	पश्चिमदिशि	पूर्वदिशि	पुत्रहानिः अपयशः धननाशः निर्धनता च
6. नागवीथी	वायव्यविदिशायां	आग्नेयविदिशायां	प्रवासः मानसिकोद्वेगः सन्ततिहानिश्च
7. गजवीथी	उत्तरदिशि	दक्षिणदिशि	धनप्राप्तिः सम्पत्तिप्राप्तिश्च
8. धनवीथी/ धान्यवीथी	ईशानविदिशायां	नैर्ऋत्यविदिशायां	विद्या-धन-सुख-कल्याणप्राप्तिः

समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थेऽपि पूर्व-उत्तर-पूर्वोत्तरदिक्षु भूमेः प्लवत्वमथवा सर्वदिक्षु प्लवत्वं समुदिष्टम्, मध्यस्थानस्य च समुन्नतभूमिरपि गृहनगरनिर्माणार्थमुत्तमा भवति।[51] मण्डनसूत्रधारेणापि भूमेः पूर्व-ईशान-उत्तरदिक्षु प्लवत्वं सौख्यकरमुक्तम्।[52] एवमेव प्रायशः सर्वत्र वास्तुग्रन्थेषु पूर्व-ईशान- उत्तरदिक्षु प्लवत्वं प्रशस्यते। एतस्य वैज्ञानिककारणमिदमस्ति, यत् एतासु दिक्षु गृहसन्निवेशेन गृहजनाः प्रातःकालीनसूर्यस्य शुभरश्मीनामानन्दं स्वीकर्तुमर्हन्ति। यतोहि सूर्योदयकालीनसूर्यस्य शुद्ध-शक्तिवर्धकरश्मयः शरीरं निपन्ति, यस्मात् त्वक् कान्तियुक्तो भवति। सूर्यः स्वप्रकाशेन अन्धकारस्य निवारणपूर्वकं रोग-दुःखस्वप्नादीनां नाशं करोति।[53] एतासु रश्मिषु पौष्टिकतत्त्वानां बाहुल्यं भवति। इत्यस्मादुपर्युक्तदिक्षु प्लवत्वनुकूलभूमौ गृहनिर्माणं कर्तव्यम्।

वास्तुशास्त्रपरिचयः

डॉ० नन्दनकुमारतिवारी

भारतीयज्योतिषशास्त्रस्य संहितास्कन्धान्तर्गतं वास्तुविषयस्य चर्चा समुपलभ्यते, वास्तुशास्त्रं स्थापत्यशास्त्रं वा शिल्पशास्त्रमपि कथ्यते। व्याकरणशास्त्रस्य दृष्ट्या वस् निवासे धातोस्तुण्प्रत्यये सति वास्तु शब्दोऽयं निष्पद्यते। शीलति समादधाति इति शिल्पम्। शीलसमाधौ धातोः 'शिल्प' शब्दोऽयं निष्पद्यते। तत्रार्थवेदस्योपवेदात्वेनवास्तुशास्त्रमभिज्ञायते। अन्यशास्त्रवत् वास्तुशास्त्रस्योद्गमोऽपि वेदेभ्यो जातः। वेदेभ्य एवोपवेदाः उत्पन्नाः। वस्तुतः पृथिव्योपरि कश्चिदपि पार्थिवकृतिः 'वास्तु' वर्तते। नूनं भगवान् शिवः वास्तुपुरुषः। यथोक्तं यजुर्वेदस्य रूद्राष्टाध्याय्याम्-

नमो व्वात्त्याय च रेष्म्याय च नमो व्वास्तव्याय च व्वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च[1]।

प्रधानविषयाः-

वास्तुस्कन्धे गृहनिर्माणं, जीर्णोद्धारः, प्रशस्तभूमिलक्षणं, काकिणीविचारः, ग्रामविचारः, दिशाविचारः, भूमेः शोधनम्, दिक्शोधनम्, शल्योद्धारविधिः, गेहमेलापकविचारः, गृहनक्षत्रकल्पना, गृहराश्यानयनम्, अष्टकूटविचारः, पिण्डानयनम्, षोडशशालाभेदाः, आयादिसाधनम्, गृहायुनिर्माणं, मण्डलानयनं, तिथि-वार-लग्नानयनम्, पिण्डविचारः, गृहोपकरणविचारः, दुर्गनिर्माणं, गृहारम्भमुहूर्त्तं, गेहारम्भे मासविचारः, वृषभवास्तुचक्रम्, कूर्मचक्रम्, गजमुखपृष्ठलक्षणम्, लग्नशुद्धिः, गृहप्रवेशः चेत्यादिविषयाः प्रधानतया उपवर्णिताः भवन्ति।

प्रधानोपदेशकाः-

मत्स्यपुराणानुसारेण वास्तुशास्त्रस्य अष्टादशोपदेशकाः सन्ति।[2] यथोक्तम् -

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्माकुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरूद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।

---

1. रूद्राष्टाध्यायी - पंचमोऽध्यायः, एकोनचत्वारिंशत मन्त्रः।
2. मत्स्यपुराणे - अ0 252

पुराणेषु प्रकृष्टं वास्तुविज्ञानं दृश्यते। ज्योतिषकल्पयोः च ततोऽप्यधिकं वास्तुवर्णनं प्राप्यते। अन्यच्च पुराणेषु तन्त्रेषु च ये वास्तुशास्त्राचार्याः वास्तुशास्त्रप्रवर्त्तकाः वा परिगण्यन्ते तेषु बहवो वैदिकर्षयः पुरातनार्याश्च शास्त्रप्रणेतारः सन्ति। वास्तुशिल्पशास्त्रीयग्रन्थेषु अग्निपुराणहयशीर्षपञ्चरात्रेषु आगमेषु च विलोक्यते तेनेदं विभावनीयं भवति यत् प्रासादस्थापत्यं दर्शनदृष्ट्यानुप्रणीतं पदे - पदे - प्रत्यक्षमनुभूयते।

जगद्धिताय वास्तुपुरुषस्योत्पत्तिः इति विश्वकर्मा स्वीकरोति भविष्यपुराणे। तत्र कृतयुगे महाभूतं समुद्भूतं येन स्वीयविपुलवपुषा सकलो ब्रह्माण्डः आच्छादितः। तं महाभूतं समवलोक्य सर्वे देवाः भयाकुलाः सन्तः विधातुः सकाशं गतवन्तः। यथोक्तम् -

पुराकृतयुगे ह्यासीद् महद्भूतं समुत्थितम्।
व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं ततः।।

तद् दृष्ट्वा विस्मयं देवा गता सेन्द्रा भयावृताः।
ततस्तैः क्रोधसन्तप्तैः गृहीत्वा तमथासुरम्।।

विनिक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुराः।
तमेव वास्तुपुरूषं ब्रह्मा कल्पितवान् स्वयम्[3]।।

विश्वकर्मप्रकाशे च -

भूतभावन भूतेश महद्भयमुपस्थितम्।
क्व यास्यामः क्व गच्छेमः वयं लोकपितामहः।।[4]

ततः इन्द्रादयः देवा तं महाबलं महासुरं अधोमुखं निक्षिप्तवन्तः। तमेव महाबलं ब्रह्मा वास्तुपुरुषं कल्पितवान्। ततः स वास्तुपुरुषः महाशब्दं कुर्वन् प्रोक्तवान् - भो प्रभो! त्वया समस्तजगत् सृष्टम् इमे देवाश्च मां निरापराधं भृशं पीडयन्ति इति। ततः प्रसन्नेन ब्रह्मणा ग्रामे, नगरे, दुर्गे, पतने, प्रासादे, जलोद्यानेषु च वास्तुपुरुषाय पूजायाः विधानं कृतम्। अतः गृहारम्भे प्रवेशे महोत्सवे जीर्णोद्धारे शिलान्यासादिके च सदैव वास्तुपूजा कर्तव्या-

नानाक्षतसमोपेतं वस्त्राऽलंकारसंयुतम्।
ब्रह्मघोषेण वाद्येन गीतमङ्गलानि स्वनैः।।

पायसं भोजयेद्विप्राणां होमन्तु मधुसर्पिषा।
वास्तोष्पतेः प्रतीजानीहि मन्त्रेणानेन सर्वदा।।

---

3. भविष्यपुराणः - मध्यमपर्वः, अ0 14
4. मत्स्यपुराणः -भवननिर्माणाध्यायः

सूत्रपाते तथा कार्य्यमेवं स्तम्भोदये पुनः।
द्वारवंशोच्छ्रये तद्वत्प्रवेशसमये तथा[5]॥

वास्तुशास्त्रस्य विकसितस्वरूपस्य ज्ञानं वेदेषु मत्स्यपुराणे, वराहपुराणे, ब्रह्मवैवर्तपुराणे, स्कन्धपुराणे, अग्निपुराणे, देवीभागवतपुराणे, गरुड़पुराणे, भविष्यपुराणे, विष्णुधर्मोत्तरपुराणे, श्रीमद्भागवतपुराणे, वाल्मीकीरामायणे एवं महाभारते च सम्यक्प्रकारेण समुपलभ्यते। बृहद्वास्तुमालायां वास्तुपुरुषस्य सम्यक्प्रकारेण प्रतिपादितमस्ति। समराङ्गणसूत्रधारो वास्तुशास्त्रीयपुराणमस्ति। तत्र सप्तमाध्याये वास्तुविज्ञानस्य व्यापकस्वरूपस्य विषयाणां पौराणिकावतारणा कृता वर्तते।

गृहनिर्माणारम्भे सर्वप्रथमं शिलान्यासो भवति। आग्नेयकोणं सम्पूज्य प्रथमां शिलां संस्थाप्य सर्वाः शिलाः प्रदक्षिणाक्रमेण न्यस्यन्ते। यथोक्तं मत्स्यपुराणे –

वास्तूपशमने तद्वद्द्वास्तुयज्ञस्तु पञ्चधा।
ईशाने सूत्रपातः स्यादाग्नेये स्तम्भरोपणम्॥
प्रदक्षिणा प्रकुर्वीत वास्तोः पदविलेखनम्।
तर्जनी मध्यमा तथाङ्गुष्ठस्तु दक्षिणे॥

तत् खननं कस्यां दिशि भवेत् एतदर्थं राहोर्मुखपुच्छविचारः क्रियते। राहोर्मुखपुच्छे कदापि खननं न करणीयम्। यस्मिन् भागे नागस्य शरीराङ्गानि न स्युः तस्मिन् भागे खननं शुभावहं भवति। देवालयनिर्माणे, गृहारम्भे, तडागारम्भे वा सूसर्यराशिसंचरणवशाद्राहोर्मुखपुच्छविषये जानीयात्। अस्य वास्तुशास्त्रस्य वैशिष्ट्यं वैदिकाकालादारभ्य संप्रत्यपि सततपरिचर्चायामुपलभ्यते। साम्प्रतं वास्तुशास्त्रस्योपयोगिता गृहनिर्माणे पदे-पदे प्रत्यक्षं स्वीक्रियते।

वास्तुपुरुषस्य स्थितिज्ञानम् –

सवेदास्तिथयोर्द्विघ्ना नामाक्षर समन्विता।
त्रिभिश्चैवहरेद्भागं शेषः पुरुष उच्यते॥
एके च वसते स्वर्गे द्वाभ्यां पातालमेव च।
शून्ये तु मृत्युलोके स्यादिति पाराशरोऽब्रवीत्॥
पायसं भोजयेद्विप्राणां होमन्तु मधुसर्पिषा ।
वास्तोष्पतेः प्रतीजानीहि मन्त्रेणानेन सर्वदा ॥
सूत्रपाते तथा कार्य्यमेवं स्तम्भोदये पुनः ।

---

5. वृहद्वास्तुमाला – टीकाकारः, हरिशंकरपाठकः, श्लोक संख्या – 123,124,125

द्वारवंशोच्छ्रये तद्वत्प्रवेशसमये तथा[6] ॥

ग्रामवासे काकिणीविचारः-

स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा पर वर्गेण योजयेत्।
अष्टभिस्तु हरेद्भागं योऽधिकः स ऋणी भवेत्[7]॥

सूत्रम् -

$\frac{(\text{स्वनामवर्ग} \times 2) + \text{ग्रामवर्गसंख्या}}{8}$ = शेषम् व्यक्तिकाकिणी। एवमेव ग्रामकाकिणी अपि साधनीया।

यस्या काकिणी अधिका स्यात् स द्वितीयेन लाभान्वितो भवति।

भूमिलक्षणम् -

सुगन्धा ब्राह्मणी भूमी रक्तगन्धा तु क्षत्रिया।
मधुगन्धा भवेद्वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिका॥

प्रशस्तभूमिः गजपृष्ठः -

दक्षिणे पश्चिमे चैव नैर्ऋत्ये वायुकोणके।
एभिरुच्चा यदा भूमिर्गजपृष्ठाऽभिधीयते॥

यस्य दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्य, वायव्यश्च भागाः उन्नता सा गजपृष्ठभूमिः, भवति।

निवासफलम्-

गजपृष्ठे भवेद्वासः स लक्ष्मीधनपूरितः।
आयुर्वृद्धिकरो नित्यं जायते नात्र संशयः॥

गजपृष्ठभूमौ निवासेन धनायुष्यवृद्धिः भवति।

गृहनिर्माणमहत्वम् -

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्।
इष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे[7]॥

---

6. वृहद्वास्तुमाला - हरिशंकरपाठकः, श्लोक संख्या - 4
7. वृहद्वास्तुमाला - हरिशंकरपाठकः, श्लोक संख्या - 5

क्रमेण यदि तृणेः गृहनिर्माणं क्रियते तदा कोटिगुणं फलं, मृत्तिकया दशगुणितं फलं, इष्टिकया शतगुणितं फलं तथा च प्रस्तरेण यदि गृहनिर्माणं क्रियते तर्हि अनन्तं फलं प्राप्यते।

वर्गज्ञानम् –

वर्गाष्टकस्य पतयो गरुडो विडालः सिंहस्तथैव शुनकोरगमूषकैणाः।
मेषः क्रमेण गदिताः खलु पूर्वतोऽपिः यः सः रिपुरेव बुधैर्विवर्ज्यः[8]॥

स्पष्टार्थ चक्रम्

अवर्गः 1	कवर्गः 2	चवर्गः 3	टवर्गः 4	तवर्गः 5	पवर्गः 6	यवर्गः 7	शवर्गः 8	**वर्गाः संख्याश्च**
पूर्व	अग्नि	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान	**दिक्**
गरुड़	विडाल	सिंह	श्वान	सर्प	मूषक	मृग	मेष	**स्वामीनां नामानि**
8	5	6	4	7	1	3	2	**स्वराङ्काः**

मध्येऽत्युच्चं भवेद्यत्र नीचं चैव चतुर्दिशम्।
कूर्मपृष्ठा भवेद्भूमिस्तत्र वासो विधीयते।।[9]

कूर्मपृष्ठे भवेद्वासो नित्योत्साहसुखप्रदः।
धनधान्यं भवेत्तस्य निश्चितं विपुलं धनम्।।[11]

यस्य मध्यभागोन्नतं तथा च चतुर्दिक्षु नतं सा कूर्मपृष्ठभूमिः भवति। कूर्मपृष्ठभूमौ निवासेन भौतिकसुख – सम्पदादीनां प्राप्तिर्भवति।

ध्रुवादिषोडशगृहाः

तत्र दैत्यनागपृष्ठलक्षणान्विता भूमि अशुभा भवति।

ध्रुवधान्ये जयनन्दौ खरकान्तमनोरमं सुमुख – दुर्मुखोग्रं च।
रिपुदं वित्तद नाशे चाक्रन्दं विपुल विजयाख्यं स्यात्[12]॥

गृहप्रवेशमुहूर्त्तः –

सौम्यायने ज्येष्ठतपोऽन्त्यमाधवे यात्रानिवृत्तौ नृपतेर्नवे गृहे॥

8. वृहद्वास्तुमाला – हरिशंकरपाठकः, लोक संख्या – 17
9. वास्तुरत्नाकरः – भूपरिग्रहप्रकरणम् , श्लोक संख्या – 23
10. मुहूर्त्तचिन्तामणि – वास्तुप्रकरण, श्लोक संख्या – 3,4
11. मुहूर्त्तचिन्तामणि – वास्तुप्रकरण, श्लोक संख्या – 10
12. मुहूर्त्तचिन्तामणि – वास्तुप्रकरण, श्लोक संख्या – 18

स्याद्वेशनं द्वाःस्थमृदुध्रुवोडुभिजन्मर्क्षलग्नोपचयोदये स्थिरे[14] ॥

उत्तरायणे मकरार्कात् मिथुनार्क यावत् ज्येष्ठमासः, माघमासः, फाल्गुनमासः, वैशाखमासश्च, एषु मासेषु गृहस्य द्वारदिशि स्थितेषु नक्षत्रेषु मृगान्त्यचित्रानुराधा-उत्तरात्रयरोहिणीनक्षत्रेषु जन्मराशिः जन्मलग्नम् चानयो उपचये (त्रिषडेकादशदशभवनोपगते लग्नोदये), स्थिरे (स्थिरलग्नोदये च), नृपतेः यात्रानिवृत्तौ नूतननिर्मिते गृहे च प्रवेशनं शुभं भवति।

---

13. मुहूर्त्तचिन्तामणि – वास्तुप्रकरण, श्लोक संख्या – 26

14 मुहूर्त्तचिन्तामणि – गृहप्रवेशप्रकरण, श्लोक संख्या – 1

वायुतत्वानुशीलनम्

डॉ. योगेन्द्रकुमारशर्मा

वस्तुतः **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[1] इति समुद्घोषयता मनुना समग्रस्यापि धर्मस्य मूलं वेद इति स्वीकृतम्। अतः धर्मज्ञानाय षडङ्गा साहितस्य वेदस्य ज्ञानमावश्यकमस्ति। तत्रापि षडङ्गेषु ज्योतिषमन्यतममिति न केषां विमतिः। यथा चोक्तम्–

वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमुदीरितम्।

ज्योतिषशास्त्रस्य मुख्यतः त्रयो विभागाः सन्ति। येषु संहितास्कन्धे वास्तुशास्त्रस्य वर्णनं लभ्यते। वास्तुशब्दस्याभिप्रायः निवासोपयुक्तं स्थानं भवति। वसन्ति जनाः यत्र इति वास्तु–गृहम्। 'वस्' गृहनिर्माणे - भूमिलक्षणं भूमिपरीक्षणं दिशाज्ञानं मासनक्षत्रादिविचारः वास्तुशास्त्रस्य विषयाः सन्ति।

वास्तुशास्त्रे पञ्चमहाभूतानां यथा आकाश–वायु–तेज–जल–पृथ्वीत्यादीनां वर्णनम् अपि वर्तते। एतेषु महाभूतेषु 'वायु' इति महाभूतस्य समग्रवर्णनम् अत्र अस्मिन् शोधपत्रे मया प्रस्तूयते।

वायोरुद्भवः कथं जातम्? वायोः लक्षणं किम्? इत्यस्मिन् विषये भारतीयदर्शनशास्त्रेषु विस्तृतं प्रामाणिकं वर्णनमुपलभ्यते। वैशेषिकदृष्ट्या सप्तपदार्थाः[7] सन्ति। तेषु पृथिव्यप्तेजो–वायु–आकाश–काल–दिक्–आत्मा–मनांसि नवैव द्रव्याणि।[8] अत्र वायोः विवेचनप्रसंगे प्रथमं वायोर्लक्षणं वर्ण्यते, यथा –रूपरहितस्पर्शवान्वायुः।[9] स द्विविधो - नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः, अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः–शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीराऽन्तःसञ्चारी वायुः प्राणः, स चैकोऽपि उपाधिभेदात् प्राणाऽपानादिसंज्ञां लभते।[10] अत्र प्राणादि–पञ्चवायु अस्माकं शरीरे एव तिष्ठति यथा - **प्राण–अपान–व्यान–उदान–समानाः।**[11]

एतेषां स्थानमपि तत्रैवोल्लिखितम् , यथा -

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।।[12]

---

1. मनुस्मृतिः 2.6
7. द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवाय–अभावाः सप्त पदार्थाः। (तर्कसंग्रह,पृ. 3 ,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन)
8. तत्रैव तर्कसंग्रहे,पृ.3
9. तत्रैव,पृ.11
10. तत्रैव तर्कसंग्रहे पृ.11
11. वेदान्तसारः 2.77
12. तर्कसंग्रहे पृ.11

एतदतिरिच्य नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जयादि[13] पञ्च प्राणा अपि अस्माकं शरीरे निवसन्ति। अत्र नागः उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः।[14] वायोरुद्भवप्रकरणे मनुना स्वग्रन्थे लिखितम्-

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवानञ्जायते वायुः सर्वे स्पर्शगुणो मतः।।[15]

अस्माभिर्ज्ञायते यत्वायौ प्राणशक्तिः (Oxygen) वर्तते। ऋग्वेदे वायुदेवतायाः वर्णनमस्ति। तत्रोल्लिखितं यत् वायुः सर्वे जीवधारिणां प्राणशक्तिरूपेण विद्यते वसुन्धरायाम्। तदैव पीयूषनिधि अस्ति। तत् औषधिरूपेण कार्यं करोति। हृदयरोगानपाकरोति। दीर्घायुष्यप्रदातास्ति। प्राणशक्तिवशाद् वायु अस्माकं जनकः, भ्राता- मित्रञ्चास्ति।[16]

वायौ नियुत्-शक्तिः (Nitrogen) वर्तते। ऋग्यजुर्वेदयो नाइट्रोजन इत्यस्य वर्णनं नियुत् शब्देन मिलति। अस्मादेव कारणाद् विभिन्नस्थलेषु अनेकेषु मन्त्रेषु वायुः नियुत् नाम्ना ज्ञायते।[17] वायौ नाइट्रोजन इत्यनेन शत सहस्रञ्च शक्तियुक्तं चोक्तम्।[18] विषयेऽस्मिन् ऋग्वेदे उद्धृतमस्ति।[19] तैत्तिरीयसंहितायामपि लिखितम् वर्तते यत्- नियुत्वत्या यजति (नियुत्वद्देवताकः वायुः)।[20]

वायोरुद्भवविषये सामान्यतः वयं जानीमः यद्वायुः महाभूतोऽस्ति। वस्तुतः किञ्चिदप्येदं जगदस्ति तद् सर्व पञ्चभूतात्मकम् एव। अत एतेषु महाभूतेषु वायोरुद्भवः आकाशाद् एव सञ्जायते यथा तैत्तिरीयोपनिषदि वर्णनं मिलति -

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशःसम्भूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः।। अद्भ्यः पृथिवी।[21]

सूर्योपनिषदि तु सर्वं खलु इदं जगत् सूर्याज्जायते तत्र वायोरुद्भवविषये लिखितमस्ति- आदित्याद् वायुः जायते।[22]

---

13 . वेदान्तसारः 2.84
14 . तत्रैव 2.85
15 . मनुस्मृतिः 01.76
16. यददो वात ते गृहे - अमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे।। ऋग्वेदः 10.186.1-3
17 . नियुत्वान् वायो- आ गहि। यजुर्वेद 27.29
18 . आ नो नियुद्भिः शतिनीभिः .... सहस्त्रिणीभिः। यजु. 27.28
19 . सहस्रेण नियुता नियुत्वते .। ऋग्वेदः 1.135.1
20. तैत्ति. संहिता 2.6.2.3
21. तैत्तिरीयोपनिषद् - ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाकः
22. उद्धृतम् भारतीय ब्रह्माण्ड विज्ञान, पृष्टः 57

एवमेव प्रश्नोपनिषदि स्पष्टमस्ति यत् -

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वीन्द्रियं मनोऽन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।[23]

इत्यस्य पुष्टिः सूर्यसिद्धान्ते अपि वर्तते।[24] उपनिषत्सु संहिताविषये उपासनाविधेः वायुः संहितायाः उत्तरपूर्वपक्षयोः अर्थात् पृथ्वी-स्वर्गयोः संधानमेव।[25] वायुः साक्षात् परब्रह्मणः स्वरूपमस्ति।[26] अस्माकं शरीरे वायुः प्राणवायोः रूपे स्थितः अतः महर्षिवेदव्यासः कथयति -

प्राणो ब्रह्मेति व्याजानात्।प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।[27]

ऋग्वेदे वायोः स्वरूपं देवत्वमभिधीयते।[28] वायुः समस्तेषु देवेषु अग्रगण्योऽस्ति।[29] वायुः त्वष्टुः जामाताऽस्ति।[30] वायुः मरुतस्य जनकः।[31] इन्द्रस्य सारथिरस्ति।[32] ऋग्वेदे वायोरपर नाम वातः वर्तते। संभवतः एतदेव भौतिकवायोः स्वरूपमस्ति।[33] प्राणो हि समस्तभूतानामायुः।[34] विराट-पुरुषस्य श्रौतादुत्पन्नोऽयं वायुः। यथा-

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोःसूर्य्योऽअजायत।।
श्रौत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।।[35]

वायोः वैशिष्ट्यम् उल्लिखन् आयुर्वेदे वर्णितमस्ति यत् -

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः।।[36]

---

23. प्रश्नोपनिषद्, षष्ठ प्रश्न , मंत्र 4
24. मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धरा क्रमात्।
    गुणैकवृद्ध्या पञ्चेति महाभूतानि जज्ञिरे।। सूर्यसिद्धान्तः 12.23
25. पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्।। तैत्तिरीयोपनिषद् -शिक्षावल्ली तृतीयोऽनुवाकः
26. नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।। तत्रैव प्रथमनुवाके।
27. तत्रैव, भृ.व.तृतीयानुवाकः
28. आदेवासोवाताय, ऋग्वेद 7.92.4
29. वायो मन्दानो अग्रिमः,ऋग्वेद 08.26.25
30. ऋग्वेद,8.26.21-22
31. ऋग्वेद,1.134.4
32. ऋग्वेद,4.46.2, 4.48.2
33. ऋग्वेद,10.168.1
34. तै.उ., 2.3
35. रुद्राष्टाध्यायी 2.12
36. चरकसंहिता, 28.02

छान्दोग्योपनिषदि तु ब्रह्मणः चतुर्थपाद-रूपेण स्वीकृतो वायुः –

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च।[37]

वायो अपरनाम-मरुत्।[38] आंग्लभाषायां मरुद्-गण इत्यस्य Electro-magnetic Waves इत्यर्थः।[39] मरुदादिगणाः वृष्टेः कारणम्। अथ च मेघानां स्वामी वा अन्न-जलयोः प्रदाता तथा च जगतः नियामकः।[40] मरुत्सु चुम्बकीयशक्तिः (Magnetic Power) विद्यते। अस्मादेव कारणादेतेषाम् अयोदंष्ट्र इति उपनामरूपेणास्माभिर्ज्ञायते अपि च एतेषामन्ते अयस् (चुम्बकीयशक्तिः) भवति। विकिरण (Radiation) इत्यस्मात् कारणाद् विधावतः नाम्ना विधियते।[41] विद्युत् (Electricity) मरुतां जनक इति ऋग्वेदे उच्यते।[42]

वस्तुतः मरुतां सप्तबृहद्गणाः (Grup) भवन्ति।[43] वेदानुसारेणैतेषां सप्तमरुद्वर्गाणां सप्त उपभेदा अपि भवन्ति अतः मरुतां संख्या एकोनपञ्चाशत् (49) भवन्तीति।[44] तेषां नामानि क्रमशः प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान-नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय-प्रवह-विवह-शुभ-संवह-परिवह-उद्वह-आवह-शंकु-कास-प्रावह-शास-अनिल-प्रतिभ-कुमुद-अनल-कांत-शिव-श्वेत-रक्त-कृष्ण-जित-अजित-झञ्झाद्योत-ऋतु-सिद्धि-पिंग-शुचि-शौम्य-काम्य-मारुत-हनु-कंचन-मण्डूक-भीम-कपि-संवर्तक-जड-अतिजड-संणताश्च प्रवर्तन्ते।[45] ऋग्वेदे तु लिखितं यदेतेषु प्रत्येकं शतगुणिता शक्तिरस्ति।[46] शतपथब्राह्मणे तु वर्तते यत् मरुतगणाः वृष्टेः जनकाः स्वामिनो वा।[47] एते एव मेघानां निर्माणम् अथ च वृष्टिं कुर्वन्ति।[48] मरुद्गणानां पार्श्वे तु स्वस्य विद्युतमपि अस्ति तथा च एते स्वस्य विद्युत-चुम्बकीय-क्षेत्रम् (Electro-magnetic field) अप्युत्पादयन्ति।[49] ऋग्वेदस्य मरुत्सूक्ते[50] मरुद्गणानां (Electro&magnetic Waves) विस्तृतरूपेण वर्णनमस्ति।

लक्षणाधारेण वृष्टिसन्दर्भे वायुः भावक-स्थापक-ज्ञापकाश्चेति त्रिधारूपे विभज्यते।[51] यथा –

37. छान्दोग्योपनिषद् 3.18.4
38. आप्टेकोशः, पृष्ठसंख्या 778
39. वेदो में विज्ञान, पृ.32
40. अथर्ववेद 4.27.1-7
41. मरुतः .....अयोदंष्ट्रान् विधावतः ..। ऋग्वेद 1.88.5
42. हस्कराद् विद्युतस्परि-अतो जाता अवन्तु नः। मरुतः .....।। ऋग्वेदः 1.23.12
43. सप्त हि मारुता गणः। शत. ब्रा. 2.5.1.23
44. सप्त हि मारुता गणः। शत. ब्रा. 2.5.1.25
45. प्राचीन कथा-संदर्भ कोश, पृष्ठ संख्या 251
46. सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः। ऋग्वेदः 5.52.17
47. मरुतो वै वर्षस्येशते। शत.ब्रा. 9.1.2.5
48. वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः। ऋग्वेदः 5.53.6.
49. आ विद्युन्मद्भि- मरुतः स्वर्काः। ऋग्वेदः 1.28.9
50. ऋग्वेदः 5.87
51. वातस्त्रिधा भावकश्च स्थापको ज्ञापकस्तथा।
    अभ्राद्युत्पादयेदाद्यो दिवि संचारयेत् परः।। कादम्बिनी 3.6

क्र.सं.	वायोःभेदः	लक्षणम्
1.	भावकः	ज्ञापको भाविनीं वृष्टिं पूर्वमेव निवेदयेत्। आद्यस्तु वृष्टिं तत्काले कुर्यात्कालांतरेऽपि वा।।[52]
2.	स्थापकः	आर्तवो नियतो वायुः स्थापकः स्थापयेद्दिवि। समुद्रादुत्थितं तोयं दोषाद् व्यभिचरत्यपि।।[53]
3.	ज्ञापकः	ज्ञापका धारणाकाले ये चोक्ता गर्भमासिके। तिथिसम्बन्धजा वाता इत्थं वातस्त्रिधोदितः।।[54]

वायोराधारः भेदाश्च -

वायुमाग्लभाषायांAIR इति कथ्यते तथा च पवनम् WIND इत्युच्यते। वस्तुतः वायुपवनयोः मध्ये किञ्चिदन्तरमस्ति यथा यः स्थिरः वायुः वर्तते तद्वायुः नाम्नाविधीयते। अथ च यः प्रवाहमानः वायुः भवति सः पवनः नाम्ना ज्ञायते। वायुः यद् वर्तते तदनैकानां वायूनाम्मिश्रणमस्ति, अस्य आवरणं नाम वायुमण्डलम् उच्यते। वायुमण्डलं भूमेः गुरुत्वाकर्षणवशादेव संलग्नस्तीति।[55]

वर्षायाः वायोश्च अन्योन्याश्रितसम्बन्धोऽस्ति। वर्षायाः कृते वायौ जलवाष्पकणानाम् उपस्थिति अनिवार्योऽस्ति। इत्थमेव वायोः समुचितस्थितिः आवश्यकी अस्ति। यतो हि वायौ पर्याप्तजलवाष्पेन साकम् उपयुक्तवायोरभावान्मेघानामुत्पत्तिः वृष्टिश्च न भवितुं शक्यते। मेघनिर्माणार्थं जलवाष्पयुक्तवायुमूर्ध्वं नयतः संतुलितस्योर्ध्वगामिनश्च वायोरावश्यकता भवति। ऊर्ध्ववायुः जलवाष्परूपमेघं देश-देशान्तरेषु भ्रमणं कारयन् यदा तद्भारं वोढुमक्षमो भवति तदा शीतलजलवाष्पयुक्ताः मेघाः द्रवीभूत्वा वर्षन्ति। अतो मरुत्सूत्रे वर्णितमस्ति यद्वर्षाकाले स्वरश्मिद्वारा आहृत्यजलेन सूर्यः वायुमेव तृप्तीकरोति।[56] वस्तुतो वायुः मेघोत्पत्तिकालादारभ्य वृष्टिकालपर्यन्तं प्रत्येकं-क्षणे मेघेन सहैव वसति। अतो वायोरानुकूल्यं मेघानां कृते आवश्यकमस्ति। मेघगर्भकाले तीव्रः रुक्षश्च वायुः प्रचलति चेत्तदा मेघगर्भनाशः सम्भावितोऽस्ति। अनुकूलो वायुः सदा कल्याणकारी भवति। अतो वायोः सुदृढ-आधारो वृष्ट्याः कृते अत्यन्तमावश्यकोऽस्ति।[57]

वायोः भेदाः -

वस्तुतोऽस्माकं शास्त्रेषु सप्तवायोरावरणानि उल्लिखितानि सन्ति। ते क्रमशः आवहः (भूवायुः)

52. तत्रैव 3.7
53. तत्रैव 3.9
54. तत्रैव 3.10
55. उद्धृतं भारतीय वृष्टिविज्ञान परिशीलन, पृष्ट-113
56. आदित्य एवं तर्पयिता येषां ते कधप्रियः (मरुतः)।
मरुतो हि वर्षासु रश्म्याहृतैरूदकैरादित्येन तर्प्यन्ते।। ऋ.सं.म.सू.(उद्धृतं भा.वृ.वि.परि.पृ. 92)
57. उद्धृतं भारतीय वृष्टिविज्ञान परिशीलन पृ.92

प्रवह उद्वहः संवहः सुवहः परिवहः परावहश्च नाम्ना परिगण्यन्ते। उक्तञ्चात्र श्रीपतिना -

स्यादावहः प्रवह उद्वहसंवहौ च स्वादिर्वहः परिवहश्च परावहश्च।
स्कन्धाः क्रमेण मरुतामिति सप्तसंख्या विश्वम्भरावहनमावहमाहुरेके॥[58]

पृथिवीं परितो वायोः सप्तावरणानि विद्यन्ते। आवरणस्य अन्या संज्ञा वायुमण्डलमस्ति। पृथिव्याः वायुमण्डलं सततरूपेण गुरुत्वाकर्षणस्य प्रभावेन पृथिव्या सह संलग्नं भूत्वा परिभ्रमति। प्रथम आवहः, द्वितीयः प्रवहः, तृतीय उद्वहः, चतुर्थः संवहः, पञ्चमः सुवहः,(विवहः)षष्ठः परिवहः सप्तमः परावह एते सप्तवायवोऽनेन क्रमेण भूमेरुपर्युपरिपरिभ्रमन्ति। मनुस्मृतौ[59] वायुपुराणे[60] महाभारते[61] अन्येषु पुराणेषु च सप्तवायुनामुल्लेखो विस्तृतरूपेण वर्तते। एकस्मिन् प्रसङ्गे महाभारते कथितं यत् **'इमे दितेः पुत्राः परमाद्भुताः'**[62] सन्ति। जैनग्रन्थतत्वार्थसूत्रस्य तृतीयाध्याये सुखबोधिनीटीकायामुल्लिखितं यत् - भूमेरुपरि घनवात-अम्बुवात-तनुवाताश्च त्रयो वलयाः सन्ति।[63] ब्रह्माण्डपुराणेऽपि किञ्चिदेतादृशं वर्णनमुपलभ्यते। यथा-

पृथिव्या मण्डलं कृत्स्नं घनतोयेन धार्यते।
घनोदधिः परेणाथ धार्यते घनतेजसा॥

वाह्यतो घनतेजश्च तिर्यगूर्ध्वं तु मण्डलम्।
समन्ताद् घनवातेन धार्यमाणं प्रतिष्ठितम्॥[64]

घनवातं तथाकाशम् आकाशं च महात्मना।
भूतादिनां वृतं सर्वं भूतादिर्महतावृतः॥[65]

भूमेरुपरि सप्तवायूनां प्रसङ्गे सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्यैः निम्नाङ्कितरूपेण कथितम्–

भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वः स्यादुद्वहस्तदनु संवहसंज्ञकश्च।
अन्यस्ततोऽपि सुवहःपरिपूर्वकोऽस्माद् बाह्यः परावह इमे पवनाःप्रसिद्धाः॥

01. आवहः (भूवायुः)

58 . उद्धृतम् अर्वाचीनं ज्योतिर्विज्ञानम् , पृष्ठसंख्या - 49
59 . मनुस्मृतिः -1.26 (उद्धृतम् भुवनकोशविमर्शः पृ. - 105)
60 . वायुपुराणम्-49.163 (उद्धृतम् भुवनकोशविमर्शः पृ. - 105)
61 . महाभारते, शान्तिपर्वः - 328.36-52 (उद्धृतम् भुवनकोशविमर्शः पृ. - 105)
62 . उद्धृतम् भुवनकोशविमर्शः पृ. - 105
63 . वेदविद्या निदर्शन पृ. १३२-१३३(उद्धृतम् भुवनकोशविमर्शः पृ. - 105)
64. ब्रह्माण्डपुराणम् १.२१- २५-२७ (तत्रैव)
65 . सि.शि.गो.मध्यमगति वासना, श्लो.१ (तत्रैव)
66 . उद्धृतम् अर्वाचीनं ज्योतिर्विज्ञानम्, पृष्ठ 49

आवहश्च भूवायुरस्माकमाधुनिकशब्दावल्यां वायुमण्डलम्।[66] भूमेरुपरि प्रथममार्गः 'आवहः' इति नामकवायोर्वर्त्तते परन्तु महाभारतस्यानुसारं भूमेरुपरि प्रथममावरणं प्रवहवायोस्तथा च द्वितीय-मावरणमावहवायोरस्ति।[67] अयङ्क्रमः ज्योतिषशास्त्रे नोपलभ्यते। ज्योतिषशास्त्रे तु प्रथममावह द्वितीयञ्च प्रवहः। अन्ये सर्वेऽवशिष्टावरणाः सर्वत्र समानरूपेण दृश्यन्ते। आवहवायुः धूमजा नाम ऊष्मजानामभ्रसंघातानां मेघानां प्रेरकोऽस्ति। अस्मिन् आवहवायुसंस्थाने विद्युद्गुणविहीनाः निर्घोषाः(मूकाः) जीमूतमेघाः निवसन्ति।[68] भास्कराचार्यानुसारेणास्य वायोः क्षेत्रम्भूमेरुपरि द्वादशयोजनपर्यन्तमस्ति।[69] अस्मिन् भूवायौ सहजमेघानाञ्चपलाया इन्द्रधनुषः गन्धर्वनगरादीनाञ्च स्थितिर्भवति। आवहवायुविषये आचार्यश्रीपतिमहोदयानां विचारा अत्रोपस्थाप्यन्ते-

निर्घातोल्काघनसुरधनुर्विद्युदन्तः कुवायोः।
सन्दृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वं तथान्यत्।।[70]

2. प्रवहः

भूवायुमण्डलोपरि द्वितीयः प्रवहवायुमण्डलोऽस्ति। प्रसङ्गेऽस्मिन् भास्कराचार्यैरुक्तं यथा-

तदूर्ध्वगो यः प्रवहः स नित्यं प्रत्यग्गतिस्तस्य तु मध्यसंस्था।।
नक्षत्रकक्षाखचरैः समेतो यस्मादस्तेन समाहतोऽयम्।
भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन।।[71]

अस्य वायोर्गतिरेकरूपा स्थिरात्मिका पश्चिमाभिमुखी मध्यमा गतिरस्ति। अस्य वायोः प्रभावेन सूर्यादीनाङ्ग्रहैः सह क्रान्तिवृत्तस्थानि प्रसिद्धानि सप्तविंशतिनक्षत्राणि भ्रममाणानि दृश्यन्ते परन्तु नक्षत्राणाङ्गतिर्नैव भवति अतस्तेषां संज्ञा नक्षत्रम्। अस्मिन् भचक्रे ग्रहाः प्रवहवायोः प्रभावेण प्रत्यङ्मुखं गच्छन्तो प्रतिक्षणं विलक्षणप्रकारेण पूर्वाभिमुखं गमनं कुर्वन्तीति दृश्यन्ते। ग्रहाणां पूर्वाभिमुखीगतिविषये भास्करोक्तम्मतम् -

यान्तो भचक्रे लघुपूर्वगत्या खेटास्तु तस्याः परशीघ्रगत्या।
कुलालचक्राभ्रमिवामगत्या यान्तो न कीटा इव भान्ति यान्तः।।[72]

---

67. अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः।
आवहो नामसंवाति द्वितीयः श्वसनो नदन्।। महा.शान्ति.-328.37(उद्धृतम् भुवनकोशविमर्शः पृ. - 106)
68. वेद विद्या निदर्शन. पृ.325 (तत्रैव)
69. भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदम्। तत्रैव
70. तत्रैव भुवनकोशविमर्शे
71. तत्रैव पृ.109
72. सि.शि. गो.म.ग.वा.श्लो.४(उद्धृतं भुवनकोशविमर्शः पृ. 109)

प्रसंगेऽस्मिन् श्रीपतिमहोदयैरपि सिद्धान्तशेखरे वर्णनं कृतम्।[73] पृथिवीस्थघृततैलादिपदार्थानां स्नेहकारणमस्यवायोः प्रभावेणास्ति। प्रवहाभ्रयोः मिश्रणस्य विचित्रोऽयं परिणामः दृश्यते।[74]

3. उद्वहः

प्रवहवायोरुपरि 'उद्वह' वायोः मार्गोऽस्ति। अयं वायुः जीमूतमेघानां जलमाप्यायति।

प्रसंगेऽस्मिन् महाभारते उक्तम्-

उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति यः।
अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः।।

यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम्।
उद्धृत्याददते चापोजीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः।।

योऽद्भिः संयोज्यजीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति।

उद्वहो नाम बहिष्ठस्तृतीयः सः सदागतिः।।[75]

4.संवहः

उद्वहः वायोरुपरि संवहवायोः मार्गोऽस्ति। अयं वायुः देवानां विमानवहनं करोतीति।

यथा महाभारते-

समूह्यमाना बहुधा येन नीताः पृथग्घनाः।
वर्षमोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति घनाघनाः।।

संहता येन चाविद्धाभवन्ति नदतां नदाः।
रक्षणार्थाय सम्भूता मेघत्वमुपयान्ति च।।

---

73. नौस्थोऽनुलोमगमनादलचलं यथा च चामन्यते चलति नैवमिलाभ्रमेण।
लङ्कासमापरगतिप्रचलद्भचक्रमा भाति सुस्थिरमपीति वदन्ति केचित्।।
यद्येवमम्बरचरा विहगाः स्वनीड मासादयन्ति न खलु भ्रमणे धरित्रयाः।
किञ्चाम्बुदा अपि न भूरिपयोमुचः स्युर्देशस्य पूर्वगमनेन चिराय हन्तः।।
भूगोल वेगजनितेन समीरणेन केत्वादयोऽप्यपरदिग्गतयः सदा स्युः।
प्रासादभूधरशिरांस्यपि सम्पतन्ति तस्माद् भ्रमत्युडुगणस्वचलाऽचलैव।।
तत्रैव 15.15-17 (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शः पृ. 110)

74. उद्धृतं भुवनकोशविमर्शः पृ. 110 (वेद विद्या निदर्शन, पृ.325)

75. उद्धृतं भुवनकोशविमर्शः पृ. 110 (महाभारत शा.प.-328.38-40)

येऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा।
चतुर्थः संवहो नाम वायुः सगिरिमर्दनः।।[76]

5.विवहः

अस्य वायोः मार्ग संवहवायोरुपरि वर्तते। अयं वायुः नभसि मेघान् स्तनयित्नुमानं करोति स्तनयित्नुं प्रेरयति वा। महाभारतेऽस्मिन् प्रसङ्गे लिखितम् -

येन वेगवता रुग्वा रूपेण रुवता नगान्।
वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः।।

दारुणोत्पातसंचारो नभसः स्तनयित्नुमान्।
पञ्चमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः।।[77]

6.परिवहः

परिवहवायोः स्थानं विवहस्योपर्यस्ति। अस्मिन् वायौ आपः दिव्याश्चञ्चलाश्च तिष्ठन्ति।

यस्मिन् परिप्लवा दिव्या वहन्त्यापो विहायसा।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति।।

दूरात् प्रतिहतो यस्मिन्नैकरश्मिर्दिवाकरः।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा।।

यस्मादाप्यायते सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जायतां वरः।।[78]

7.परावहः

परिवहवायोरुपरि परावहवायोः स्थानम्। अस्य वायोः क्षेत्रं द्युलोकपर्यन्तं विद्यते। ऋग्वेदस्याग्निमरुत्सूक्तौ अपि अस्य चर्चा वर्तते। स्कन्धभाष्येऽपि उक्तं महर्षिभिः यद्ये आदित्यस्योपरि दीप्तेः दिवि एकदेशे स्थाने सप्तमे वायुस्कन्धे देवा अधिवसन्ति तैर्मरुद्भिः। परावहवायोः प्रसङ्गे महाभारते निम्नाङ्कितं वर्णनं प्राप्यते -

---

76. उद्धृतं भुवनकोशविमर्शः पृ. 110 (महाभारत शा.प.-328.41-43)
77. महाभारत शान्तिपर्व -328.44-45
78. तत्रैव (म.भा.शा.प.-328.46.48)

सर्वप्राणभूतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति।
यस्य वर्त्मानुवर्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ।।

सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मनित्यया।
ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते।।[79]

यं समासाद्य वेगेन विशोऽन्तं प्रतिपेदिरे।
दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्त्राणि प्रजापतेः।।[80]

येन स्पृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्तते।
परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः।।[81]

वायोर्गतिर्दिशश्च -

वायुगर्भप्रसवकालयोः सूर्यचन्द्रकुजादीनां ग्रहाणां ज्योति-नक्षत्रयोः मेलनेनोत्पादकनाम्नः वायुः प्रभवति प्रकटयति वा।[82] अस्मिन् सन्दर्भे वायोः दिगनुसारेण उत्पादकवायोः किं फलम् इत्यस्य विवरणं निम्नसारण्यनुसारेण वर्तते।[83]

क्र.सं.	वायोःदिशा	वृष्टिफलम्	वैशिष्ट्यम्
01.	पूर्वा	शीघ्रवृष्टिः	दक्षिणस्यां दिशि वृष्टिः।
02.	आग्नेयनी	वृष्टिनाशः	अशुभः युद्धाग्निभम्।
03.	दक्षिणा	अल्पवृष्टिः	पश्चिमस्यां दिशि वृष्टिः।
04.	नैर्ऋत्या	अवृष्टिः	रोगः, दुर्भिक्षः, युद्ध-भयम्।
05.	पश्चिमा	विलम्बेन वृष्टिः	उत्तरस्यां दिशि वृष्टिः।
06.	वायव्या	वायुना सह वृष्टिः	मशकादिकीटोत्पन्नाः भवन्ति।
07.	उत्तरा	शीघ्रवृष्टिः	पूर्वस्यां दिशि वृष्टिः।
08.	ईशानी	सुवृष्टिः	सर्वदा शुभम्।

79. ये नाकस्याधिरोचने दिवि देवास आसते। मरुद्भिन्न आगहि। (उद्धृतं भुवनकोशविमर्शः , पृ. 112)
80. वेदविद्या निदर्शन पृ. 325 (उद्धृतं भु.को.विमर्शः पृ.112)
81. म.भा.शान्तिपर्वः 328.49-52 (उद्धृतं भु.कोशविमर्शः,पृ.112)
82. सूर्यचन्द्रकुजादीनां ज्योतिर्भिर्भैश्च योगतः।
भवेदुत्पातको वायुर्गर्भप्रसवकालयोः।। तत्रैव 3.8
83. उद्धृतम् भारतीय वृष्टिविज्ञान परिशीलन, पृ.97

स्थापकवायो ऋत्वनुसारं फलम्[84] -

क्र.सं.	ऋतुनम	वायु-दिक्	फलम्
01.	हेमन्तः	दक्षिणा	शुभम्
02.	शिशिरः	नैर्ऋति	शुभम्
03.	वसन्तः	पश्चिमा उत्तरा	शुभम्फलपुष्पनष्टाः
04.	शरत्	पश्चिमा पूर्वा	शुभम्फलपुष्पनष्टाः

एवमेव ज्ञापक-वायोः दिगनुसारेण फलमस्ति।[85] यथा -

क्र.सं.	वायोः दिशा	फलम्
01.	पूर्वा	धान्यवृद्धिः
02.	आग्नेयी	अग्निभयम्
03.	दक्षिणा	अल्पवृष्टिः
04.	नैर्ऋति	मध्यम-वृष्टिः
05.	पश्चिमा	उत्तमा-वृष्टिः
06.	वायव्या	वायुना सह प्रचुर-वृष्टिः
07.	उत्तरा	उत्तमा-वृष्टिः पुष्टिश्च
08.	ईशानी	शुभ-वृष्टिः

एवमेव घाघ-भड्डरीपुराणे आषाढीपूर्णिमायां संध्यासमये वायोः परीक्षणमनुसृत्य वायु-प्रवाहानुसारेण संवत्सरस्यः वृष्ट्यानुमानं भवति। यथोद्धृतं भारतीयवृष्टिविज्ञानपरिशीलनग्रन्थे[86] -

क्र.सं.	वायोः दिशा	फलम्
01.	नैर्ऋति	दुर्भिक्षम्।

84. उद्धृतम् भारतीय वृष्टि विज्ञान परिशीलन , पृ. 98
85. तत्रैव
86. आषाढी पूनो को सांझ। वायु देखिए नभ के मांझ।।
नैऋत्य भई बूँद ना परै। राज परजा भूखौं मरै।
अगिन कोन जो बहै समीरा। पडै काल दुःख सहै सरीरा।।
उत्तर से जल फूहौं परै। भूस साँप दोनों अवतरैं।।
पश्चिम समै नीक जायो। आगे परै तुषार प्रमान्यो।।
जो कहुँ बहै इसाना कोना। उपजै विस्वा दो दो दोना।।
जो कहुँ हवा अकासै जाय। परै न बूँद काल परिजाय।।
दक्खिन पश्चिम आधौ समयौ। भडुर जोसी ऐसौ भन्यौ।। उद्धृतं भारतीय वृष्टिविज्ञान परिशीलन,पृ.101

02.	आग्नेयी	शारीरिक-कष्टम्:, दुःखम्।
03.	उत्तरा	सामान्य-प्रचुरवृष्टि:, सर्प-मूषकानां वृद्धि:।
04.	पश्चिमा	समयेन उत्तमावृष्टि:, हिम-तुषारपाताम्।
05.	ईशानी	अल्पन्नोत्पत्ति:।
06.	नैर्ऋत्यति	अर्धधान्यम्।

आषाढपूर्णिमायामवसरे वायो: परीक्षणानुसारेण फलं निम्नमस्ति[87]

क्र.सं.	वायो: प्रवाहदिशा	फलम्
01.	पूर्वा	सर्वधान्यमारोग्यताप्रदायिका।
02.	आग्नेय:	दुर्भिक्षम्।
03.	दक्षिणा	जलाभाव-अवृष्टि:।
04.	नैर्ऋत्य:	दुर्भिक्षम्।
05.	पश्चिमा	सर्वधान्या-वृष्टिप्रदायिका।
06.	वायव्य	नकुल-शलभ-मूषकानाञ्च भयं धन-धान्यप्रदायिका च।
07.	उत्तरा	सुभिक्षम्।
08.	सर्वदिशा	अग्निदहनम्, महर्घ:

बृहत्संहिताग्रन्थे तु वर्तते यत् वृष्टिगर्भा: दिवस-रात्रि-पक्ष-संध्यादीनां विपर्ययेण वर्षन्ति तथैव वृष्टिगर्भाणां वर्षणे दिग्विपर्ययो वायुविपर्ययाश्चापि भवत:। पूर्वस्यां दिशि धृता: वृष्टिगर्भा: पश्चिमायां, तथा च पश्चिमायां दिशि धृता: वृष्टिगर्भाश्च पूर्वस्यां दिशि वर्षन्ति। एवमेव अन्यासु दिक्ष्वपि धृता: वृष्टिगर्भा: दिग्विपर्ययेण वर्षन्ति। अत्र विशेषरूपेणा ध्यातव्य मस्ति यद् वृष्टिगर्भाणां वर्षणे यथा दिग्विपर्ययो भवति तथैव वायुविपर्ययो अपि भवति। तद्यथा पूर्ववायौ धृता वृष्टिगर्भा: पश्चिमवायौ वर्षन्ति। इत्थमेवेतरदिग्गामिषु वायुष्वपि ज्ञेयम्। यथा दक्षिणा उत्तरास्यां, उत्तरा दक्षिणस्याम्। आग्नेया वायव्यां वायव्या आग्नेय्याम्। ऐशानीसम्भूता नैर्ऋत्याम्, नैर्ऋत्यां सम्भूता ऐशान्यामिति।[88]

87. उद्धृतं भारतीय वृ.वि.परिशीलन,पृ.101
88. पूर्वोद्भूता: पश्चादपरोत्था: प्रग्भवन्ति जीमूता:।

पिण्डसाधनं गृहमेलापकविचारश्च

गणेशदत्तचतुर्वेदी

गृहस्य निर्माणं गृहस्वाम्यर्थं सुखकरम् आयुकरं स्वास्थ्यकरञ्च भवेदिति विचारणाय विदुषां मते पिण्डानयनं महत्त्वपूर्णमस्ति। यथा आकाशे देवानां निवासः कल्प्यते तथैव भूमौ जीवानां वासनात् वास्तु कथ्यते। दिग्देशादिविभागेन वास्तुनः अनेके भेदाः सन्ति। अखण्डभूमेरेकः खण्डः पिण्डशब्देनोच्यते। जीवानां श्रेणीभेदेन पिण्डोऽपि विविधः। सर्वे जीवाः सुखपूर्वकं जीवननिर्वाहं पिण्डोपरि कुर्वन्ति। अतः पिण्डसाधनं अवश्यमेव करणीयम्। यथा विवाहे वर-वधूमेलापकविचारः सुखपूर्वकदाम्पत्यजीवनयापनहेतु अनिवार्य अस्ति तथैव गृहेऽपि सुख-समृद्धि-स्वास्थ्यविचारणाय गृहस्वामी गृहपिण्डयोर्मध्ये नक्षत्रगणनानुसारेण शुभाशुभत्वं ज्ञात्वा गृहस्य निर्माणं कर्तव्यम्। विवाहे भिन्ननाडी शुभा परन्तु वास्तुनिर्माणे अशुभप्रदा भवति। तत्र गृहस्वाम्यर्थं यन्नक्षत्रं शुभदं तस्य इष्टनक्षत्ररूपे चयनं कृत्वा अपि च विषमायेषु स्ववर्णाद्यनुसारेण आयचयनं कृत्वा इष्टनक्षत्रायानुसारेण गृहपिण्डनिर्धारणं भवति यथा–

इष्टनक्षत्रसंख्यातः एकमूनीकृत्य पुनः 152 संख्यया गुणयेत्। इष्ट-आयादपि एकमूनीकृत्य-एकाशीति(81)संख्यया गुणयेत्। एतद् द्वयोः गुणनयोः सप्तदश (17)संख्यां योजयेत्। पुनः 216 संख्यया भागमाहरेत्। यदेव शिष्यते तदेव पिण्डमानं भवति।

पिण्डे दैर्घ्यसंख्यात् विभाजनेन या लब्धिः आगच्छति तत्पिण्डस्य विस्तारः। अनेन प्रकारेण विस्तारसंख्यया विभाजनेन या लब्धिः समायाति तद्दैर्घ्यं ज्ञेयम्। तत्र राशिकूटादिकं सर्वे दम्पत्योरिव चिन्तयेत्। यन्नक्षत्रं व्यवहारनाम्ना विवाहोक्तमेलापकविधिना शुभदं स्यात्तदेव स्वेष्टर्क्षं परिकल्प्यम्। अथ ध्वजाष्टायेषु विषम-आय एव वेष्टायः कल्प्यः। ताभ्याम् आयनक्षत्राभ्यां पिण्डस्य ज्ञानं कार्यम्।[1] एकनाडीविषये वास्तुरत्नावल्यामुल्लेखं वर्तते–

प्रभुपण्याङ्गनामित्रं देशग्रामपुरं गृहम्।
एकनाडीस्थितं भव्यं विरुद्धं वेधवर्णितम्॥[2]

अत्रोदाहरणम् – नागराजस्य अनुराधानक्षत्रस्य रोहिण्या सह मेलापकः सम्भवतीति। इष्टभं रोहिणी कल्पितम्। विषमायः सिंहः (तृतीयः)।

---

1 वा. र. व. पृ. 88,89

2 तत्रैव पृ. 88

इष्टनक्षत्रसंख्या 4-1 = 3×152 = 456

आय (सिंह:) 3-1=2×81 = 162

456+162=618+17=635÷216 शेषम् 203

शेषम् 203 इदमेव गृहस्य क्षेत्रफलं

अथ कल्पित दैर्घ्यम् = 29

अनेन भक्त: 207÷29=7 लब्धि:

लब्धि 7 अस्य पिण्डस्य विस्तार:

अथ कल्पितविस्तृति: 7

अनेन विभाजनेन 207÷7 = लब्धि 29 = दैर्घ्यश्च

चन्द्रविद्धं पिण्डं शुभं भवति परन्तु सूर्यविद्धं पिण्डं शुभं नास्ति। यथा -

पूर्वपश्चिमतो दैर्घ्यं सपादं दक्षिणोत्तरम्।
शुभावहं चन्द्रविद्धं सूर्यविद्धं न शोभनम्।।[4]

आयसाधनम्

विस्तरेण हतं दैर्घ्यं विभजेदष्टभिस्तत:।
यच्छेषं स भवेदायो ध्वजाद्यास्तेस्युरष्टधा।।
ध्वजो धूम्रो हरिश्वागौ खरेभौ वायसोऽष्टम:।
पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थिति:।।[5]

एतेषां फलानि -

भूविस्तारेण तद्दैर्घ्यं गुणयित्वा अष्टभिर्भजनेन यच्छेषं तद् ध्वजादिक्रमेण आय: भवन्ति। यथा-एकशेषे ध्वज:, द्विशेषे धूम्र:, त्रिशेषे सिंह:, चतुश्शेषे श्वान:, पञ्चशेषे गौ:, षटशेषे गर्दभ:, सप्तशेषे हस्ती, अष्टशेषे वायस: (काक:) आय: भवति। केषाञ्चिन्मते काकस्थाने उष्ट्र: आया: भवति।

---

3 वा. र. क. 5/5

4 वा. र. क. 5/4

5 वृ. वा मा. आयाद्यानयनम् पृ. 50 श्लो. 3-4

कीर्तिः शोको जयो वैरं धनं निर्धनतासुखम्।
रोगश्चेति गृहारम्भे ध्वजादीनां फलं क्रमात्॥[6]

ध्वजाये कीर्तिः धूमाये शोकः सिंहाये जयः, श्वानाये वैरं गवाये धनं, खराये धनाभावः, हस्त्याये सुखं काकाये रोगञ्चेति फलं ज्ञेयम्।

संख्या	1	2	3	4	5	6	7	8
आय-नामानि	ध्वजः	धूमः	सिंहः	श्वानः	गो	खरः	गजः	काकः
फलानि	कीर्तिः	शोकः	जयः	वैरः	धनः	निर्धनता	सुखम्	रोगः
वा फलानि	बहुधनम्	भ्रमः	लक्ष्मीः	कलहः	धन-धान्यम्	स्त्रीनाशः	पुत्रलाभः	शून्यता
दिशा	पूर्वा	आग्नेया	दक्षिणा	नैर्ऋत्या	पश्चिमा	वायव्या	उत्तरा	ईशानी

अन्योऽपि -

ध्वजे बहुधनं प्रोक्तं धूम्रे चैव भ्रमं भवेत्।
सिंहे च विरला लक्ष्मीः श्वाने च कलहं भवेत्॥

धनधान्यं वृषे चैव खरेषु स्त्रीविनाशनम्।
गजाख्ये पुत्रलाभश्च ध्वांक्षे सर्वत्र शून्यता॥[7]

ध्वजाये धनलाभः, धूम्रे भ्रमः, सिंहे लक्ष्मीः, श्वाने कलहः, वृषे धनधान्यलाभः, खरे स्त्रीविनाशः, गजे पुत्रलाभः, काके अशुभफलञ्च भवति।

स्वस्वस्थाने ध्वजः श्रेष्ठो गजः सिंहस्तथावृषः।
ध्वजः सर्वगतो देयो वृषं नान्यत्र दापयेत्॥

वृष-सिंह-गजाश्चैव दुष्टकर्पटकोटयोः।
द्वीपः पुनः प्रयोक्तव्योः वापी-कूप-सरःसु च॥

मृगेन्द्रमासनेव दद्याच्छयनेषु पुनर्गजः।
वृष भोजनपात्रेषु छत्रादिषु पुनर्ध्वजम्॥

अग्निवेश्मसु सर्वेषु गृहे वह्न्युपजीविनाम्।

---

6 वृ. वा मा. आयाद्यानयनम् श्लो. 5

7 वृहद्वास्तुमाला पृ. 60 श्लो. 12-13

धूमं नियोजयेत् केच्छ्छिवानं म्लेच्छादिजातिषु।।

खरो वेश्यागृहे शस्तो ध्वाङ्क्षः शेषकुटीषु च।
वृषंसिंहगजाश्चापि प्रासादपुरवेश्मसु।।[8]

स्वस्वस्थानेषु यद्यपि सर्वे आयाः शुभाः भवन्ति तथापि ध्वज-गज-सिंह-वृषायाः विशेषेण शुभाः सन्ति। ध्वजाय सर्वत्र शस्तः। वृषः स्वस्थानादन्यत्र न देयः। वृषसिंहगजायाः पुटकर्पटकोटेषु देयाः। गजायाः वापीकूपतडागेषु देयः। अग्निसम्बन्धिकार्येषु गृहेषु अग्निजीविकानां च धूम्रः आयः श्रेष्ठः। म्लेच्छादीनां धूमायः वेश्मानां खरायः कुट्यादिषु काकायः प्रासाद गोगृहेषु वृषसिंहगजायः श्रेष्ठो भवति।

वसिष्ठमते आयविचारः

गजाये वा ध्वजाये वा गजानां सदनं शुभम्।
अश्वालये ध्वजाये च खराये वृषभेऽपि वा।।

उष्ट्राणां मन्दिरं कार्यं गजाये वा वृषे ध्वजे।
पशुसद्म वृषाये च ध्वजाये व शुभप्रदम्।।

शय्यासु वृषभः शस्तः पीठे सिंहः शुभप्रदः।
अन्यत्र छत्रवस्त्राणां वृषाये वा ध्वजेऽपि वा।।

पादुकोपानहौ कार्यौ सिंहाख्येप्यथवा ध्वजे।
उक्तानामप्यनुक्तानां मन्दिराणां ध्वजः शुभः।।[9]

च्यवनमते आयविचारः

महानसेऽग्निशालायां गृहे वाग्न्युपजीविनाम्।
धूम्रं दद्यात्तथा श्वानं यवनान्त्यजयोर्गृहे।।

खरो वेश्यागृहे योज्यो ध्वांक्षः पक्षिपतेर्गृहे।
वृषं सिंहं गजं दद्यात्प्रासादे पुरमन्दिरे।।

वस्त्रेषु धर्मशालायां कुम्भस्तम्भे ध्वजे ध्वजः।
गोगजौ भूगृहे देयो साधारणतृणौकसि।।

---

8 वृहद्वास्तुमाला 14-18

9 वृहद्वास्तुमाला पृ. 61 श्लो. 19-22

मन्त्रे शस्त्रे रथे सिंहो भाण्डागारे शुभो गजः।
धान्याम्बुस्थानगोश्वेभशालायां वृषभः शुभः॥[10]

अन्यच्च -

ब्राह्मणस्य ध्वजं दद्यात्सिहं दद्यातु क्षत्रिये।
वैश्यस्य च वृषं दद्याद्गजं शूद्रे सदर्पयेत्॥

चर्मकारगृहे धूम्रः श्वानोऽपि रजकस्य च।
खरश्चैव तथा वेश्या ध्वांक्षे चान्यत्र जातिषु॥[11]

आयानां स्वरूपाणि

काकायः शिल्पिनां तापसानाञ्च गृहे शुभः। अस्यायस्य मुखं काकसदृशो भवति। धूमायस्य मुखं बिडालसदृशः, सिंहस्य मनुष्यसदृशः, शेषाणां स्वनामरूपं मुखं भवति। सर्वेषां चरणाः पक्षिणाम् इव, कण्ठाः सिंहमिव हस्ताश्च मनुष्यस्य इव भवन्ति। पूर्वादिक्रमेण आयाः बलिनो भवन्ति। एतद्दिशाभिमुखमेव एतन्मुखमपि भवति। अतः गृहमुखमपि एतन्मुखानुसारमेव कार्यम्।[12]

विशेषः -

सिंहायः सर्वथा त्याज्यो ब्राह्मणेन वृषेप्सुना।
सिंहाये चण्डता गेहे स्वल्पापत्यश्च जायते॥

ध्वजाये पूर्णसिद्धिः स्याद् वृषायः पशुवृद्धिदः।
गजाये सम्पदां सिद्धिः शेषायाः शोकदुःखदाः॥[13]

ब्राह्मणादिजातिपरत्वेन ग्राह्यायाः

अग्रजानां ध्वजायः स्याद् ध्वजकुञ्जरगोमृगाः।
क्षत्रस्य ध्वजसिंहेभा वैश्यस्य शुभदाः स्मृताः॥

ध्वजो मृगादिः शूद्राणां सर्वेषां वृषभः शुभः।
हीनजातेः समाः देयाः सूक्ष्मकृत्येऽङ्गुलात्मकः॥[14]

---

10 तत्रैव पृ. 62 श्लो. 23-26

11 उद्धृतं वास्तुसारः पृ. 110 श्लो. 56

12 वृहद्वास्तुमाला पृ. 59 श्लो. 6

13 वास्तुरत्नाकर अ. 5 श्लो. 25-26

14 वृहद्वास्तुमाला पृ. 59 श्लो. 7-8

ब्राह्मणानां ध्वजायः, क्षत्रियाणां ध्वजकुञ्जरगोमृगाः, वैश्यानां ध्वजसिंहगजाः, शूद्राणां ध्वजः मृगश्चेति आयै शुभफलदैः भवतिः। प्रायः गौ-आयः सर्वशुभदः निम्नजातीनां समसंख्याकाः आयाः (धूम-श्वान-खर-ध्वाङ्क्षाः) शुभाः भवन्ति। अतः सूक्ष्मकृत्ये पिण्डग्रहणं कृत्वा आयः साधनीयः।

राशिपरत्वेन आयविचारः

कर्कवृश्चिकमीनराशीनां ध्वजायः, मेषसिंहधनुराशीनां वृषायः, वृषकन्यामकरराशीनां सिंहायः, मिथुनतुलाकुम्भराशीनां गजायः शुभदो भवति।[15]

रामदैवज्ञमते आयाद्यानयनम्

पिण्डे नवाङ्काङ्गगजाग्निनागनागाब्धिनागैर्गुणिते क्रमेण।
विभाजिते नागनगाङ्कसूर्यनागर्क्षतिथ्यर्क्षखभानुभिश्च।।

आयो वारोंऽशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः।
आयुश्चाथ गृहेशर्क्षं गृहभैक्यं मृतिप्रदम्।।[16]

पिण्डसाधनं कृत्वा गृहपिण्डं नवस्थानेषु निर्दिष्टक्रमेण 9-9-6-8-3-8-8-4-8 निवेश्य एतान् अङ्कान् पृथक्-पृथक् गुणयित्वा गुणनफले 8-7-9-12-8-27-15-27-120 अङ्कैः विभाजनेन यदवशिष्यते तत् क्रमशः आय-वार-अंश-द्रव्य-ऋण-नक्षत्र-तिथि-योग-आयूंषि भवन्ति।

क्र.सं.	गृहपिण्डं	गुणकः	गुणनफलः	भाजकः	लब्धिः	शेषम्	संज्ञाः
1.	203	9	1827	8	228	3	आयः
2.	203	9	1827	7	261	0	वारः
3.	203	6	1218	9	135	3	अंशः
4.	203	8	1624	12	135	4	द्रव्यः
5.	203	3	609	8	67	2	ऋणम्
6.	203	8	1624	27	60	4	नक्षत्रम्
7.	203	8	1624	15	108	4	तिथिः
8.	203	4	812	27	32	18	योगः
9.	203	8	1624	120	13	64	आयुः

15 वृहद्वास्तुमाला पृ. 59 श्लो. 9-10

16 वृहद्वास्तुमाला पृ. 57 श्लो. 1-2

तिथिवारलग्नानयनम्

आयर्क्षताराव्ययमंशकञ्च एकत्रकृत्वा विभजेत्क्रमेण।
तिथ्या च वारेण तथैव लग्नैः शेषेषु तान्येव भवेयुरङ्के॥[17]

आय-नक्षत्र-तारा-व्यय, अंशादिभिः सर्वैः योजयित्वा क्रमशः 15, 17, 12, एभिः विभजनेन शेषानुसारेण क्रमशसः तिथि-वार-लग्नानि भवन्ति।

उदाहरणम् -

परिकल्प्यते यथा आयः 7, नक्षत्र (स्वाती) 15, तारा-मनोहरा सम्पत् (2) व्यय 7, अंशः 9 एतेषां संयोजनेन 7 + 15 + 2 + 7 + 9 = 40

15 संख्याभिः विभजनेन

40 ÷ 15 = लब्धिः 2 शेषम् 10 = तिथिः

40 ÷ 7 = लब्धिः 5 शेषम् 5 = वार (बृहस्पतिवारः)

40 ÷ 12 = लब्धिः 3 शेषम् 4 = लग्नम् (कर्कः)

कुत्रायादिकं न चिन्तनीयम् -

द्वात्रिंशाधिकहस्तमब्धिवदनं तार्णं त्वलिन्दादिकम्।
नैष्वायादिभीरितं तृणगृहं नान्येषु गेहेष्विदम्॥[18]

द्वात्रिंशत् (32) हस्तमानादधिकविस्तारे गृहे चतुर्द्वारे, तृणगृहे, अलिन्दे च आयादिविचारः न करणीयः। एवमेव-

अलिन्दनिर्व्यूहविनिर्गमाद्याश्चतुर्दिशं ये गृहभूषणाय।
आयादिकं तेषु न चिन्तनीयं यतो न ते वास्तुपरिग्रहे स्युः॥[19]

अन्यच्च

यत्र दैर्घ्यं गृहादीनां द्वात्रिंशद्धस्ततोऽधिकम्।
न तत्र चिन्तयेद् विद्वान् गुणानायव्ययादिकम्॥[20]

द्वात्रिंशदधिकविस्तारे गृहे विद्वद्भिः आयादिविचारो न कार्यः।

---

17 उद्धृतं वास्तुसारः पृ. 112 श्लो. 64

18 बृहद्वास्तुमाला पृ. 67 श्लो. 12

19 उद्धृतं वास्तुसारः पृ. 113 श्लो. 66

20 बृहद्वास्तुमाला पृ. 67 श्लो. 13

वसिष्ठेनोक्तम् -

एकादशयवादूर्ध्वं द्वात्रिंशद्धस्तकावधिः।
तावादायादिकं चिन्त्यं तदूर्ध्वं नैव चिन्तयेत्॥[21]

तृणादिगेहेषु शिलान्यासनिषेधः

आयव्ययौ च भूशुद्धिं तृणगेहे न चिन्तयेत्।
शिलान्यासादि नो कुर्यात् तथागारे पुरातने॥[22]

आयः, व्ययः, भूशुद्धिः, तृणगेहे न चिन्तयेत्। प्राचीनगृहे जीर्णोद्धारसमये तृणगृहे शिलान्यासः न करणीय।

पिण्डद्वारा वाराद्यानयनम्

ग्रहैर्विगुण्य भवनस्य पिण्डं विभाजितं पर्वतभिर्मुनीन्द्रैः।
शेषं भवेच्चात्र रवीन्दुभौमाः बुधो गुरुर्भार्गवसूर्यनन्दनौ॥[23]

इष्टपिण्डं नवभिगुणनेन सप्तभिः विभाजनेन एकशेषे - सूर्यः, द्विशेषे चन्द्रः, त्रिशेषे भौमः, चतुशेषे बुधः, पञ्चशेषे गुरोः, षष्ठशेषे शुक्रः, सप्तशेषे शनेः दिनानि भवन्ति)।

एतेषां फलम्

सूर्यभौमवारयोः-राशि-अंशाः सदा अग्निभयदाः। शेष ग्रहाणां वाराः राशयः अंशाश्च गृहस्वामिनः शुभाः मङ्गलकारिणश्च भवति[24]।

अंशानयनम्-

गृहपिण्डं रसैर्गुण्यं ग्रहैश्चापि विभाजितम्।
यच्छेषं तद्भवेदंशास्तस्यैशाश्चापि कीर्तितः॥

अर्कश्चन्द्रः कुजो राहुर्जीविमन्दज्ञकेतवः।
भृगुपुत्रक्रमेणैव अंशाधीशाः प्रकीर्तिताः॥[25]

पिण्डाद् द्रव्यानयनप्रकारः

पिण्डाष्टगुणितं चात्र सूर्यसंख्या विभाजितम्।
अवशिष्टं भवेद्द्रव्यं तत्तन्नामाऽब्रवीदिदम्॥

---

21 बृहद्वास्तुमाला पृ. 67 श्लो. 14
22 वास्तुसारसंग्रह अष्टमसोपानं श्लो. 43
23 वा. सा. सं. नवमसोपानम् श्लो. 1
24 तत्रैव श्लो. 2
25 वा. सा. सं. नवमसोपानम् श्लो. 3,4

वस्त्राणि शस्त्राणि च पुस्तकानि।
द्रव्याणि धान्यानि वसुन्धरा च॥
कुटुम्ब-विद्या-पशु वाटिकाश्च।
भाण्डानि भूषाश्च धनानि सूर्याः॥[26]

गृहपिण्डम् अष्टभिः गुणयित्वा गुणनफले द्वादशभिः भाजयित्वा यच्छेषं तं निम्नप्रकारेण द्रव्यं जानीयात्। एकशेषे वस्त्रम्, द्विशेषे शस्त्रम्, त्रिशेषे पुस्तकम्, चतुश्शेषे द्रव्यं (मुद्रां), पञ्चशेषे धान्यम्, षट्शेषे वसुन्धरा, सप्तशेषे कुटुम्बं, अष्टशेषे विद्याः नवशेषे पशवः, दशशेषे वाटिका, एकादशशेषे भाण्डभूषणं, द्वादशशेषे धनं जानीयात्।

ऋणानयनप्रकारः

इहाग्निगुणितं पिण्डं वसुभिश्चैव भाजितम्।
अवशिष्टमृणं संज्ञं तस्येशाः कथिताः पुरा:॥[27]

गृहपिण्डं त्रिभिः गुणयित्वा अष्टभिः भाजिते यदवशिष्यते तद् ऋणं भवति। क्रमेण विंशोत्तरीदशेशाः स्वामिनः भवन्ति। परन्तु अत्र केतुग्रहस्य गणना न भवति।

नक्षत्रानयनप्रकारः

गृहपिण्डं गजैर्हत्वा सप्तविंशतिभिर्भजेत्।
यच्छेषं तद्भवेदृक्षम् अश्वादिक्रमतो बुधैः॥[28]

तारानयनम्

गणेयत् स्वामी नक्षत्राद्यावदृक्षं गृहस्य च।
नवभिस्तु हरेद्भागं शेषास्ताराः प्रकीर्तिताः॥
शान्ता मनोहरा क्रूरा विजया च कलहोद्भवा।
पद्मिनि राक्षसी वीरा आनन्दा नवमी स्मृता॥[29]

गृहपतिनामतः गृहनक्षत्रपर्यन्तं गणानया पाप्त संख्ययां नवभिः भक्तेन यदवशिष्यते तत् तारा बोध्यम्। क्रमेण 1. शान्ता 2. मनोहरा 3. क्रूरा 4. विजया 5. कलहोद्भवा 6. पद्मिनी 7. राक्षसी 8. वीरा एव 9. आनन्दी। तृतीय-पञ्चम सप्तमताराः अशुभाः। जन्म-सम्पत्-विपर्-क्षेम- प्रत्यरि-साधना-वध-मैत्र-अतिमित्रः-भवन्ति।

---

26 बृहद्वास्तुमाला पृ. 68 श्लो. 18,19
27 वास्तुसारसंग्रहः नवमसोपानम्, श्लो. 7
28 वास्तुसारसंग्रहः नवमसोपानम्, श्लो. 33
29 वास्तुमण्डनम् तारानयनम्, पृ. 100 श्लो. 47-48

तत्राफलानि तु–

विपत्प्रदा विपत्तारा प्रत्यरिः प्रतिकूलदा।
निधनाख्यतारका वापि सर्वथा निधनप्रदा।।

कश्यपमते निषिद्धतारा:

दत्ते दुःखं तृतीयर्क्षं पञ्चमर्क्षं यशः क्षयम्।
आयुः क्षयं सप्तमर्क्षं कर्तृभाद्गृहभावधि।।[30]

एषु तृतीयविपत्तारया विपत्तिः प्रत्यरितारया शत्रुता निधनतारया मृत्युः प्राप्यते। अतः तृतीय-पञ्चम-सप्तमतारा न शुभा। तृतीयतारा विपत्ति दुःखदा, पञ्चमा तारा प्रत्यरि च यशविनाशिनी तथा सप्तमा निधना तारा आयुषः क्षयकारिणी भवति।

वसिष्ठस्तु -

'गृहस्य स्वामिनश्चैव नक्षत्रैक्यं निधनप्रदम्।' गृहस्वामिनो गृहस्य एकैव नक्षत्रं चेत् गृहस्वामिनो मृत्युर्भवति।

अन्योऽपि - गृहगृहेशयोर्भैक्यं मृतिः स्यान्नियमेन तु।[31]

मेलपकादौ नामराशिप्रधानत्वम्

देशग्रामगृहज्वरव्यवहृतिषु दाने मनौ।

सेवाकाकिणिवर्गसङ्गरपुनर्भूमेलके नामभम्।।[32]

अर्थात् देशग्रामगृहज्वरव्यवहारदानमन्त्रसेवाकाकिणीवर्गशुद्धिसंग्रामपुनर्विवाहेषु नामराशिद्वारा एव विचारः कार्यः।

गृहमेलनादौ राशिज्ञाने विशेषः

अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम्।
मूलादित्रितयं चापि शेषभेषु द्वयं द्वयम्।।[33]

अश्विन्यादित्रयं मेषराशौ, मघादित्रयं सिंहराशौ, मूलादित्रयं धनुराशौ, शेषराशयः नक्षत्रद्वययुक्ताः भवन्ति। इदमपि मेलनं विवाहवत् कार्यम्।

---

30 वास्तुसारसंग्रहः नवमसोपानम्, श्लो. 34

31 वास्तुसारः पृ. 119 श्लो. 90

32 बृहद्वास्तुमाला गणनाविचारः श्लो. 1

33 तत्रैव श्लो. 2

ग्रहनक्षत्रविचारः

त्रिभिस्त्रिभिर्वेश्मनि कृतिकाद्यैरुद्वेगपुत्राप्तिधनाप्तिशोकम्।
शत्रेर्भयं राजभयं च मृत्युः सुखं प्रवासश्च नवप्रभेदाः॥[34]

स्पष्टार्थं चक्रम्

गृहनक्षत्राणि	कृति. रोहि. मृग. आर्द्रा पुन. पुष्य आश्ले. मघा पू. फा. उ. फा. हस्त चित्रा स्वाती विशाखा अनुराधा ज्येष्ठा मूल पू. षा. उ. षा. श्रवणा घनिष्ठा शत. पू. भा. उ. भा. रे. अ. भ.
फलानि	उद्वेगः पुत्र प्राप्तिः धन प्राप्तिः शोकः शत्रु भयम् राज भयम् मृत्युः सुखम् प्रवासः

रामदैवज्ञमते योनिविचारः

अश्विन्यम्बुपयोर्हयो निगदितः स्वात्यर्कयोः कासरः।
सिंहो वस्वजयाद्भयोस्समुदितो याम्यान्त्ययोः कुञ्जरः॥

मेषो देवपुरहिताऽनलभयोः कर्णाम्बुनोर्वानरः।
स्याद्वैश्वाभिजितोस्तथैव नकुलश्चान्द्राब्जयोऽन्योरहिः॥

ज्येष्ठामैत्रभयोः कुरङ्ग उदितो मूलार्द्रयोः श्वा तथा।
मार्जारोऽदितिसार्पयोरथ मघायोन्योस्तथैवोन्दुरुः।
व्याघ्रो द्वीशभचित्रयोरपि च गौरर्यम्णबुधन्यर्क्षयो-
योनिः पादगयोः परस्परमहावैरं भयोऽन्त्यस्त्यजेत्॥[35]

अर्थात् नक्षत्रयोनयः-अश्विनीशतभिषानक्षत्रयोः अश्वः, स्वातीहस्तनक्षत्रयोः महिषः, धनिष्ठापूर्वाभाद्रपदयोः सिंहः, भरणीरेवत्योः गजः, पुष्यकृतिकयोः मेषः, श्रवणपूर्वाषाढयोः वानरः, उत्तराषाढाभिजितो नकुलः, मृगशिरारोहिण्योः सर्पः, ज्येष्ठानुराधयोः हरिणः, मूलाद्रयोः श्वानः, पुनर्वस्वाश्लेषयोः विडालः, मघापूर्वफाल्गुन्योः मूषकः, विशाखाचित्रयोः व्याघ्रः, उत्तराफाल्गुन्युत्तरभाद्रपदयोः गौः योनिः। पूर्वपश्चात् योनयोर्मध्ये महावैरं भवति। अतः सर्वथा त्याज्यं करणीयम्।

---

34 बृहद्वास्तुमाला गणनाविचारः पृ. 63 श्लो. 3

35 वृ. वा. मा. पृ. 64 श्लो. 4-5

नाडीविचारः

सेव्यसेवकयोश्चैव गृहतत्स्वामिनोरपि।
परस्परं मित्रयोश्च एकनाडी प्रशस्यते।।[36]

अन्यच्च -

प्रभुः पण्यङ्गना मित्रं देशं ग्रामं पुरं गृहम्।
नाडीविद्धं मतं श्रेष्ठं न शुभं वेधवर्जितम्।।[37]

स्वामी-क्रीतस्त्री-मित्र-देश-ग्राम-पुर-गृहादिषु नाडी विचार्यते। एका नाडी शुभा विपरीता अशुभम्।

एकनाडी स्थिता यत्र गुरुमन्त्राश्च देवताः।
तत्र द्वेषं रुजं मृत्युं क्रमेण फलमादिशेत्।।[38]

यदि गुरुः, मन्त्रः तथा देवता एतेषां त्रयाणां एकनाडी प्रवर्तते तदा क्रमशः द्वेषः रागः मृत्युश्च फलं भवति।

आवृत्तिर्भिर्भैस्त्रिभिरश्विभाद्यं क्रमोत्क्रमात् सङ्गणयेदुडूनि।
यदेकपर्वण्युभयोश्च हर्म्यंहर्म्ये शयोर्भेऽति शुभं तदा स्यात्।।[39]

उक्तनाडीविचारः- गृहनक्षत्रानुसारं गृहस्वामिनक्षत्रानुसारं च क्रियते। गृह-गृहस्वामिनो आदिमध्यान्त्येषु क्वचित् एका नाडी भवति तदा शुभा। नाडीविचारे नक्षत्रक्रमः सर्पाकारो भवति चक्रेण स्पष्टं भवति।

नाडीचक्रम्-

आदि	अश्वि.	आर्द्रा	पुन.	उ. फा.	हस्त	ज्ये.	मूल	शत	पू. फा.
मध्य	भरणी	मृग	पुष्य	पू. फा.	चित्रा	अनु.	पू. षा.	धनि.	उ. भा.
अन्त्य	कृतिका	रो.	आश्लेषा	मघा	स्वाती	विशाखा	उ. षा.	श्रवण	रेवती

यथा क्षीरार्णवे -

36 वास्तुमण्डनम् द्वितीयोऽध्यायः श्लो. 72
37 वास्तुमण्डनम् द्वितीयोऽध्यायः श्लो. 70
38 वास्तुमण्डनम् द्वितीयोऽध्यायः श्लो. 71
39 वृ. वा. मा. पृ. 66 श्लो. 8

त्रयोनाड्यात्मकं चक्रं सर्पाकारस्वरूपकम्।
नवभागाङ्कितं कुर्यादश्विन्यादित्रिकं लिखेत्॥

एकनाडीस्थितं तस्मिन् भं चेद् वरकन्ययोः।
तेन मरणं विजानियादंशतश्चेत् स्थिरं त्यजेत्॥

स्वामीसेवकमित्राणां गृहाणां गृहस्वामिनाम्।
राज्ञस्तथा पौराणां च नाडीवेधः सुखावहः॥[40]

अनेन प्रकारेण सर्वप्रथमं पिण्डानमनं विधाय तस्माद्गृहमेलापकं विचिन्त्य गृहनिर्माणं कार्यम्। तर्हि गृहनिर्माणे सति गृहं सुखायुष्यवृद्धिप्रदायकञ्च भवतीति।

---

40 क्षीरार्णव 1/31–33

वास्तुशास्त्रदृष्ट्या नगरस्य भेदाः

नीतू कुमारी

नगरं मानवस्य सभ्यतायाः अत्यन्तं महत्त्वपूर्णमङ्गमस्ति। नगरयोजनायाः परिकल्पना अस्माकं भारतदेशे प्राचीनकालादेव दरीदृश्यते। एतस्याः नगरयोजनायाः वर्णनं वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु प्रचुरतया प्राप्यते। कस्यापि नगरस्य ग्रामस्य गृहस्य तडागस्य वा निर्माणात् पूर्वमेका योजना परमावश्यकी भवति। वस्तुतो वास्तुशब्दस्य मर्म एषा एव योजना वर्तते। श्रीमद्भागवतमहापुराणानुसारन्तु सर्वप्रथमं पृथुः स्वधनुष्कोट्या पर्वतानुत्पाट्य पृथिवीं समतलीकृत्य सम्यक्प्रकारेण सुव्यवस्थितावासस्य परिकल्पनां प्रस्तुतवान्। तदनन्तरं पृथोरभिलाषानुसारं विश्वकर्मादयः पुराणां, ग्रामाणां, नगराणाञ्च समुचितव्यवस्थामकुर्वन्।[1]

नगरस्याभिप्रायः

नगरेण मानवस्य विविधाः आवश्यकताः परिपूरिताः भवन्ति। पुरस्य नगरस्य च विषये विद्वत्सु मतभेदाः सन्ति। एतदनुसारं यत्र अनेकानां ग्रामाणां व्यवहारस्थानानि भवन्ति तानि पुराणि तथा च पुरसमूहानां यत्र **विचारालयाः** वर्तन्ते तानि नगराणि कथ्यन्ते।[2] स्थापत्यशास्त्राणां कोशग्रन्थानाञ्चानुसारेण पुरेण अर्थात् नगरेणाभिप्रायः मनुष्याणां विशालनिवासस्थानादस्ति (बस्ती) यत् ग्रामतः कस्बा इत्यस्माद्वा विशालो भवेत्, यत्र विविधानां कार्याणां कृते मनुष्याणामावागमनं भवेत्। यस्मिन् चानेकानां वर्णानां जनाः निवसन्ति।[3] नगराय पत्तनं, पुरी, स्थानीयं, पुटभेदनं, निगमं, पट्टनं, नगरी चेति शब्दाः प्राप्यन्ते।[4]

नगरस्य भेदाः

प्राचीनकालाद् आधुनिककालपर्यन्तं पुरविकासस्य विविधानि रूपाणि दृश्यन्ते। वैदिककाले पुरं दुर्गरूपेण प्राप्तं भवति परमुत्तरवैदिककाले एतानि दुर्गाणि नगररूपेषु विकसितानि जातानि।

1. निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः।
ग्रामान् पुरः पत्तनादि दुर्गाणि विविधानि च।।
घोषान् व्रजान् सशिविरान्नगरान् खेटखर्वटान्।
प्राक् पृथोरिह नैवेषा पुरग्रामादिकल्पना।। श्रीमद्भागवतपुराणम्, 4/18/29-32
2. हिन्दीविश्वकोशः, भागः 11, पृ. 336
3. तत्रैव, भाग 1, पृ. 336
4. संस्कृतहिन्दीकोशः, पृ. 662, हिन्दीशब्दसागरः, पृ. 2517, हिन्दीविश्वकोशः, पृ. 336, 637 हिन्दीपर्यायवाचीकोशः, पृ. 311

स्थापत्यशास्त्राणामनुसारेण पुरनिवेशे पत्तन-पुटभेदन-निगम-स्थानीय-राजधानी-खेट-खर्वट-ग्राम-दुर्गादीनां विस्तृतानि क्षेत्राणि समाहितानि वर्तन्ते। पुरस्य नगरस्य वा भेदा: अत्र मानानुसारेण सन्निवेशाधारेण च स्पष्टा: क्रियन्ते।

(1) विस्तारदृष्ट्या नगरस्य भेदा: - विविधेषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु विस्तारदृष्ट्या नगरस्य अनेके भेदा: प्राप्यन्ते। भोजाचार्येण समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थे विस्ताराधारेण नगरस्य मुख्यरूपेण त्रयो भेदा: स्वीकृता:।[5] ज्येष्ठनगरस्य परिमाणं चापव्यासमानेन 4000 मध्यमनगरस्य मानं 2000 चापव्यासमापेन तथा च कनिष्ठनगरस्य मानं 1000 स्वीकृतम्।[6] विस्तारप्रमाणेन नगराणामुत्तमादिभेदा: वास्तुरत्नावल्यामपि वर्णिता: सन्ति।[7]

तत्र मनुष्यालयचन्द्रिकाग्रन्थेऽपि मानानुसारेण नगरस्य व्याख्या प्राप्यते।[8] तत्र त्रयाणां नगराणां मध्ये कनिष्ठनगरं 1000 हस्तत: 1125 हस्तपर्यन्तं तत: मध्यमनगरं 1500 प्रमाणत: 1625 हस्तपर्यन्तं वर्तते। ज्येष्ठमर्थात् उत्तमनगरं 2000 प्रमाणत: 2125 हस्तपर्यन्तं भवति। अपराजितपृच्छायामपि नगरस्य अधम-मध्यम-ज्येष्ठञ्चेति त्रयो भेदा: प्रदर्शिता: सन्ति।[9] इत्थं सर्वेषु वास्तुग्रन्थेषु त्रयाणां नगराणां विस्तारमानं अधोलिखितरूपेण ज्ञातुं शक्यते। यथा हि -

ज्येष्ठपुरम् - 4000त: 8500 चापव्यासमितम्
मध्यमपुरम् - 2000त: 4500 चापव्यासमितम्
कनिष्ठपुरम् - 1000त: 2500 चापव्यासमितम्

(2) सन्निवेशदृष्ट्या नगरस्य भेदा: - स्थापत्यशास्त्रानुसारं सन्निवेशाधारे नगरस्यान्तर्गतानि राजधानी-पत्तन-पुटभेदन-स्थानीय-निगम-खेट-खर्वटादीनि क्षेत्राणि सम्मिलितानि भवन्ति। 'नगर' शब्द: अत्र विभिन्नकोटीनां यथा-शाखानगर-राजधानीनगर-ग्रामनगर-पल्लीनगराणाञ्च बोधं कारयति। समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थे राजधानीवर्गीयनगरस्य तथा च शाखानगरस्य रूपे पत्तन-पुटभेदन-निगमं, खेटं-

---

5. पुरस्य त्रिविधस्यापि ....। समराङ्गणसूत्रधार:, अध्याय: 10.1
6. ज्येष्ठं तत्र चतुश्चापसहस्रं पुरमिष्यते
मध्यं द्वाभ्यां सहस्रीभ्यामेकेन व्यासतोऽधमम्।
साष्टमांशं सपादं वा सार्धं वा व्यासमायतम्
कुर्यादेकैकमायामं चतुरस्त्रीकृतं शुभम्।। तत्रैव, अध्याय: 10.2-3
7. वक्ष्येऽथो विविधं पुरं मुनिमतं मध्योत्तमं कन्वसं
तेषां हस्तसहस्रमन्तिमपुरं मध्यं तत: सार्धकम्।
ज्येष्ठं युग्मसहस्रमेषु चरमं भागाष्टकेनान्वितं मध्यं
द्वादशभागत: शशिकलं ज्येष्ठं विदध्यात्सुधी:।। वास्तुरत्नावली, श्लो. 192
8. नगरस्य सहस्रादि द्विसहस्रान्तं च दण्डमानं स्यात्। मनुष्यालयचन्द्रिका, अध्याय: 3.17
9. सहस्रैरधमं हस्तैर्मध्यं सार्धसहस्रकै:।
द्विसहस्रैर्भवेज्ज्येष्ठं त्रिविधं हस्तसङ्ख्यया।। अपराजितपृच्छा, अध्याय: 70.3

खर्वट-ग्राम-पल्ली-पल्लिका-गोष्ठ-गोष्ठकमित्यादीनां क्रमशः उल्लेखो मिलति।[10] विश्वकर्माचार्येण विश्वकर्मवास्तुशास्त्रे सप्तविधनगरलक्षणानि प्रतिपादितानि।[11] ग्रन्थेऽस्मिन् निगमः, स्कन्धावरः, द्रोणकः, कुब्जकः, पट्टनः, शिविरः, वाहिनीमुखञ्चेति सप्तनगरभेदाः नृपसेवनयोग्याः कथिताः। एतदतिरिक्तमत्र विंशति (20) नगराणामपि वर्णनं प्राप्यते।[12] राजवल्लभग्रन्थेऽपि विंशतिप्रकाराणां नगराणां विधानमस्ति परं तत्र केचन नामभेदाः प्रवर्तन्ते।[13] मानसारे[14] मयमते[15] च नगरभेदान्तर्गतं राजधानी-नगर-पुर-नगरी-खेट-खर्वटादयः कथिताः। सन्निवेशाधारेण पुरस्य कतिपयेषु प्रमुखेषु प्रभेदेषु स्थापत्यशास्त्रदृष्ट्या विचारः परमावश्यको वर्तते। अतः अधुना नगरभेदाः वर्ण्यन्ते-

* **नगरम्** - 'नग इव प्रासादाः सन्त्यत्र'[16] इति व्युत्पत्त्यनुसारेण यत्र भवनानां भित्तिः छदिश्च विशेषतः पाषाणैः पक्वेष्टिकाभिः वा निर्मितौ भवेतां तन्नगरमिति कथयितुं शक्यते। वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु नगरस्य परिभाषा भिन्न-भिन्नप्रकारेण कथिता अस्ति। मयमतग्रन्थे नगरस्य परिभाषा यद् यस्मिन् नगरे चतसृषु दिक्षु चतुर्द्वारं, द्वारस्योपरि शालायुक्तं गोपुरं, क्रय-विक्रयार्थं स्थानं (आपणं), सर्ववर्गाणां जनानां निवासः, नानादेवानां प्रासादाश्च विनिर्मिताः भवन्ति तन्नगरमिति शब्देन सम्बोध्यते।[17] मानसारग्रन्थानुसारं एतस्य नगरस्य चतुर्दिक् गोपुरसंयुक्तानि चत्वारि द्वाराणि तथा च सुरक्षादृष्ट्या सैन्यविन्यासो भवति। स्थानेऽस्मिन् वाणिज्य-कार्याणि तथा च देवालयाः भवन्ति।[18] अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रस्य दृष्ट्या नगरस्य चतुर्दिक्षु पृथक्-पृथक् गोपुरैः परिवेष्टितानि द्वाराणि निर्मितव्यानि। अस्मिन् नगरे नागरिकानां निवासाय आवासीयभवनानि तथा च विविधानां प्रयोजनानां कृतेऽन्यानां भवनानां विन्यासः समुचितरूपेण करणीयः।[19]

प्राचीनार्वाचीनपरम्परायां नगरं वाणिज्यस्य व्यापारस्य च केन्द्रं स्वीक्रियते। इत्थं समस्तसुविधासम्पन्नं सुनियोजितावास युक्तं सूचनासञ्चारयोजनासमन्वितञ्च नगरं शिल्पिभ्यः, नगराकारस्वरूपेण द्योतयति।

* **पत्तनम्** - जलमार्गेण यातायातक्रमेण प्राप्तानां जनानां कृते सौविध्ययुतमावासीयव्यवस्था

---

10. समराङ्गणसूत्रधारः, 22.2-5
11. आद्यस्तु निगमः प्रोक्तस्कन्धावारो द्वितीयकः।
    द्रोणकस्तु तृतीय .... वाहिनीमुखः।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.38-39
12. तत्रैव, अध्यायः 9.1-4
13. राजवल्लभमण्डनम्, अध्यायः 4.4-5
14. मानसारः, अध्यायः 10.19-21
15. मयमतम्, अध्यायः 10
16. संस्कृतहिन्दीकोशः, पृ. 506
17. दिक्षु चतुर्द्वारयुतं गोपुरयुक्तं तु शालाद्वयम्।
    क्रयविक्रय .... केवलं प्रोक्तम्।। मयमतम्, अध्यायः 10.20-21
18. मानसारः, अध्यायः 10.24-26
19. पुरमिति नरवरभवनप्रधानमाहुर्वणिगजनादियुतम्।
    नगरं राजवरालयसकलजनागारमण्डितं विदितम्।। मनुष्यायलयचन्द्रिका, अध्यायः 3.18

पत्तनमिति। प्राचीनग्रन्थेषु पत्तनशब्दस्य प्रयोगः 'समुद्रीबन्दरगाहः' इत्यस्यार्थे मिलति। जैनसाहित्ये एतस्य कृते जलपट्टनमपि विलिखितमस्ति अर्थात् यस्मिन् नगरे विदेशीयवस्तूनामायातः भवति तथा च स्वदेशीयवस्तूनां निर्यातः क्रियते।[20] अमरकोशानुसारं पत्तनस्य व्याख्या पतन्त्यत्र पत्तनं कुर्वन् तादृशं केन्द्रं मन्यते यत्र चतुर्दिग्भ्यो वस्तूनि आनयन्ति।[21] अनेन प्रकारेण सुस्पष्टं भवति यत् पत्तनमेकं बृहद् वाणिज्यबन्दरगाह इति अथवा समुद्रीबन्दरगाह इति वर्तते।[22] अर्थशास्त्रग्रन्थेऽपि पण्यपत्तनं प्रयोगः दृश्यते यत्तु वाचस्पतिगैरोलामहोदयानुसारं बृहद्विपण्यर्थे प्रयुक्तो भवति स्म।[23] समराङ्गणसूत्रधारे पत्तनं तूपस्थानं भवति। राजा यत्र तत् पत्तनं विदुः इति। वस्तुतः पत्तनं नृपाणामुपस्थानं भवति अर्थात् यत्र ग्रीष्मकालिकं शीतकालिकं वा राजपीठं भवेत्।[24] मनुष्यालयचन्द्रिकायां पत्तनशब्दस्य व्याख्या प्राप्यते।[25] मानसारानुसारेण समुद्रतीरस्योपरि नानाजातिगृहैः संयुक्तं स्थानं पत्तनं यस्मिन् प्रमुखरूपेण व्यापारीवर्गाः निवासं कुर्वन्ति। यत्र वस्तूनां सदैव क्रय-विक्रयो भवति तथा च विदेशाद् विक्रयार्थं एकत्रीकृतानि वस्तूनि रेशमपटानि कपूर्रकादीनि च भवेयुः तत्पत्तनशब्देन अभिहितम्।[26] अन्येषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेष्वपि पत्तनस्य एतदेव लक्षणं समुपलभ्यते। मयाचार्येण अन्यदेशतः आयातवस्तुयुक्तं सर्वजनसमाहितञ्च पत्तनं कथितम्। नगरेऽस्मिन् क्रय-विक्रयादिवाणिज्यनिपुणमानवानाम् आधिक्यं भवति। अत्रैव रत्नक्षौमसुगन्ध द्रव्यादीनां प्राचुर्यं सम्प्राप्यते। इत्थं वक्तुं शक्यते यत् नगरस्यास्य सम्बन्धः सागरतटेन सह भवति।[27] विश्वकर्मवास्तुशास्त्रग्रन्थानुसारं पत्तननगरस्य वास्तुभूमिस्तु प्रायः समुद्रतटगता पर्वतासन्नभूमिगता वा स्यात्। स्थलेऽस्मिन् स्वादुतोयं सर्वथा सुलभग्राह्यं भवेत्। अस्मिन्नगरे द्वारस्थलं तत्तद्दिग्देशगतेन महामार्गेण युक्तं निर्मितव्यम्। नगरं परितः परिखास्थानं दत्वा वास्तुभूमिं द्वादशभागेषु विभज्य केन्द्रे प्रासादस्थानं प्रदीयते। तत्रैव वास्तुभूमेर्मध्ये अथवा वारुणीदिशायां नृपमन्दिरन्तु सपरिखं कर्तव्यम्। अन्यावशिष्टेषु एकादशभागेषु एकैकस्मिन्नपि भागे अष्टौ महावीथयः स्थाप्याः। नगरे महावीथीनां संख्या अष्टाशीति महावीथयः भवन्ति। अस्मिन्नेव स्थले उपवीथीं क्षुद्रवीथीञ्च सुन्नतस्थानानुकूलं च स्थापयेत्। पत्तननगरे सभामण्डपशालागोपुरादीनामन्वितं बहुदेवतायतनं कल्पनीयम्। नगरेऽस्मिन् च विद्यालयः, रङ्गशाला, काचित् चिकित्साशाला च स्थापनीया। अत्र वर्णानुसारेण आवासीयभवनानि प्रकल्पितानि भवन्ति।[28] इत्थं सकलजनसुखप्रदायकनगरं पत्तननगरमिति नाम्ना सुप्रसिद्धमस्ति। शिल्पग्रन्थरत्नेऽपि पूर्वोक्तं पत्तनं

20. सार्थवाहः, पृ. 163
21. अमरकोशः (सत्यदेवमिश्र सम्पादितम्), पृ. 126
22. पद्मचरिते प्रतिपादितं भारतीयसंस्कृतिः, पृ. 208
23. अर्थशास्त्रम्, पृ. 95
24. समराङ्गणसूत्रधारः, अध्यायः 18.5
25. पत्तनसञ्ज्ञं तद्वत् पोतान्वितवरि(नि)धितटोपेतम्। मनुष्यालयचन्द्रिका, अध्यायः 3.17
26. अब्धितीरे प्रदेशे तु नानाजातिगृहैर्वृतम्।
    वाणिग्जातिभि ...... समन्वितम्।। मानसारः, 10.32-33
27. द्विपान्तरागवस्तुभिरभियुक्तं सर्वजनसहितम्।
    क्रयविक्रयकैर्युक्तं रत्नधनक्षौमगन्धवस्त्वाढ्यम्।। मयमतम्, अध्यायः 10.28-29
28. पारावारतटे वापि भूधरोपत्यकातटे। स्वादुतोयस्थले वाऽपि पत्तनङ्कारयेद्बुधः।।
    महामार्गेण संयुक्तं सर्वतः परिखावृतम्। वीथ्यष्टकसमोपेतं बहुसौख्यदम्।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.60-65

सागरानूपर्संश्रितं सयान्त्रिकवणिग्जुष्टञ्च मन्यते।[29] एतेषु नगरेषु कावेरीपत्तनं मुसलीपत्तनमादिनगराणामुदाहरणं दातुं शक्यते।

* **द्रोणमुखम्** – द्रोणमुखनगरं समुद्रतीरस्योपरि सरित्सङ्गमे वा स्थितं भवति। नगरेऽस्मिन् व्यवसायिकजनानामावागमनं सर्वदा भवत्येव। अत्र जलमार्गेण स्थलमार्गेण च वस्तूनामायात: क्रियते।[30] अत एव एतस्य नगरस्य सम्बन्ध: जलमार्गेण स्थलमार्गेण च सह भवति। वस्तुत: एतेन आपणकनगरस्य (Market Town) व्यापारिकनगरस्य च प्रतीति: भवति। अर्थशास्त्रानुसारं द्रोणमुखनगरं चतुश्शतग्रामाणां मुख्यकेन्द्रमस्ति।[31] द्रोणमुखं खार्वाटिकानामपेक्षया विशालतमं भवति। विश्वकर्माचार्येण कथितमस्ति यद् द्रोणकनगरे भूपालेच्छानुसारं समुचितस्थले राजप्रासादस्थापनं करणीयम्। नगरेऽस्मिन् प्राच्यादिचतुर्दिक्षु गोपुरसहितं चतुर्द्वारं द्वारद्वयं वा कर्त्तव्यम्। नगरस्य मध्यभागे वारुणीदिशायां वा शिवप्रासाद: स्थापनीय:। तत्र आराम-कुटीरादीनामपि निर्माणं भवेत्। द्रोणमुखनगरे अनेका: वीथय:, मठ-मण्डपानि, वाप्य:, कूपा:, विविधजनानां कृते आवासस्थलानि कल्पनीयानि।[32] मानसारग्रन्थे द्रोणमुखनगरं समुद्रतटोपरि नद्या: दक्षिणोत्तरे वा वणिग्जनै: युक्तं भणितम्। अत्र नानावस्तूनां क्रय-विक्रयोऽपि स्वीक्रियते। एतस्मात् कारणात् नगरस्यास्य प्रत्येकं तटे ग्राहका: दरीदृश्यन्ते।[33] मयमते नगरस्यास्य उल्लेख: नद्या: दक्षिणदिशायां उत्तरदिशायाञ्च अथवा समुद्रतटे वा प्राप्यते। नगरेऽस्मिन् वणिग्जना: विशेषरूपेण निवसन्ति तथा च नानाजातीनां मानवानां निवासमपि अत्र भवति।[34]

अन्येषु ग्रन्थेषु नगरस्यास्य कृते 'द्रोणीमुखम्' इति शब्दप्रयोग: प्राप्यते। शिल्परत्ननामकग्रन्थानुसारं नगरस्यास्य स्थलं नद्या: समुद्रस्य च सङ्गमे स्वीक्रियते यतोहि नगरेऽस्मिन् व्योमविमानानामावागमनं सदैव भवति। एतत् वणिग्जनै: प्रतिदिनं समावृत्तं दृश्यते। अनेन प्रकारेण एतत् नगरं पत्तन (बन्दरगाह) एव कथयितुं शक्यते।[35] काले काले शस्त्रास्त्राणां सैन्यवाहनानां सञ्चालनाभ्यासकार्यार्थं स्थानान्तरेणागतानां सैन्ययूथावासव्यवस्था द्रोणमुखेऽभवत्। यत्र नवागतप्रविधीनामध्ययनानां प्रयोग: प्रचलितो भवति।

* **राजधानी** – प्राय: देशे राज्ये वा किमपि समुन्नतं विकासशीलनगरं राजधानीनगररूपेण ज्ञायते। नगरेऽस्मिन् सर्वाधिक: जनसन्निवेशो भवति। अस्य प्रमुखं कारणं राजधान्यां राजप्रासादस्य

29. शिल्परत्नम्, अध्याय: 5, पृ. 19
30. सार्थवाह:, पृ. 163
31. चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखम्। अर्थशास्त्रम्, अधिकरणम् 2, अध्याय: 1
32. द्रोणकस्तु महीपेतुस्सदनेन विराजित:।
    पूर्ववद्द्वप्रसंयुक्तो .... राजसेवकै:।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.51-55
33. समुद्रा(द्र) तटिनीयुक्तं तटिन्या दक्षिणोत्तरे।
    वणिग्भि: सह .... द्रोणान्तरमुद्राहृतम्।। मानसार:, 10.38-39
34 नद्यब्धिदक्षिणादक्षिणमाग्वणिगादिसंयुक्तम्।
    सर्वजनावासं यद् द्रोणमुखं प्रोक्तमाचार्यै:।। मयमतम्, अध्याय: 10.32-33
35. तदेवाब्धेश्च नद्याश्च सङ्गमागतपोतकम्।
    द्वीपान्तरवणिग्जुष्टं विदुर्द्रोणीमुखं बुधा:।। शिल्परत्नम्, अध्याय: 5, पृ. 19

शासनपीठस्य वा स्थानं भवति। स्थापत्यग्रन्थेषु प्राचीनग्रन्थेषु च राजधानीशब्दस्य प्रयोगः नृपस्य प्रधाननगरस्य कृते विहितः। भोजाचार्येण स्पष्टरूपेण कथितं यद् यस्मिन् नगरे भूपतिः निवासं करोति, तन्नगरं राजधानी स्वीक्रियते।[36] मयमतग्रन्थेऽपि राजधानीनगरस्य इयमेव परिभाषा वर्तते।[37] कविकुलगुरुः कालिदासः रघुवंशमहाकाव्ये इक्ष्वाकूणां राज्ञां राजधानीम् अयोध्यानगरीं समुक्तवान्।[38] एतेन प्रकारेण बिल्हणः अपि अयोध्यानगरं राजधानी कथितवान्।[39] इत्थं स्पष्टं भवति यत् प्राचीनकाले राजधान्याः सम्बन्धः प्रमुखरूपेण नृपेण सह भवितुमर्हति। अद्यत्वेऽपि एषैव परम्परा प्रचलिता दरीदृश्यते। मयाचार्यानुसारेण राजधान्याः नगरस्य स्थापना सज्जनबहुलराष्ट्रस्य मध्यभागे नद्याः पार्श्वे वा करणीया।[40] एतन्नगरं परितः परिखा प्राकारेण परिवेष्टितं भवति। नगरस्य सुरक्षादृष्ट्या नगरद्वारस्य पुरतः सैन्यशिविरस्य स्थापना अपि भवति। यत्र दुर्गरक्षकाणां प्रत्येकं दिशायां दृष्टिर्भवति नगरस्य बाह्याभ्यन्तरशत्रूणामाक्रमणं निरोधार्थं पूर्वाभिमुखं दक्षिणाभिमुखञ्च सैन्ययूथमवश्यमेव भवित स्म। नगरेऽस्मिन् बृहद्गोपुराणां निर्माणमासीत्। नगरे नानादेवमन्दिराणि, गणिकाः, उद्यानाश्च विद्यमानाः आसन्। अत्रैव राजप्रासादेन साकं गजाः, अश्वाः, रथाः, पदातिसैन्यबलाश्च नियुक्ताः भवन्ति स्म। सर्ववर्णानां कृते सुनिश्चितनिवासस्थानं नगरेऽस्मिन् कथितम्। नगरे पूर्वनिर्धारितं द्वारमेवमुपद्वारं निर्मितं भवति स्म।। तथा च सर्वजनावासानां स्थानं भवति।[41] मानसारग्रन्थस्य राजधानीनगरसम्बन्धितं लक्षणं मयमतस्य समानमेव दृश्यते। मानसारानुसारं राजधानीवर्गस्य नगरस्य सन्निवेशः राष्ट्रस्य मध्यभागे नद्याः तटप्रदेशे वा भवति। अत्र नगरकेन्द्रे राजभवनं विराजितं भवति। नगरेऽस्मिन् विभिन्नजनानामावासाः भवन्ति। भगवतः विष्णोः देवालयकारणात् राजधानीनगरमन्येषु नगरेषु पृथक् मन्यते स्म। नगरस्यास्य चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारं गोपुरेण सह भवेत्। अत्रैव सर्वत्र आवागमनस्य कृते स्वतन्त्राः आपणकाः कथ्यन्ते। एतस्मिन् नगरे विविधानि भवनानि आपणैः सह भवन्ति स्म।[42] शुक्रनीतौ राजधान्याः नगरस्य लक्षणानां निरूपणं दृश्यते। राजधान्याः नगरस्य भूमेः आकृतिः अर्धचन्द्राकारं वृत्ताकारं समचतुरस्रायताकारं वा भवति स्म। राजधानीनगरं सुमनोहराप्राकारपरिखाभिः परिवेष्टितो भवति स्म। एतस्य नगरस्य आन्तरिकभागः नगरग्रामादीनां कृते अनुकूलमासीत् भवित स्म। नगरकेन्द्रे नृपप्रासादान्तर्गतं सभाभवनस्य सन्निवेशेन सह तडागवापीकूपादीनां निर्माणमपि आसीत्।

---

36. यत्रास्ते नगरे राजा राजधानीं तु तां विदुः। समराङ्गणसूत्रधारः, अध्यायः 18.2
37. या नृपवेश्मसमेता सा कथिता राजधानीति। मयमतम्, 10.25
38. अयोध्यामनुराजधानीम्। रघुवंशम्, 13.61
39. राजधानीमयोध्याम्। विक्रमादेवचरितम्, 18.94
40. राष्ट्रस्य मध्यभागे सज्जनबहुले नदीसमीपे च।
    नगरं केवलमथवा राजगृहोपेतराजधानी वा।। मयमतम्, 10.19
41. परितः परिखा बाह्ये शिबिरयुतानेकमुखरक्षा।
    पूर्वायां .... अनेकजनवासा।। तत्रैव, 10.22-24
42. राष्ट्रमध्ये नदीतीरे बहुपुण्यजनावृतम्।।
    मध्ये राजयुतं चैव नगरं कृतमिष्यते।
    तत्रागते नगर्यन्तं यदि विष्णवालयं भवेत्।।
    राजधानीति ...... समावृतम्।। मानसारः 10.22-25

अस्य चतुर्दिक्षु प्रमुखानि चतुर्द्वाराणि भवन्ति। एतत् नगरं सुराजमार्गैः वाटिकाभिः सुदृढदेवालयैः मठैः पान्थशालादिभिश्च सुशोभितं भवति स्म।[43]

भारतीयस्थापत्यग्रन्थेषु राजधान्याः कृते येषां लक्षणानां प्रतिपादनमस्ति तानि सर्वाणि प्राचीनभारतस्यानेकेषु राजधानीनगरेषु दृष्टिगोचराणि भवन्ति। प्राचीनकाले पाटलिपुत्र[44]- कान्यकुब्ज[45]- हस्तिनापुर[46]- द्वारका[47] -मथुरा[48] दिषुनगरेषु प्राकार-परिखा-गोपुर-शिविर-बृहद्प्रासादादिभिः सह नगरस्यान्तभागे देवालयानां सरोवराणां वाटिकानां राजमार्गाणाञ्च स्थानानि निर्धारितानि आसन्।

* **पुटभेदनम्** - प्राचीनकाले बृहद्व्यापारिककेन्द्राणि पुटभेदननाम्ना ज्ञायन्ते स्म। नगरस्यास्य आकारः शंखवच्छोभते।[49] मिलिन्दपञ्होग्रन्थानुसारं शाकलनगरं पुटभेदनमासीत्।[50] वर्तमानकालस्य स्यालकोटः (पाकिस्ताने) शाकलनगरं वर्तते।[51] प्राचीनभारते व्यापारिककेन्द्राणां नामानि पुटभेदनं स्वीकृतम्।[52] तदा पाटलिपुत्रनगरमपि पुटभेदनमासीत्।[53] अमरसिंहानुसारेण बृहन्नगरस्य कृते पुटभेदनशब्दप्रयोगः प्रचलितः आसीत्।[54] पुटभेदनस्य व्याख्या अमरकोशेऽपि प्राप्यते।[55] कविः माघः स्वरचितग्रन्थे शिशुपालवधमहाकाव्ये इन्द्रप्रस्थनगरमपि पुटभेदनं स्वीकरोति।[56] वास्तुशास्त्रीय- ग्रन्थसमराङ्गणसूत्रधारे भोजाचार्येण पुटभेदनस्य परिभाषायां कथितं यदिदमत्यन्तं विस्तृतं नगरं वणिग्वर्गेण युक्तं भवति।[57] पुटभेदननगरस्य लक्षणानां प्रतिपादनं विश्वकर्मवास्तुशास्त्रग्रन्थेऽपि प्राप्यते।[58] अस्य ग्रन्थस्यानुसारेण पुटभेदननगरस्य भवति शङ्खाकृतिः भूमिः। तस्मिन् स्थले निम्नभागे विप्रवैश्य- शूद्रादीनामन्यजनावासानाञ्च निर्माणं भवति। नगरेऽस्मिन् उन्नतस्थाने देवालयस्य, राजप्रासादस्य, राजकीयव्यवहारस्य कृते बहूनां

---

43. अर्द्धचन्द्रां वतुलां वा चतुरश्रां सुशोभनाम्। सप्राकारां सपरिखां ग्रामादीनां निवेशिनाम्।।
सभामध्यां कूपवापीतडागादियुतां सदा। चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारां सुमार्गारामवीथिकाम्।।
दृढसुरालयमठ पान्थशालाविराजिताम्। कल्पयित्वा वसेत् तत्र सुगुप्तः सप्रजो नृपः।। शुक्रनीतिः, 1.215-217
44. भारतीयवास्तुशास्त्रस्य इतिहासः, पृ. 224
45. प्राचीनभारते नगरं नगरजीवनञ्च, पृ. 69
46. महाभारतम्, आदिपर्वः, परिशिष्टः, 48.22
47. विष्णुपुराणम्, अध्यायः 23.14, हरिवंशपुराणम्, विष्णुपर्वः, अध्यायः 100.32
48. हरिवंशपुराणम्, हरिवंशपर्वः, अध्यायः 54.47-52
49. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 9.134
50. मिलिन्दपञ्हो, पृ. 2
51. य्वान् च्वांगः, वाटर्सः, 2.337
52. गोपीनाथकविराजः अभिनन्दनग्रन्थः, पृ. 451
53. पाटलिपुत्तं पुटभेदनम्, दीर्घनिकायः 2, महापरिनिब्बानसुत्तम्, 152, पृ. 69
54. अमरकोशः, काण्डः 2, पृ. 116
55. पुटानि पात्राणि भिद्यन्तेऽत्र पुटभेदनम्, अमरकोशः (सत्यदेवमिश्र सम्पादितम्) पृ. 126
56. शिशुपालवधः 13.16
57. बहुस्फीतवणिग्युक्तं तदुक्तं पुटभेदनम्, समराङ्गणसूत्रधारः, 18.5
58. क्वचिच्छङ्खाकृतिर्भूमिर्विधाता निर्मिता पुरा।
नदीतीरगता वापि...... शिल्पशास्त्रविशारदैः।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 9.134-141

शालादीनां स्थापना प्राप्यते।। इत्थं स्पष्टं भवति यत् पुटभेदननगरस्यान्तर्गतं व्यापारिकनगरं समाहितम् आसीदिति।

* **निगमः** – अस्माकं प्राचीनग्रन्थेषु निगमशब्दस्य प्रयोगः वेदानां, वैदिकग्रन्थानां नीतिशास्त्राणां, व्यापारिकसभानाञ्च कृते वर्तते। एतेन सह अस्य निगमस्य प्रयोगः नगरार्थमपि दरीदृश्यते। अमरकोशानुसारमेतत् निगममेकप्रकारस्य नगरमस्ति।[59] सार्थवाहग्रन्थस्यानुसारेण नगरेऽस्मिन् विशेषरूपेण क्रय-विक्रययोः कार्याणां सम्पादनं भवित स्म। अत एव स्पष्टं वर्तते यद् एतत् नगरं वणिक्जनानां नगरमासीत्।[60] विश्वकर्मवास्तुशास्त्रस्य मते निगमनगरं वनमध्ये गिरिपार्श्वे वा विद्यमानं भवित स्म। निगमसंज्ञकनगरं सदैव तोययुक्तनद्याः तटे समन्तात् पुररक्षकजनैः दुर्गप्राकारैश्च संरक्षितुं कथितम्। नगरस्यास्य प्राच्यादिचतुर्दिक्षु चतुर्द्वारेण सह महामार्ग-पीठ-गोपुरादीनाञ्च सन्निवेशो भवति। अस्मिन्नगरे प्राचीदिगारब्धाः प्रतीचीगामिन्यः प्रतोलिकास्तु चत्वारिंशत् प्रकीर्तिताः। अस्य नगरस्य मध्यभागे बृहद् उन्नतं राजभवनं स्थापनीयम्। भूपालमन्दिरेण सह तस्मिन् स्थले राजकार्याधिकारीणां, श्रमिकानां, शिल्पीजनानां, वणिजानाञ्च सुनिवासं कथितम्। न्यायालयादीनां रचनया सह तत्रैव नानावर्गीयजातीनां निवासो भवेत्। पश्चिमदिशायां देवालयः निर्मितव्यः।[61] भोजाचार्यानुसारेण गुणदृष्ट्या किञ्चित् कर्वटस्य न्यूनम् अर्थात् शाखानगरस्य कृते निगमशब्दस्य प्रयोगो भवति स्म।[62] मानसारग्रन्थेऽपि ब्राह्मणादिचतुर्वर्णानां विविधान्यजनानां शिल्पीनाञ्च परिपूर्णमावासं निगमरूपेण निरूपितमस्ति।[63] अनेन प्रकारेण मयमताचार्यः निगमं चतुर्वर्णानां युक्तमेवमन्यसर्वबहु- कर्मकारयुक्तं तथा च बहुसंख्यकशिल्पीनां युक्तं स्वीकरोति।[64] शिल्परत्नग्रन्थानुसारं स्पष्टं भवति यत् निगमनगरं वस्तुतः चतुर्वर्ण्यजनैः शिल्पिभिः नानाकर्मजीविभिश्च संयुक्तं वर्तते। एतत् नगरं क्रय-विक्रयसंयुक्तं धन-धान्यादिभिः परिपूरितं च भवति।[65] एतस्मिन्नगरे विविधजनाः निवसन्ति परमत्र प्राधान्यं शिल्पीनामेव स्वीक्रियते। इत्थं कथयितुं शक्यते यत् वणिक्जनानां निवासार्थं प्राचीनेषु ग्रन्थेषु पृथक् पृथक् नगरं वर्णितमस्ति। जातकसाहित्यस्याध्ययनेन ज्ञायते यत् वाराणसीं निकषा एतादृश एकः बृहद् जनावासः स्थित आसीत् यस्मिन् एकसहस्र-

---

59. पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्।
    स्थानीयं निगमः अन्यत्तु यन्मूलनगरात्।। अमरकोशः, काण्डः 2, पुरवर्गः 1
60. सार्थवाहः, पृ. 163
61. वनमध्यगतो वापि गिरिसानुगतोऽपि वा।
    सदातोयातीरभाग्वा .... निगमो बुधैः।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.40-46
62. ऊनं कर्वटमेवेह गुणैर्निगम उच्यते। समराङ्गणसूत्रधारः, 18.3
63. द्विजातिचतुर्वर्णैर्वर्णान्तरजनैर्वृतम्।
    बहुकर्मकरैर्युक्तं निगमं तदुदाहृतम्।। मानसारः 10.42
64. मयमतम्, 10.34-35
65. चातुर्वर्ण्यैः कर्मकारैर्नानाकर्मोपजीविभिः।
    पण्यश्वधनधान्याद्यैर्युक्तं तु निगमं स्मृतम्।। शिल्परत्नम्, 5.33

तक्षकजना: वसन्ति स्म।[66] अस्य प्रकारस्य निवाससदनानामाविर्भाव: व्यवसायस्य केन्द्रीयकरणाय कदाचित् अभवत्। वास्तुशास्त्रीयग्रन्थानामनुसारेण निगमशब्दस्याभिप्राय: शिल्पीनां निवासस्थलेयोऽस्ति भवन्ति। एतदेव कालपरिवर्तनकारणात् नगररूपे परिणतं जातम्।[67]

* **स्थानीयम्** - कौटिल्याचार्यविरचितेऽर्थशास्त्रे स्थानीयशब्दस्यार्थ: अष्टादशग्रामाणां मध्ये स्थितं नगरं स्वीकृतम्।[68] अमरकोशेऽपि स्थानीयनगरमर्थशास्त्रवचनसदृशं मन्यते।[69] एतद् अष्टाशतग्रामाणां एतावत् बृहद् राजनैतिकं केन्द्रमासीत् यत्र त्रय: न्यायाधीशा: सम्पूर्णं न्यायिकं कुर्वन्ति स्म।[70] मयमतानुसारेण एतत् नगरमपि नदीतीरे गिरिसमीपे वा प्राप्यते। ग्रन्थेऽस्मिन् नगरमिदं राजप्रासादयुक्तं बहुरक्षाबलसैन्ययुक्तञ्च राज्ञा स्थापितं भवति ।[71] मानसारग्रन्थेऽपि मयमतमनुसारं स्थानीयनगरस्य वर्णनमस्ति। एतेनानुसारेण स्थानीयनगरं नदीं गिरिं वा समया नृपेण स्थापितं क्रियते। यत्र राजभवनेन सह बहुसैन्यबलजना: निवसन्ति। अत एव अस्य नगरस्य निवासिन: जना: स्वयमत्यन्ता: सुरक्षिता: सुखिनश्च अनुभवन्ति।[72] शिल्परत्ने स्थानीयनगरस्य लक्षणानामुल्लेख उपर्युक्तवर्णनानुसारमेव प्राप्यते। अत्रापि नदीपार्श्वे गिरिपार्श्वे वा स्थानीयनगरस्य स्थिति: दृश्यते।[73] स्थानीयनगरविषये डॉ. शुक्लस्य विचार: उपयुक्त: प्रतीयते यत् प्राचीनकाले यदा आधुनिकसाधनानामभाव आसीत् तदा राजसत्ताया: राजव्यवस्थायाश्च समुचितसञ्चालनाय राजान: आवश्यकतानुसारेण स्व-स्वस्थानीयकं (Head Quarter) स्थापयन्ति स्म।[74] इत्थं स्पष्टं भवति यत् कालान्तरे एतस्य नगरस्य संज्ञा स्थानीयनगरम तदनन्तरं स्थानीयनगरेषु सुरक्षाहेतो: करग्रहणस्य च कृते नृपेणोच्चराज्याधिकारीणां निवासव्यवस्था सुनिश्चिता कृता।[75] आधुनिकभारते मण्डलायुक्तस्य च कृते स्थानीयशब्दस्य प्रयोगो भवति।[76] सन्दर्भेऽस्मिन् डॉ. महोदयेन शिल्परत्नग्रन्थे उल्लिखितं यत् **'राष्ट्रस्थान्तकपालाय'** शब्दाधारे स्थानीयशब्द: कालपरिवर्तनात् आरक्षकाणां स्थलं **'पोलीसचौकी'** इति अर्थे प्रयुक्तोऽभवत्।[77] स्थापत्यग्रन्थानामनुसारेण एतत् नगरं एकप्रकारस्य डिवीजनल-ऑफिसरमुख्यालय: (Muffasil Town) स्वीक्रियते। वस्तुत: एतत् नगरं

---

66. महावड्ढकिगामो। जातक:, 4.151
67. प्राचीनभारतीय: पुरनिवेश:, अध्याय: 4, पृ. 108
68. अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयम्, अर्थशास्त्रम्, अधिकरणम् 2, अध्याय: 1
69. तिष्ठन्त्यस्मिन्नित्यष्टशतग्राममध्ये स्थानीयम्, अमरकोश:, पृ. 74
70. स्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान् कुर्यु:। अर्थशास्त्रम्, अधिकरणम् 3, अध्याय: 1, पृ. 313
71. नद्यद्रिपार्श्वयुक्तं नृपभवनयुतं सबहुरक्षम्।
    यत्रृपतिस्थापितकं तत् स्थानीयं समुद्दिष्टम्।। मयमतम्, 10/31-32
72. मानसार: 10.36-37
73. पर्वतस्याथवा नद्या: पार्श्वे राजबलान्वितम्।
    राष्ट्रस्यान्तकपालाय तत् स्थानीयं विदुर्बुधा:।। शिल्परत्नम्, अध्याय: 5, पृ. 20
74. प्राचीनभारतीय: पुरनिवेश:, अध्याय: 4, पृ. 109
75. भारतीयवास्तुशास्त्रम्, पृ. 107
76. तत्रैव, पृ. 108
77. प्राचीनभारते नगरजीवनम्, पृ. 38

स्थलसेनायाः मुख्यालयात् दूरं नगराद् बहिः जनस्थानात् राजधानीतः सुदूरं सैन्यबलनिरीक्षणव्यवस्थायाः अङ्गभूतेन पदातिसैनिकानां सैन्धवारोहिणाञ्च नित्यनैमित्तिककार्याभ्यासार्थं केन्द्रस्थानं भवति स्म।

* **खेटकं खेटो वा** – भोजाचार्येण समराङ्गणसूत्रधारग्रन्थे निर्देशितमस्ति यत् खेटस्य विस्तारः नगरस्यार्धं भवति। खेटस्यार्धं ग्रामस्य विस्तारः कथ्यते।[78] अत एव स्पष्टं वर्तते यत् खेटं नगरात् लघुः ग्रामात् च बृहद् कलेवरयुक्तम् अस्ति। अस्य निवेशनं नगरात् योजनमानेन दूरं स्वीक्रियते।[79] विश्वकर्मवास्तुशास्त्रानुसारमेतत् नगरं ग्रामस्यान्तर्गतं समाहितं क्रियते। खेटनगरस्य वास्तुभूमिः प्रायशः वनमध्ये स्वीकृतम्। नगरेऽस्मिन् एकवीथितः दशवीथ्यन्तं वीथयः भवेयुः। अत्र बहवः क्षुद्रवीथ्यादयस्तु स्थानानुकूलं स्थाप्येत्। खेटस्यगृहाणि प्रायशः पर्णनिर्मितानि भवन्ति परं कुत्रचित् इष्टिकारचितानि गृहाणि अपि दरीदृश्यन्ते। एतस्मिन् बहुविधमांसविक्रयशीलजनाः शबरपुक्तिन्दादयः निकृष्टजनाः निवसन्ति। वस्तुतः खेटकं खेटनगरं वा लघुनगरमस्ति।[80] ग्रामाणां मध्ये सन्निवेशकारणात् कुमारस्वामीः खेटे ग्रामतत्त्वस्य सम्मिश्रणमपि कृतवान्।[81] पाणिनि खेटनगरं गर्हितनगरं कथितवान्।[82] अनेन कारणेन स्पष्टं यत् खेटनगरं व्याधाद्यधमसाधारणजनानां निवासस्थानानि आसन् यस्मिन् सभ्यजनाः न निवसन्ति स्म। मानसारानुसारेण नगरेऽस्मिन् बहुधा शूद्रा एव निवासं कुर्वन्ति स्म।[83]आधुनिकखेडाशब्दः खेटात् अजायत्। आदिपुराणे नदी–पर्वतैः परिवेष्टितं नगरं खेटं मन्यते।[84] मानसारग्रन्थेऽपि खेटकं नद्याः पर्वतस्य च शबरन्दादयः, पुलिन्दैश्च प्रान्ते स्थितम् अथवा एतौ परितः मन्यते। नगरेऽस्मिन् शूद्र निवसन्ति।[85] मयमतग्रन्थानुसारं नगरस्यास्य सन्निवेशः सरितस्तटे पर्वतप्रदेशयुक्तवनप्रदेशे वा भवेत्। अत्र नगरनिवासिनां रूपेण शूद्राणां साम्राज्यं भवति।[86] अमरकोशे अमरसिंहः अपि खेटस्य खेटकस्य वा कृते गर्हितनगरस्य, अधमनगरस्य च प्रयोगं कृतवान्।[87] मध्यप्रदेशतः पश्चिमगुजरातपर्यन्तं खेडाशब्दस्य प्रचलनमधुनापि दृश्यते।[88] गुजरातप्रदेशे आणन्दनगरं समया खेडानामकनगरमद्यापि दरीदृश्यते। खेटनगरं

78. खेटं तदर्धविष्कम्भमाहुग्रामं तदर्धतः। समराङ्गणसूत्रधारः, 8.79
79. योजनेन पुरात् खेटम्। तत्रैव, 8.80
80. खेटस्य वास्तुभूमिस्तु प्रायः काननमध्यगाः।
    शबरैश्च पुलिन्दैश्च संयुता मांसजीविभिः।।
    पर्णगेहान्विता विष्वगथ वेष्टिकगेहभाक्।
    एकादिदशवीथ्यन्ताः क्षुद्रवीथ्यस्समन्ततः।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.20–21
81. ग्रामयोः खेटकं मध्ये ....। शिल्परत्नम्, अध्यायः 5, पृ. 17
82. चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम्। अष्टाध्यायी, 6/2/125
83. शूद्रालयसमन्वितं खेटमुक्तं पुरातनैः। मानसारः, अध्यायः 10.29
84. सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं खेटमाहुर्मनीषिणः। आदिपुराणम्, 16/171
85. नदीपर्वत(त्) प्रान्ते (च) शूद्रालयसमन्वितम्।
    महाप्रावृतसंयुक्तं खेटमुक्तं पुरातनैः।। मानसारः, 10.29
86. शूद्रैरधिष्ठितं यन्नद्यचलावेष्टितं तु तत्खेटम्। मयमतम्, 10.26
87. अमरकोशः, काण्डः 3, वर्गः 1/54
88. पाणिनिकालीनभारतवर्षः, पृ. 78

वस्तुतो लघुग्राम: एव यस्मिन् दश-पञ्चदशपरिवाराणामावासो भवेत्।

* **खर्वटं कर्वटं वा** - खर्वटम् आचार्य: कौटिल्य: द्विशतग्रामाणां मध्ये प्रधानमधिष्ठानं स्वीकरोति।[89] अत: सम्भवमस्ति यत् जनसन्निवेशस्य प्रधानभाग: नगरमिदं भवति स्म। इदं ग्रामाणां रक्षणार्थं दुर्गरूपे स्थितमासीत्। अमरकोशानुसारेण खर्वटं नद्या: पार्श्वे पर्वतस्य पार्श्वे वा भवेत्।[90] आदिपुराणानुसारमेतत् नगरं पर्वतीयप्रदेशात् परिवेष्टितं मन्यते।[91] मानसारग्रन्थेऽपि खर्वटमधिकांशत: पर्वतस्य सन्निकटं प्रदर्शितम्। नगरेऽस्मिन् नानाजातीनां जना: निवसन्ति।[92] वात्स्यायनाचार्यस्य कथनानुसारं खर्वटे सभ्यनागरिका: निवासं कुर्वन्ति स्म।[93]राजाभोजेन एतस्य कृते कर्वटशब्दस्य प्रयोगं कृत्वा नगरमिदं शाखानगरस्यान्तर्गतं विहितम्।[94] विश्वकर्मवास्तुशास्त्रेऽस्योल्लेख: ग्रामरूपे मिलति।[95] खर्वटस्य वास्तुभूमिस्तु प्राय: नदीतीरगतैव भवति। एतत् छायावृक्षसमूहयुक्ता निष्कुञ्जोपेता उपवनयुक्ता च कथ्यते। अत्र विंशतिवीथय: अनेकाश्च क्षुद्रवीथय: भवन्ति। एतस्मिन् शतगृहै: युक्ता एक मुख्या वीथी अपि भवति यत्र मुख्यवीथ्या: मध्ये कालिकाप्रासाद: स्यात्। कृषका: भृत्या: मदिरागृहाणि आपणाश्च स्थानेऽस्मिन् भवन्ति।[96]

मानसारग्रन्थानुसारं एतत् नगरं पर्वतेन परिवेष्टितं नानावर्णजनानामावासयुक्तं वर्तते। सर्वविध-प्रचारसाधनयुक्तै: एतत् खर्वटनाम्ना ज्ञायते।[97] आचार्य: मय: अपि खर्वटनगरस्य प्राय: इमामेव परिभाषां कृतवान्।[98] अनेन प्रकारेण सर्वेषु वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु प्राप्तस्य खर्वटनगरस्य लक्षणेन सुस्पष्टं वर्तते यत् एतत् नगरं पर्वतप्रदेशे मन्यते यत् समन्तात् पर्वतात् परिवेष्टितं भवति स्म। सुरक्षादृष्ट्या नगरेऽस्मिन् प्राकारस्य भूमिका महत्त्वपूर्णा वर्तते। अत एव खर्वटनगरं सकलजनानां निवासहेतु: उपयुक्तं कथ्यते। इत्थं नगरेभ्य: न्यूनावाससुविधासम्पन्नग्रामविशेष: एव खर्वटनगरं वर्तते।

* **सेनामुखम्** - शिविररूपे स्थापितसेनामुखनगरं प्राय: क्रमिकास्थायिनिवास- केन्द्राणि कथ्यन्ते यानि सीमाप्रान्तेभ्य: आगतसैन्यधिकारिणां नवीनायुध-प्रशिक्षणाभ्यासचिकित्सा-

---

89. द्विशतं ग्राम्या खार्वटिकम्। अर्थशास्त्रम्, अधिकरणम् 2, अध्याय: 1
90. खर्वटं नाम नदीगिरिसमाश्रयम्। अमरकोश: (सत्येन्द्रमिश्रसम्पादितम्), पृ. 550
91. केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रयक्षते। आदिपुराणम्, 16.171
92. परित: पर्वतैर्युक्तं नानाजातिगृहैर्वृतम्। मानसार:, अध्याय: 10.30
93. कामसूत्रम्, सूत्रम् 2, पृ. 66
94. शाखानगरमेवाहु: कर्वटं नगरोपम्। समराङ्गणसूत्रधार:, 8.3
95. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.61
कदम्बैर्नारिकेलैश्च श्रीपणैस्तिलकैरपि।
छायावृक्षसमाकीर्णा ..... विपण्यादिभिराकृता।। तत्रैव, 8.22-25
96. वास्तुभूमि: खर्वटस्य नदीतीरगता मता।
रसालसालबकुलैस्तिन्त्रिणीवेणुपाटलै:।।
97. परित: पर्वतौर्युक्तं नानाजातिगृहैर्वृतम्।
सर्वप्रचारसंयुक्तमेतत्खर्वटमीरितम्।। मानसार: 10.30
98. परित: पर्वतयुक्तं खर्वटकं सर्वजनसहितम्। मयमतम् 10.27

मनोरञ्जनयुक्तसम्पूर्णसचलसाधनसम्पन्नसुरक्षितस्थानानि इतरजनप्रवेशबाधितानि भवन्ति।[99] मयमतानुसारेण नगरेऽस्मिन् सर्वप्रकाराणां जनानां निवासस्थानेन सह राजभवनमपि विद्यमानो भवति। अत्र बहुसैन्यजनाः नूतनास्त्रशस्त्रप्रशिक्षणभ्यासयुक्तं भूत्वा सैन्यैकांशव्यवस्थायुतानि वसन्ति।[100] सेनामुख्यनगरस्य विषये सर्वेषु वास्तुशास्त्रग्रन्थेषु उल्लेखो न प्राप्यते।

* **शिबिरम्** - शिबिरनगरे नृपसचिवसेनानायकबलिसंग्राहकन्यायविद्सभाध्यक्षादयः निवासं कुर्वन्ति। एतदतिरिक्तं यस्मिन् नगरे राजपुरुषाणामधिकारीणाञ्च कृते सर्वदा सुयोग्यनिवासस्थलानि निर्मितानि भवन्ति, तन्नगरं शिबिरं कथ्यते।[101] शिल्पज्ञैः एतानि नगराणि चलाचलरूपेण स्थापनीयानि। मानसारे[102] मयमते[103] च नगरस्यास्य वर्णनं मिलति। इत्थं स्पष्टमस्ति यत् सीमामुख्यालयकेन्द्रेभ्यः अन्यत्र गन्तव्यमार्गे विश्रामस्य कृते सैन्याभ्यासार्थमापणचिकित्सोपचारमनोरञ्जनादीनां कृते चलव्यवस्थायुतानि काष्ठपटवज्रचूर्णेष्टिकादिभिश्च निर्मितानि जनावासात् दूरं स्थापितानि राजपथसमीपवर्तिकुटीराणि नगरेऽस्मिन् भवन्ति।

स्थापत्यशास्त्रानुसारं नगरभेदस्यान्तर्गतं नगर-पत्तन-द्रोणमुख-राजधानी-पुटभेदन-निगम-स्थानीय-खेट-खर्वटमित्यादीनाञ्च विस्तृतं क्षेत्रं सम्मिलितमस्ति। मार्कण्डेयपुराणेऽपि नगरसम्बन्धिनः व्याख्याः सम्प्राप्यन्ते।[104] एतदतिरिक्तं पुरं, नगरी, कुब्जकं, वाहिनीमुखं, कोत्मकोलकं, स्कन्धावारं, ज्येष्ठं, मध्यमं कनिष्ठञ्च नगराणां भेदाः अपि अत्र विवेचिताः सन्ति। इत्थं सुस्पष्टं भवति यत् वास्तुशास्त्रदृष्ट्या प्राचीनकाले अनेकानि नगराणि आसन्।

---

99. संस्कृतवाङ्मये विज्ञानम्, पृ. 397
100. परनृपदेशसमीपे युद्धारम्भक्रियोपेतम्।
सेनासेनापतियुक्तं .... तज्ज्ञैः।। मयमतम्, 10.29-30
101. भूपालस्सचिवस्सेनानायको बलिकारकः।
न्यायविच्च सभाध्यक्षो ये चान्ये राजपुरुषाः।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, 8.66-67
102. मानसारः, अध्यायः 10
103. मयमतम्, अध्यायः 10
104. यो जनेन पुरात् खेटं खेटात् ग्रामं प्रचक्षते।
गव्यूति परिमाणेन .... राष्ट्रमुच्यते।। मार्कण्डेयपुराणम् 49.42.43

दिगनुरूपद्वारनिर्धारणम्

श्रीमृत्यञ्जय त्रिपाठी

भारतीयसंस्कृतिः संस्कृतवाङ्मयश्च विश्ववाङ्मयसमुदाये मूर्द्धन्यमिति नैवात्युक्तिः। वेदा एवास्माकं संस्कृतसाहित्यस्य संस्कृतेश्च आधारभूताः प्राणभूताश्च सन्ति नास्त्यत्र सन्देहावकाशः। वास्तुशास्त्रस्य मूलाधारभूतः स्थापत्यवेदोऽपि अथर्ववेदस्योपवेदोऽस्ति। वेदेष्वपि वास्तुशास्त्रस्य महत्वं प्रतिपादितमस्ति। कालान्तरे तस्योन्नतं स्वरूपमेव अन्येषु ग्रन्थेषु दृश्यते। शास्त्रस्यास्य वैशिष्ट्यमनेनैव ज्ञायते यज्जनैरिदं शास्त्रं व्यवहारशास्त्रत्वेन समाद्रियते। इदं शास्त्रं शास्त्रदृष्ट्या व्यवहारदृष्ट्या च अन्यशास्त्रेषु शीर्षस्थत्वेन स्मर्यते।

यस्यां भूमौ भवनादिकं निर्मीयते अथवा वासयोग्यः भूखण्डः भवनञ्च वास्तुशब्देनाभिधीयते। "मयमतम्" नामाख्ये ग्रन्थे वास्तुशास्त्रविषये समुचितमुक्तं यद् देवाः मानवाश्च यत्र निवसन्ति तदेव वास्तु तद्यथा–

अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र तत्र वसन्ति हि।
तद्वस्त्विति मतं तज्ज्ञैस्तद्भेदं च वदाम्यहम्।।[1]

अपि च वास्तुशास्त्रस्य चत्वारः भेदाः अपि तत्र वर्णिताः, परं तेषु भेदेषु भूमेरेव प्राधान्यमस्ति।

भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि।।[2]
प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात्।
वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः।।[3]

वास्तुशास्त्रानुसारेण भवननिर्माणात् पूर्वं भूखण्डचयनं, भूशोधनं, भूखण्डोपरि दिक्शोधनादिकं कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं स्वप्रयोजनानुसारेण वास्तुशास्त्रीयनिमानुसारेण च भवनानां निर्माणं करणीयम्। वास्तुशास्त्रीयनियमाननुसृत्यैव वयं भवनानां, गृहाणां, राजप्रासादानां, नगराणां, देवालयानाञ्च उत्तमोत्तमशुभफलं प्राप्तुं शक्नुमः।

---

1. मयमतम् अध्याय 2 श्लोक 1
2. मयमतम् अध्याय 2 श्लोक 2
3. मयमतम् अध्याय 2 श्लोक 3

गृहनिर्माणसमये सर्वप्रथमं दिग्ज्ञानमावश्यकम्। दिग्ज्ञानं विना भूखण्डस्य शुभाशुभत्वं ज्ञातुमेव न शक्यते। दिग्ज्ञानेन वास्तुशास्त्रीयनियमान् अनुसृत्य भवनानां निर्माणं क्रियते। दिशं शोधयित्वा देवालयानां, राजप्रसादानां, सामान्यभवनानां, द्वाराणां, यज्ञादिक्रियासम्पादनार्थं विविधकुण्डानां वेदिकानाञ्च निर्माणं क्रियते। दिग्ज्ञानं विना निर्मितभवनं यदि दिङ्मूढो भवति तर्हि शास्त्रानुसारेण गृहपतेः कुलनाशो भवति। उक्तं हि–

> **प्रासादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुण्डे विशेषतः।**
> **दिङ्मूढ़े कुलनाशः स्यात् तस्मात् संसाधयेद्दिशः॥[4]**

दिक्साधनविषये न केवलं सिद्धान्तग्रन्थेषु, वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेष्वपि विस्तरेण वर्णनं प्राप्यते। वास्तुशास्त्रस्य विविधेषु ग्रन्थेषु न केवलं दिवसे अपितु रात्रावपि दिक्साधनस्य विधयः वर्णितास्सन्ति। इदानीन्तने काले चुम्बकीययन्त्रमाध्यमेन दिक्साधनस्य परम्परा सर्वत्र दृश्यते परञ्च चुम्बकीययन्त्रमिदं यदा चुम्बकीयक्षेत्रे विद्युत्क्षेत्रे वा प्रयुज्यते तदा अनेन यन्त्रेण वयं चुम्बकीयक्षेत्रेषु न सम्यक् दिग् ज्ञातुं न शक्नुमः। तदा सम्यक्तया दिग्निर्धारणमेव न भवति। यद्यपि प्राचीन विधिना दिक्साधनस्य रीतिः क्लिष्टा त्वस्ति परञ्च विश्वसनीयाऽस्ति।

वास्तुशास्त्रानुसारेण भवनस्य द्वारं न केवलं द्वारं वर्तते अपि तु तत्र निवासकर्तृणां उन्नतेः द्वारमपि भवति। भवनेषु वास्तुशास्त्रीरीत्या कक्षविन्यासं कृत्वा यदि द्वारस्थापनं निषिद्धस्थानेषु क्रियते तर्हि तत्र निवासकर्तृणां विकासो बाधितो भवति। अतोऽत्र द्वारस्थापने वास्तुशास्त्रीयनियमानां ध्यानमावश्यकं वर्तते।

वास्तुशास्त्रे राशि–वर्ण–आय–वास्तुचक्रेण च द्वारस्थापनं क्रियते। यथा–

1. राश्यनुसारं द्वारस्थापनम्– ज्योतिषशास्त्रवास्तुशास्त्रयोश्च पारस्परिकं अङ्गाङ्गिभावश्च वर्तते। यतो हि प्राच्यादिदिशां स्वामिनः ग्रहा एव सन्ति। अतः वास्तुशास्त्रीयग्रन्थेषु ग्रहाणां, राशीनाञ्च चर्चा अनेकत्र प्राप्यते। गृहस्य मुख्यद्वारस्थापनेऽपि राशिविचारः क्रियते। गृहपतेः राश्यनुसारमेव मुख्यद्वारं निर्धार्यते। यथा– मेष–सिंह–धनुराशीनां द्वारं उत्तरदिशि, वृष–तुला–कुम्भराशीनां द्वारं पश्चिमदिशि, मिथुन–कन्या–मकरराशीनां दक्षिणदिशि अपि च कर्क–वृश्चिक–मीनराशीनां द्वारं पूर्वदिशि शुभदं भवति।

2. वर्णानुसारेण द्वारस्थापनम्–ज्योतिषशास्त्रस्य विविधेषु ग्रन्थेषु राशीनां वर्णकथनमपि कृतम्। द्वादशराशीनां विभागः ब्राह्मणादीनां चतुर्षु वर्णेषु कृतः। त एव वर्णाः गृहस्य मुख्यद्वारनिर्धारणे वैशिष्ट्यं भजन्ते। राशीनां वर्णाधारेण द्वारदिग्ज्ञानं क्रियते। यथा ब्राह्मणराशीनां पूर्वदिशि, क्षत्रियराशीनां उत्तरदिशि, वैश्यराशीनां दक्षिणदिशि, शूद्रराशीनां पश्चिमदिशि द्वारं शुभदः भवति। तद्यथा–

---

4. बृहद्वास्तुमाला, दिक्साधनप्रकारः, श्लोक 1

पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वारं नृपाणामुत्तरे मतम्।।[5]

3. आयानुसारेण द्वारस्थापनम् आयसाधनमपि वास्तुशास्त्रस्य मूलाधारेषु अन्यतमं वर्तते। कस्यपि भवनस्य निर्माणात् पूर्वं पिण्डसाधनस्य प्रक्रिया भवति। निर्मितस्य भवनस्यापि आयसाधनं कर्तुं शक्यते। भवनस्य दीर्घविस्तारयोः गुणनफलमष्टभिः विभज्य शेषवशाद् आयः ज्ञायते। अर्थात् शेषसंख्यानुसारमेव ध्वजादि-आयाः भवन्ति। तदनुगुणमेव मुख्यद्वारस्य दिक्निर्धारणं भवति।

सर्वद्वार इहध्वजो वरुणदिग्द्वारं च हित्वा हरिः।
प्राग्द्वारो वृषभो गजो यमसुरेशाशामुखः स्याच्छुभः।।[6]

आयः	**द्वारदिक्निर्णयः**
ध्वजः	चतुर्षु दिक्षु
सिंहः	पूर्व-उत्तर-दक्षिणदिक्षु
गजः	पूर्वदक्षिणयोः दिशोः
गौ	पूर्वदिशि

4. वास्तुचक्रेण द्वारस्थापनम् एकाशीतिपदवास्तुमण्डले चतुष्षष्टिःपद वास्तुमण्डले वा स्थितदेवानां प्रकृतेराधारेण द्वारस्थापनं क्रियते। अस्मिन् विषये वास्तुप्रदीपकारस्य मतमस्ति यत् भूखण्डस्य नवभागं कृत्वा दक्षिणहस्ते पञ्चभागं वामहस्ते च त्रयभागं विहाय द्वारस्थापनं शुभदं भवति।

वास्तुशास्त्रीयचक्रानुसारेण भवनेषु द्वारस्थापनं निम्नप्रकारेण क्रियते। तद्यथा-

नवभागं गृहं कृत्वा पंचभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कार्यं शेषं द्वारं प्रकीर्तितम्।।[7]

---

5. बृहद्वास्तुमाला, गृहारम्भेद्वारनिर्णयः, श्लोक 149
6. बृहद्वास्तुमाला, गृहारम्भेद्वारनिर्णयः, श्लोक 150
7. उद्धृतं वास्तुसारः, वास्तुविन्यासप्रकरणं, पृ. सं. 75 श्लोक 111

ईशानः				पूर्वः				आग्नेयः	
उत्तरः	ईश	पर्जन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	आकाश	वह्नि
	दिति	आप	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	सावित्र	पूषा
	अदिति	अदिति	आपवत्स	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	सविता	वितथ	वितथ
	शैल	शैल	पथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गृहक्षत	गृहक्षत
	कुबेर	कुबेर	पथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	यम	यम
	भल्लाट	भल्लाट	पथ्वीवर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गन्धर्व	गन्धर्व
	मुख्य	मुख्य	राजयक्ष्मा	मैत्र	मैत्र	मैत्र	इन्द्र	भं	भं
	नाग	रुद्र	शोष	असुर	वरूण	पुष्पदन्त	सुग्रीव	जय	मा
	रोग	पाप	शोष	असुर	वरूण	पुष्पदन्त	सुग्रीव	दौवारिक	पितर
वायव्यः				पश्चिमः				नैर्ऋत्यः	दक्षिणः

एकाशीतिपदवास्तुचक्रे चतुर्षु दिक्षु नव-नव भागाः भवन्ति परञ्च चतुःषष्टिपदवास्तुचक्रे चतुर्षु दिक्षु अष्ट-अष्टकोष्ठकाः भवन्ति। अनेन एकस्मिन् भूखण्डे द्वात्रिंशद्द्वाराणि भवितुमर्हन्ति। अतोऽत्र चतुर्षु दिक्षु स्थितविभिन्नदेवानां प्रकृतेराधारेण द्वारस्थापनस्य शुभाशुभफलं प्राप्यते। पूर्वदिशमारभ्य क्रमेण चतुर्षु दिक्षु द्वात्रिंशद्पदेषु द्वारस्थापनस्य शुभाशुभफलन्तु–

नवगुणसूत्रविभक्तन्यष्टगुणेनाथवा चतुःषष्टेः।
द्वाराणि यानि तेषामनलादीनां फलोपनयः।।[8]

अनिलभयं स्त्रीजन्म प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधाधिकत्वमनृतं क्रौधं चौर्यं क्रमात्पूर्वे।।[9]

---

8. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय 53 श्लोक 69
9. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय 53 श्लोक 70

अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन॥[10]

सुतपीडा रिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
धनसम्पत्तिनृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे॥[11]

वधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषाः स्त्रिया नैःस्वम्॥[12]

क्रमसंख्या	दिक्	देवाः	द्वारफलम्
1.	ईशानः	ईशः	अग्निभयम्
2.	पूर्वः	पर्जय	कन्याप्राप्तिः
3.	पूर्वः	जयन्तः	धनलाभः
4.	पूर्वः	इन्द्रः	राजप्रियता
5.	पूर्वः	सूर्यः	मनस्तापः, क्रोध
6.	पूर्वः	सत्यः	असत्यता
7.	पूर्वः	भृशः	क्रूरता
8.	पूर्वः	आकाशः	चौरभयम्
9.	आग्नेयः	अग्निः	पुत्रकष्टम्/अल्पपुत्रप्राप्तिः
10.	दक्षिणः	पूषा	परिजनकष्टः/दासवृत्तिः
11.	दक्षिणः	वितथः	कल्याणम्/भक्ष्यपानवृद्धिः
12.	दक्षिणः	गृहक्षतः	पुत्रलाभः
13.	दक्षिणः	यमः	मृत्यु/रौद्रम्
14.	दक्षिणः	गन्धर्वः	अपमानम्
15.	दक्षिणः	भृंगः	धनहानिः
16.	दक्षिणः	मृगः	बलहानिः
17.	नैर्ऋत्यः	पितरः	पुत्रनाशः
18.	पश्चिमः	दौवारिकः	कर्णरोगः/शत्रुवृद्धिः

10. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय 53 श्लोक 71
11. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय 53 श्लोक 72
12. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय 53 श्लोक 73

19.	पश्चिमः	सुग्रीवः	अर्थसंकटम्/पुत्रहानिः
20.	पश्चिमः	पुष्पदन्तः	सन्तुष्टिः/धन-सम्पतिप्राप्तिः
21.	पश्चिमः	वरुणः	आरोग्यता/धनसम्पतिः
22.	पश्चिमः	असुरः	राजभयम्/हानिः
23.	पश्चिमः	शोषः	अर्थक्षयः
24.	पश्चिमः	पापयक्ष्मा	रोगः
25.	वायव्यः	वायुः	मृत्युः/बधबन्धनभयम्
26.	उत्तरः	नागः	शत्रुवृद्धिः
27.	उत्तरः	मुख्यः	सन्ततिलाभः/धनलाभः
28.	उत्तरः	भल्लाटः	गुणवृद्धिः/सम्पत्तिः
29.	उत्तरः	कुबेरः	ऐश्वर्यप्राप्तिः
30.	उत्तरः	शैलः	परिजनैः/विवादः
31.	उत्तरः	अदितिः	स्त्रीकष्टम्
32.	उत्तरः	दितिः	कार्यबाधा, निर्धनता

ईशानः पूर्वः आग्नेयः

उत्तरः दक्षिणः

ईशः	पर्जन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	आकाशः	वह्निः
दितिः								पूषा
अदिति								वितथः
शैलः								गृहक्षतः
कुबेरः								यमः
भल्लाटः								गन्धर्वः
मुख्यः								भृंगः
नागः								मृगः
रोगः	पापः	शोषः	असुरः	वरुणः	पुष्पदन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	पितृ

वायव्यः पश्चिमः नैर्ऋत्यः

श्रीपतिमतेन द्वारमुखज्ञानम्

श्रीपतिमतानुसारेण भूखण्डोपरि द्वारनिर्धारणं विभिन्नराशिषु सूर्यस्थित्यनुसारेण क्रियते। कर्क-मकर-कुम्भ-सिंहराशिषु सूर्यो भवति चेत् पूर्वपश्चिमदिशोः द्वारं शुभदं भवति, अपि च तुला-मेष-वृष-वृश्चिकराशिषु सूर्यो भवति चेत् भूखण्डस्य दक्षिणोत्तरदिशोः द्वारं शुभदं भवति। यदि सूर्यस्य स्थित्यनुसारं विहितदिक्षु द्वारं न स्थाप्यते, अपितु अन्यासु दिक्षु गृहस्य मुख्यद्वारं क्रियते, तदा दुर्मति-व्याधि-शोक-धननाशादीनामशुभफलानां प्राप्तिर्भवति-

कर्कनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि।
तौलिमेषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखानि च कुर्यात्।
अन्यथा यदि करोति दुर्मतिर्व्याधिशोकधननाशमाप्नुयात्।।[13]

अनेन प्रकारेण गृहस्य द्वारविन्यासविषये वास्तुशास्त्रस्य विविधेषु ग्रन्थेषु विस्तरेण चर्चा समुपलभ्यते। कस्यापि गृहस्य प्रवेशद्वारमेव तस्य गृहस्य मुखं भवति। मनुष्यशरीरे मुखस्य यत् महत्त्वमस्ति तदेव महत्त्वं गृहे मुख्यद्वारस्य भवति, अतः गृहस्य मुख्यद्वारनिर्धारणे वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्ता-नामनुपालनमत्यन्तमावश्यकं वर्तते। एतेषां सिद्धान्तानामनुपालनं कृत्वा वयं चतुर्षु दिक्षु गृहस्य द्वारं कर्तुं शक्नुमः। अनेन दक्षिणदिश्यपि गृहस्य द्वारं स्थापयितुं शक्यते। चतुर्षु दिक्षु यस्मिन् यस्मिन् पदे द्वारस्थापनस्य शुभफलं वर्णितं तस्मिन् तस्मिन्नेव पदे गृहस्य मुख्यद्वारं स्थापनीयमिति।

---

13. उद्धृतं वास्तुसारः, वास्तुविन्यासप्रकरणं, पृ. सं. 74 श्लोक 110

भारतीयवास्तुविज्ञानम्

दीपकवशिष्ठः

प्रागैतिहासिककालादेव मानवैः जीवनरक्षायै कस्यचिद् आश्रयस्य आवश्यकता अनुभूता। तस्मिन् काले वृक्षकुञ्जरेषु पर्वतकन्दरासु च आदिमानवस्याश्रयस्थानमासीत्। बहव्यः कन्दराः प्राकृतिकाः आसन्। बहव्यः कन्दराः प्राकृतिकाः आसन्। शिलाश्रयेषु निवासमानाः जनाः कदाचित् कन्दराणां अन्तःभित्तिषु छदिस्सु च विभिन्नानि रोचकानि चित्राणि रचयन्ति स्म। प्राचीनकन्दराचित्रैः तत्र निवासमानानां जनानां दिनचर्यायाः ज्ञानं भवति। तेषु मुख्यरूपेण विभिन्नायुधैः पशु-पक्षिणां आखेटः, पशुनां युद्धः, मानवेषु युद्धः, पशुवाहनं, गीतं, नृत्यं, पूजनं, मधुसञ्चयं तथा च जनानां दिनचर्यासंबद्धाः नैके दृश्याः प्राप्यन्ते। जनानां जीविकोपार्जनस्य मुख्यसाधनमाखेट आसीत्। आखेटस्य विविधाः दृश्या एषु चित्रेषु समुपलभ्यन्ते।

मानवसभ्यतायाः विकासेन सह जनानां निवासेऽपि परिवर्तनम् अभवत्। आखेटस्य स्थाने कृषिपशुपालनं जीविकोपार्जनस्य मुख्यसाधनम् अभवत्। शिलाश्रयान् परित्यज्य मानवेन समतलभूमौ वास आरब्धः, स्वनिवासाय शिलानां, मृत्तिकायाः एवञ्च काष्ठानां गृहं निर्मितम्। सुव्यवस्थितजीवनस्य परम्परा आरब्धा येन ग्रामाणां, पुराणां नगराणाञ्च जन्म अभवत्। गृहनिर्माणं विकसितसभ्यतायाः प्रमुखमेकम् अङ्गं जातम्। ग्रामनगरसन्निवेशस्य विविधानि उपाङ्गानि अस्तित्वे समागतानि तथा च भवननिर्माणे भूचयन-मापन-संस्कारादीनां विकासोजातः।

भारतवर्षस्य इतिहासकल्पना जनाः आर्यजात्या तथा च तेषां सभ्यतायाः विकासेन कुर्वन्ति। एतेषाम् आर्यानां प्रधानसाहित्ये ऋग्वेदे भवननिर्माणस्य नैके उल्लेखाः प्राप्यन्ते। तत्र एकस्मिन् स्थाने सहस्रस्थूणानां भवनस्य उल्लेखो विद्यते। यथा-

राजानावसभिद्रुहा ध्रुवे सदस्यत्तये। सहस्रस्थूण आसाते।[1]

अर्थात् अत्यन्ततेजस्विनौ एतौ मित्रवरुणौ एतादृशे यज्ञमण्डपे उपविशतः यत्तु सहस्रस्थूणैः निर्मितः उत्तमः दृढश्च वर्तते। एतादृशे यज्ञमण्डपे उपविश्य एतौ सोमं पिबतः तथा च उपासकस्य प्रार्थनां श्रृणुतः। एवमेव-

अद्या मही न आयस्य नाघृष्टो नृपीतये। पूर्भवा शतभुजिः।[2]

1. ऋग्वेद संहिता (2/41/5)
2. ऋग्वेद संहिता (7/15/14)

अर्थात्-हे अग्ने! यथा दुर्गे निवसितान् जनान् दुर्गं चतुर्विधं रक्षति। बाह्यशत्रूणां तेषु आक्रमणं न भवितुं शक्यते तथैव अग्निः स्वोपासकानां रक्षां कुर्यात्।

पुरातात्विकोत्खननेन प्रमाणितं भवति यत् प्राचीनकालादेव अत्र मूर्तिपूजा प्रचलिता आसीत्। सिन्धुसभ्यताया उत्खननेन केचन एतादृश्यः मूर्तयः, अंकनचिह्नानि च उपलब्धानि अभवन् यैः निष्कर्षमिदं समुपलब्धं यत् मूर्तिपूजा हड़प्पासंस्कृतेः प्रमुखमङ्गमासीत्। उत्खननेन प्राप्ताः मातृदेव्याः बहुभिः मूर्तीभिः इदं सिद्ध्यति यत् हड़प्पा एवञ्च मोहन-जो-दडोनिवासिनः मूर्तिपूजकाः आसन। केचन विद्वांसः अस्याः सभ्यतायाः वैदिकसभ्यतया सह सम्बन्धं न स्वीकुर्वन्ति तथाऽपि केचन विद्वांसः हड़प्पायाः अभिन्नता 'हरि-यूपिया' इत्यनेन सिद्ध्यन्ति।[1] 'हरि-यूपिया' इत्यस्य उल्लेखः वारमेकम् ऋग्वेदे अभवत्।[2] केषाञ्चनविदुषां मतानुसारेण हड़प्पायाः सभ्यता वैदिकसभ्यतैव आसीत्। एवं प्रतीयते यत् हडप्पासभ्यता वैदिक-आर्यानां अपि च अनार्याणां संश्लिष्टसंस्कृति आसीत्। आधुनिकाध्ययनेन इदं सिद्ध्यति।

हड़प्पायाः उत्खननेन इदं ज्ञातं यत् नगरं प्रायः 3 मीलपरिसरे विस्तृतम् आसीत्। ये भग्नावशेषाः प्राप्ताः तेषु स्थापत्यकलायाः दृष्ट्या दुर्गं एवञ्च रक्षाप्राचीरम् अतिरिच्य निवासगृहाणां, चतुर्णामन्नागाराणाञ्च विशेषमहत्वं दृश्यते। वैदिककाले प्रादुर्भूतस्य वास्तुशास्त्रस्य पूर्णविकासः आगम काले पुराणकाले च अभवत्। महाभारतकाले अस्य शास्त्रस्य पूर्णविकासस्य प्रमाणं प्राप्यते। प्रारम्भिकावस्थायां एषा विद्या पूर्णरूपेण ''द्विजानां विद्या'' नाम्ना विख्याता आसीत्।[3] कालान्तरे एषा विद्या द्विजेभ्यः द्विजेतराणां हस्ताङ्गता जाता। अस्मिन् सन्दर्भे ब्रह्मवैवर्तपुराणे विश्वकर्मणः शापदग्धपुत्राणां यथा मालाकारः, कर्मकारः, शंखकारः, कुविन्दः, कुम्भकारः, कांस्यकारः, सूत्रधारः, चित्रकारः, स्वर्णकारश्चैतेषांणाञ्च वर्णनमुपलभ्यते।[4]

पुराणानुसारं सर्वप्रथमं ब्रह्मणः आदेशानुसारं पृथुना पृथ्वीं समतलं कृत्वा सुव्यवस्थितस्य आवासस्य कल्पना कृता। ब्रह्मणा स्वचतुर्भिः मुखैः विश्वकर्मादीनामुत्पत्तिः कृता। ब्रह्मणः पूर्वमुखं विश्वभूः, दक्षिणमुखं विश्वविद्, पश्चिममुखं विश्वस्रष्टा तथा च उत्तरमुखं विश्वस्थ इति नाम्ना प्रसिद्धमस्ति। ब्रह्मणः विश्वभूनामकमुखात् विश्वकर्मणः, विश्वविन्नामकदक्षिणमुखात् मयस्य,

---

1. जरनल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, जिल्द 26 (1950) पृ. 56
उधृत-भारतीय वास्तुकला का इतिहास तृ.सं. 2002, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, हड़प्पा-सभ्यता युग पृष्ठ-17
2. वधीदिन्द्रो वरशिखस्य शेषो*भ्यावर्तिने चायमानाय शिक्षन्।
वृचीबतो यद्धरियूपीयायां हन् पूर्वे अर्धे भियसापरो दत्।। ऋग्वेद संहिता (6/27/5)
3. सुशीलः चतुरो दक्षः शास्त्रज्ञो लोभवर्जितः।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्रधारः स उच्यते।। राजवल्लभमण्डनम् अध्याय-1, श्लोक-41
4. ततो बभूवुः पुत्राश्च नवैते शिल्पकारिणः।
मालाकारकर्मकारशङ्खकारकुविन्दकाः।।
कुम्भकारः कांस्यकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद् अयाज्या वर्णसङ्कराः।। ब्रह्मवैवर्तपुराण 1/10/19-20

विश्वस्रष्टानामकपश्चिममुखात् मनोः एवञ्च विश्वस्थनामक-उत्तरमुखात् त्वष्टोत्पत्तिः अभवत्। ब्रह्मादेशानुसारं चतुर्भिः पुत्रैः नगर-ग्राम-पुरादीनां पृथक्-पृथक् रचना कृता। ब्रह्मणः आदेशानुपालनार्थं कुशलशिल्पकारस्य आवश्यकता अनुभूता। अतः चतुर्भिः शिल्पकारैः विभिन्नकार्येषु दक्षाः पुत्राः उत्पादिताः। विश्वकर्मणः पुत्रः स्थपतिः, मयस्य पुत्रः सूत्रग्राही, मनोः पुत्रः तक्षकः, त्वष्टुः पुत्रः वार्द्धकिश्च आसीत्।[1] कस्यचिदपि निर्माणस्य कृते विभिन्नप्रकाराणां शिल्पकाराणामावश्यकता दृश्यते। कश्चन पाषाणविशेषज्ञः, कश्चन काष्ठविशेषज्ञः कश्चन धातुविशेषज्ञः च भवति। सर्वेषां विशेषज्ञानां संयुक्तप्रयासेन किमपि निर्माणकार्यं सम्भवति। सुखेन जीवनयापनाय गृहस्थः गृहनिर्माणं करोति। गृहनिर्माणस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादयन् चाणक्यः कथयति- **'परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति'**। गृहं स्त्रीपुत्रादीनां सौख्यदायकं, धर्मार्थकामप्रदायकं, प्राकृतिकापदाभिः रक्षकञ्च भवति।[2] भारतीयवास्तुशास्त्रस्य मूलसंकल्पनास्ति यत् शास्त्रमिदं पञ्चमहाभूतेभ्यः निर्मितयोः मानवशरीरप्रकृत्योः मध्ये सामञ्जस्यस्थापनं तथा च प्राकृतिकशक्तीनां (सौर-गुरुत्व-चुम्बकीयानां) प्रबन्धनं करोति। भारतीयस्थापत्यानुसारं देवभवनं सामान्यजनभवनस्य राजभवनस्य वा अपेक्षया एकं विशेषं निवेशं भवति। निवेशेऽस्मिन् सैद्धान्तिकम् एव न अपितु कलात्मकमन्तरमपि दृश्यते। प्राचीनभारते प्रायः स्थापत्यकलायाः शैलीद्वयं प्रसिद्धमासीत्-एका 'नागरशैली' अपरा च 'द्राविड़शैली'। 'नागरशैली' इत्यस्य उत्तरभारतेन सह सम्बन्धः, 'द्राविड़शैल्याः' सम्बन्धस्तु दक्षिणभारतेन सह वर्तते। तत्र उत्तरभारतस्य विधायाम् आचार्यत्वेन शम्भु-गर्ग-अत्रि-वसिष्ठ-पाराशर-बृहद्रथ-विश्वकर्मा-वासुदेवादयः आसन्। दक्षिणभारते तावत् ब्रह्मा-त्वष्ट्रा-मय-मातङ्ग-भृगु-कश्यपादयः आसन्। वस्तुतः वास्तुशास्त्रस्य उद्भवे मयस्य विश्वकर्मणः च प्रसिद्धिः अधिका वर्तते।' देवानां शिल्पी 'विश्वकर्मा' मयः असुराणां शिल्पी इति प्रसिद्धोऽस्ति।

संस्कृतवाङ्मये प्रासादानां चर्चाऽपि बहुत्र दृश्यते यथा महाभारते विविधराजप्रासादानां चर्चा वर्तते, आदिकाव्ये श्रीमद्वाल्मीकिरामायणे अयोध्यायाः वर्णनं लङ्कायाश्च वर्णनं प्राप्यते। उभयत्रापि प्रासादानां विशदतया चर्चा समागता। तथैव जैनग्रन्थेषु बौद्धग्रन्थेष्वपि वास्तुविषयकसामग्री बहुषु स्थलेषु प्राप्यते। एवञ्च श्रीमद्भागवतपुराणे द्वारिकायाः वर्णनं तु अद्भुतमेव दृश्यते। अन्येष्वपि पुराणेषु यथा

---

1. स्थपतिः सर्वशास्त्रज्ञो वेदविच्छास्त्रपारगः।
स्थापयत्यधिकपतिर्यस्मात् तस्मात् स्थपतिरुच्यते।।
स्थपतेराज्ञया सर्वे सूत्रग्राह्यादयः सदा।
कुर्वन्ति शास्त्रदेशेन वास्तुवस्तु प्रयत्नतः।।
श्रुतज्ञः सुत्रग्राही च रेखाज्ञः शाखवित्तमः।
किवचारज्ञः श्रुतिज्ञश्च चित्रकर्मज्ञवार्द्धकिः।।
तक्षकः कर्मवित्सभ्यः संबान्धवदयापरः।
इहैव लोकस्य यत्कर्म सर्वं तच्छिल्पिनां गुरुः।। वास्तुसार संग्रह, प्राक्कथन पृष्ठ-9
2. स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुधर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाःश्रीविश्वकर्मादयः।। बृहद्वास्तुमाला, श्लोक-4

वाराहपुराणे, शिवपुराणे, मत्स्यपुराणे, अग्निपुराणे विष्णुपुराणादिष्वपि वास्तोः निदर्शनानि प्राप्यन्ते।

धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्वर्गफलाप्तिकरणार्थ वास्तोः परिज्ञानमत्यावश्यकं भवतीति।[1] वास्तुशास्त्रे स्थापत्यकलायाः विविधपक्षाः सम्मिलिताः भवन्ति। नगरयोजनातः आरभ्य राजभवन-उत्कीर्णकला-उद्यान-आयुधागार-जलाशय-देवालय-यज्ञशाला-विप्रवास-देवप्रासाद-राजप्रासाद-विद्यालयभवन-सभाभवन-भृत्यशाला-कर्मशाला-मूर्तिकलेत्यादीनि सर्वाण्येव वास्तुशास्त्रे निहितानि सन्ति। परञ्च वास्तुशास्त्रस्य भव्यपराकाष्ठायाः अनुभवः अस्माभिः प्रासादानां संरचनायां क्रियते।

---

1. चतुर्वर्गफलप्राप्तिस्सल्लोकश्च भवेद् ध्रुवम्।
शिल्पशास्त्रपरिज्ञानान्मर्त्योऽपि सुरतां व्रजेत्।। प्रासादमण्डनम्, अध्याय 1, श्लोक-9

प्रासादेषु प्रतिमादिस्थापनविमर्शः

श्रीविजयकुमारः

विदितमस्ति यद् देवप्रतिष्ठापूजनञ्च सनातनधर्मस्य मुख्याधारो वर्तते। आवैदिककालादेव भक्तिभावनायाः विकासः मानवसभ्यतायां दरीदृश्यते। वैदिककालादेव देववन्दनस्यावधारणा दरीदृश्यते। कालान्तरेण देवानां पूजनं वृक्षौषधिजलाशयादिषु अभवत्। शनैः शनैः प्रतिमालिङ्गानाञ्चावधारणा जाता। देवपूजनस्यावधारणा साकारनिराकारयोः रूपयोः प्राप्यते। निराकाररूपे ब्रह्मप्राप्तिविषये उपनिषत्प्रमाणमेव मन्यते। ध्यानावस्थया ब्रह्मणः निराकाररूपस्य प्राप्तिविषये अद्वैतवादीनां सिद्धान्ता एव मुख्याः सन्ति। ब्रह्मणः देवस्य वा साकाररूपे अभिकल्पना भारतीयपरम्परायां मूर्तिपूजनरूपे आरब्धा। वैदिकपौराणिकसाहित्ये च परिकल्पितदेवानां स्वरूपमाधारीकृत्य देवप्रतिमादीनां मानप्रमाणयुक्ताङ्गादिनिर्माणं स्वरूपस्यालङ्करणं च मन्दिरेषु दृश्यते। ततः देवप्रतिमानां स्थापनं, जीर्णप्रतिमानां विर्सजनं, नूतनप्रतिमानां स्थापनं प्रतिमानां मानाप्रमाणादिविषयमधिकृत्य विविध-वास्तुशास्त्रीयमानकग्रन्थेषु वर्णनं समुपलभ्यते। तत्र शास्त्रेषु प्रतिमानिर्माणे प्रायः दोषरहितपाषाणस्य प्रयोगस्य मतमस्ति। भागवते अष्टविधप्रतिमानामुल्लेखो वर्तते यथा-

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृताः॥[1]

ततः प्रतिमास्थापनस्याङ्गभूतानां विषयाणां, प्रतिमायाः पीठादीनां जीर्णोद्धारविचाराणामत्र विमर्शः क्रियते।

1. प्रतिमास्थापनकालविचारः-

इष्टप्राप्तिरनिष्टपरिहारार्थञ्च देवानामर्चनं कुर्वन्ति जनाः। यदा समुचितकाले गृहे प्रासादे च देवप्रतिमायाः स्थापनं भवेत्तदा नूनमेव सिद्धिः प्राप्यते। यतोहि शुभकालाधीना शुभफलप्राप्तिः। अत्र प्रतिमास्थापनकालविषये वास्तुशास्त्रानुसारेण विचारः क्रियते-

1.1 अयनमासविचारः-घटी-तिथि-लग्न-नक्षत्र-मास-अयनादीनां शुद्धिविचारः प्रतिमास्थापने मुख्यरूपेण क्रियते। एतेषां शुद्धिवशादेवप्रतिमानां स्थापनं करणीयम्। तत्र बृहद्वास्तुमालायां प्राप्यते[2]-

---

1. भागवतम् 51/27/92
2. उद्धृतम् बृहदास्तुमाला, पृ. 171

उत्तरायणगे सूर्ये प्रतिष्ठा शोभना भवेत्।

दक्षिणायनगे सूर्ये प्रतिष्ठा नैव शोभना॥

उग्रप्रकृतिदेवानां प्रतिमानां स्थापनविषये निर्देशोऽस्ति यदेतेषां स्थापना दक्षिणायने कर्तव्या।[3]

शुभाऽशुभमासविचारमते कथितं यत् पौषमासे यदि देवप्रतिमानां स्थापनं क्रियते तदा राजवृद्धिः भवति, माघे प्रतिष्ठाकर्ता सम्पद्युतो भवति। क्रमेऽस्मिन् तालिकायां स्पष्टं क्रियते मासे स्थापनाफलम्[4]–

क्रं.	मासः	शुभाऽशुभफलम्
1.	वैशाखः	सौख्यम्
2.	ज्येष्ठः	जयावहम्
3.	आषाढ़ः	यजमाननाशः
4.	श्रावणः	राज्यराष्ट्रहानिः
5.	भाद्रपदः	सम्मानहानिः
6.	आश्विनः	राज्यहानिः
7.	कार्तिकः	शत्रुवृद्धिः
8.	मार्गशीर्षः	शत्रुवृद्धिः
9.	पौषः	राज्यविवृद्धिः
10.	माघः	सम्पदायुक्तः
11.	फाल्गुनः	द्रव्यलाभः
12.	चैत्रः	शुभम्

प्रतिमाभेदवशाद् स्थापनमासविषये प्रोक्तं यत् श्रावणमासे शिवलिङ्गस्य, आश्विनमासे भगवत्याः, मार्गशीर्षे विष्णोः, पौषमासे शेषनागस्य च स्थापना शुभा भवति। यथा प्रोक्तम्[5]–

श्रावणे स्थापयेल्लिङ्गमाश्विने जगदम्बिकाम्।

मार्गशीर्षे हरिं चैव सर्पान् पौषेऽपि केचन॥

1.2 प्रतिमास्थापने तिथिविचारः– प्रतिपदां विहाय शुक्लपक्षस्य समस्तासु तिथिषु प्रतिमास्थापना शुभावहा भवति। कृष्णपक्षस्य दशमीतिथिं यावदेव स्थापनकार्यं कर्तव्यम्। विशेषतया यासां तिथिनां यो

---

3. मातृभैरववाराह–नारसिंह त्रिविक्रमाः।
   महिषासुरहन्त्री स्थाप्या वै दक्षिणायने। तत्रैव, पृ. 173, श्लोक 08.बृहद्वास्तुमाला पृ.सं.172, श्लोक–4–7
4. तत्रैव, पृ. 173, श्लोक 09
5. तत्रैव, पृ. 173, श्लोक 11–13

अधिपतिः भवति तेषां स्थापना तासु तिथिष्वेव करणीया। अस्मिन् क्रमे द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, पौर्णमासी च प्रतिमास्थापनाय शुभाः तिथयः भवन्ति।[6]

1.3 वारविचारः–प्रतिमादिस्थापनकाले वारशुद्धौ कथितं यद् विप्राणां गुरुशुक्रयोः, क्षत्रियाणां रविभौमयोः, वैश्यानां बुधवासरे तथा च शूद्राणां शनिवासरे प्रतिमास्थापनकर्म करणीयम्।[7]

1.4 शुभनक्षत्रविचारः–वसिष्ठमते हस्त-चित्रा-स्वाति-अनुराधा-श्रवण-धनिष्ठा-शतभिषा-रेवती-अश्विनी-पुनर्वसु-पुष्य-उत्तराषाढा-उत्तराफाल्गुनी-उत्तराभाद्रपदा-रोहिणी-मृगशिरानक्षत्रेषु प्रतिमास्थापनकर्म शुभं भवति, एतेषु नक्षत्रेषु एव प्रतिमा स्थापनीया।[8]

विप्रादिजातिभेदवशादपि नक्षत्राणां विभाजनं दरीदृश्यते। ब्राह्मणेभ्यः उत्तराषाढा-उत्तरफाल्गुनि-उत्तरभाद्रपदा-पुष्यनक्षत्राणि, क्षत्रियेभ्यः श्रवण-हस्त-मूलनक्षत्राणि, वैश्यानां कृते स्वाति-अनुराधा-रेवतीभानि, शूद्राणां कृते अश्विनीनक्षत्रं प्रतिमास्थापनाय प्रशस्तम् ।[9]

1.5 स्थापनकालविचारः–प्रतिमायाः स्थापने कालशुद्धिविषये कथितं यत्[10]-

पूर्वाह्ने चोत्तमं प्रोक्तं मध्याह्ने मध्यमं बुधैः।
सायाह्ने न मया प्रोक्ता स्वगृहे चाशुभे विधौ॥
कदाचिन्निश्यपि प्रोक्ता प्रतिष्ठा च कृते युगे।
कलौ युगेऽतिदोषाय प्रतिष्ठा निशि मानवैः॥

1.6 प्रतिमास्थापनक्रमे लग्नशुद्ध्यादिविचारः–आचार्यवसिष्ठस्य मतमस्ति यद् येन प्रतिमास्थापनकर्म क्रियते तस्य जन्मलग्नतः स्थापनकालस्य लग्नम् अष्टमं न भवेत्। लग्नात् केन्द्र (1,4,7,10)-त्रिकोण-(5, 9) एकादशस्थानेषु शुभग्रहाणां अवस्थितिः भवेयुः। शुभमुहूर्तेषु प्रतिमास्थापनं यदि भवेत् तदा प्रतिमासु देवाधिवासं भवति तथा च स्थापनकर्तारः पुत्र-धन-सुख-आरोग्यताञ्च प्राप्नुवन्ति। प्रतिमास्थापनविषये शुक्रचन्द्रयोः महत्त्वमपि अस्ति।[11]-

शुक्रस्थितांशे राशेर्वा केन्द्रपञ्चायगे विधौ।
देवप्रतिष्ठा कालेऽत्र दोषाः सर्वे शमं ययुः॥

अर्थात् शुक्रः यस्मिन् राशौ स्यात्, यस्मिन्नवांशे वा भवेत् तस्मात् चन्द्रः केन्द्रपञ्चमैकादशस्थानेषु वा स्थितो भवेत् तर्हि प्रतिमास्थापनकाले समस्तदोषाणां शान्तिर्भवति। क्रमेऽस्मिन् नारदमतेऽपि

---

6. तत्रैव, पृ. 174, श्लोक 15-16
8. तत्रैव, पृ. 124, श्लोक 18
9. बृहद्वास्तुमाला, पृ. 175, श्लोक 19-20
10. तत्रैव, पृ. 175, श्लोक 22-24
11. तत्रैव, श्लोक 27-29

जन्मलग्नतः अष्टमं लग्नं स्थापनकाले न भवितव्यम्। तथा च शुभग्रहयोगवशात् तेषां दृष्टिपातवशाच्च समस्तराशीणां ग्रहणं कर्तव्यम्। यथा-

राशयः सकलाः श्रेष्ठाः शुभग्रहयुतेक्षिताः॥[12]

वसिष्ठमते तु गुरुशुक्रबुधेष्वन्यतमः यदि लग्ने स्थितः तदा दुष्टलग्नस्य परिहारो भवति।[13] रिक्तातिथयः (4-9-14) भौमवासरः, क्रूरग्रहेण दृष्टः वेधितो वा चन्द्रः नक्षत्रं च, दग्धातिथयः गण्डान्तनक्षत्राणि, गण्डान्तलग्नानि, गण्डान्ततिथयः, चरराशिलग्नानि, उपग्रहश्च प्रतिष्ठादिके सर्वथा त्यजेदिति।[13] संक्षिप्ते तु सूर्यः यदा उत्तरायणे भवेच्चन्द्रः बृहस्पतेः वर्गे वा भवेत्। स्थिरलग्ने नवांशे च केन्द्रेषु (1,4,7,10) त्रिकोणेषु (9, 5) वा यदा शुभग्रहाः भवन्ति, पापग्रहाः त्रिषड्दशमैकादशस्थानेषु भवन्ति (3, 6, 10, 11) उ.षा.-उ.भा.-उ.फा.-रोहिणी-मृगशिरा-चित्रा-अंनुराधा-रेवती-श्रवण-पुष्य-स्वातिनक्षत्रेषु भौमं वैनाशिकनक्षत्राणि च विहाय शुभवारेषु प्रतिमास्थापनकर्म शुभं भवति।

1.7 प्रतिमास्थापने दिग्विचारः-सम्पूर्णवास्तुशास्त्रे प्राच्यादिदिशां विशिष्टमहत्त्वं वर्तते। भवन-प्रासादादिनिर्माणे दिग्विचारः सूक्ष्मतया क्रियते। इत्थं प्रतिमास्थापनक्रमेऽपि देवानां स्थापने दिङ्निर्धारणं क्रियते। देवादीनां दिशानुरूपं मुखविचारः प्रासादमण्डने[14]-

पूर्वापरस्यां देवानां कुर्यान्नो दक्षिणोत्तरम्।
ब्रह्म-विष्णु-शिवाः केन्द्रग्रहाः पूर्वापरान्मुखाः॥

ब्रह्म-विष्णु-सूर्य-शिवानां पृष्ठभागः यदि नगरस्य सम्मुखो भवति तर्हि पुरनाशो भवेत् ब्रह्म-विष्णु-शिवादीनां स्थापनाविषये पूर्वं कथितं यत् पुरस्य पूर्वदिशि एव एतेषां स्थापनं भवितव्यम्। परञ्च देवतामूर्तिप्रकरणे[15] सर्वासु दिक्षु एतेषां स्थापना शुभा कथिता। अत्र दिशाविदिशासु देवानां मुखस्थापनविचारः सारिण्यां प्रदर्श्यते। यथा[16]-

क्र.	अभिमुखी दिशा/विदिशा	देवाः
1.	पूर्वा	ब्रह्मा, विष्णुः, शिवः, बाणलिङ्गम्, राजलिङ्गम्, मुखलिङ्गम्, सूर्यः, इन्द्रः, कार्तिकेयः, जिनः।
2.	आग्नेयी	दिक्पालाः।
3.	दक्षिणा	नागेशः, क्षेत्रपालः, निर्ऋतिः, भैरवः, अघोरशिवः, जिनः, भृङ्गराजः, कुबेरः, गांधर्वः, ग्रहमातृकागणः, नकुलीशः, नागः, चण्डीशः, हनुमान्, यमः। एतेषां

12. शुभ लग्ने शुभांशे च कर्तुर्न निधनोदयो॥ तत्रैव श्लोक 30-31
13. प्रासादमण्डनम् अ. 08 श्लोक 39
14. प्रासादमण्डनम्, अध्यायः-02, श्लोकः 37
15. उद्धृत प्रासादमण्डनम्, पृ.-56
16. उद्धृत राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, चतुर्थ अध्यायस्य परिचयः, पृ.-47

		स्थापनां विदिशासु अपि कर्तुं शक्यन्ते। बेतालः, पितृगणः, यक्षः, दैत्यः, राक्षसः, भूताः, प्रेताः, अन्य क्षुद्रजातिदेवाः।
4.	नैर्ऋति	निर्ऋतिः, क्षेत्रपालः, भैरवः, हनुमान्।
5.	पश्चिमा	ब्रह्मा-विष्णु-शिव-सूर्य-इन्द्र-स्कन्द-अग्नि-वरुण- द्विजराज-रैवत-जिनानाञ्च।
6.	वायव्यी	वायुदेवदिक्पालाश्च।
7.	उत्तरा	कुबेर-शिवलिङ्ग-ब्रह्मा-जिन-गणेश-विष्णुदशावतारानाञ्च।
8.	ईशानी	ईशदिक्पालश्च।
9.	चतुर्दिक्षु	शिवलिङ्ग-ब्रह्मा-जिन-यज्ञमण्डप-होमशालानाञ्च इति।

तत्र केचन मतानुसारेण गणेशः, भैरवः, चण्डी, नकुलीशः, नवग्रहाः, मातृदेवताः, कुबेरश्च दक्षिणाभिमुखं स्थापनीयाः। वानरेश्वरः हनुमन्मुखं सदैव नैर्ऋत्याभिमुखं भवितव्यम्।[17] तथैव वास्तुराजवल्लभेऽपि[18] कथितमस्ति।

2. पञ्चायतनस्थापनविमर्शः

पञ्चानां देवानां स्थापनं यत्र क्रियते तदेव पञ्चायतनमुच्यते। प्रासादमण्डनानुसारेण प्रप्रथमं सूर्यस्य पञ्चायतनस्य स्थापनस्य विचारः क्रियते। सूर्यपञ्चायतने देवानां मध्ये सूर्यस्य ततोऽपरं प्रदक्षिणक्रमानुसारेण गणपति-विष्णु-चण्डी-महादेवानां स्थापनं करणीयमिति। सूर्यदेवालये नवग्रहाणां द्वादशादित्यगणानाञ्च स्थापनमपि भवितव्यम्। गणेशपञ्चायतने देवानां मध्ये गणपतेः तदनन्तरं प्रदक्षिणक्रमे चण्डी-महादेव-विष्णु-सूर्याणां स्थापनं करणीयम्। गणपत्यायतनेऽपि द्वादशगणानां स्थापनं भवति। विष्णोरायतनस्य मध्ये विष्णोः ततोऽपरं प्रदक्षिणक्रमे गणेश-सूर्य-अम्बिका-शिवानां स्थापना क्रियते। क्रमेऽस्मिन् चण्डेः आयतनस्य मध्ये चण्डेः स्थापनं भवति, तदनन्तरं प्रदक्षिणक्रमेणैव महादेव-गणेश-सूर्य-विष्णोः स्थापनं करणीयम्। शिवायतनस्य मध्यभागे शिवस्य स्थापनं तदनन्तरं प्रदक्षिणक्रमे सूर्य-गणेश- चण्डी-विष्णूनां स्थापनं भवितव्यम्।[19] सूर्यस्य पञ्चायतने नवग्रहाणां स्थापननिर्देशाः लभ्यन्ते।[20] यथा-

आग्नेयां तु कुजः स्थाप्यो गुरुर्याम्ये प्रतिष्ठितः।
नैर्ऋत्ये राहुसंस्थानं पश्चिमे चैव भार्गवः॥

---

17. विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा।
मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणदिङ्मुखाः॥
नैर्ऋत्यदिशिमुखा कार्यो हनुमानवानरेश्वरः॥ प्रासादमण्डनम्, अ.-02, श्लोक-39-40
18. षृ. वामा. देवादिप्रतिष्णीविचार श्लोक 36
19. प्रसादमण्डनम्, अध्यायः-02, श्लोकः-41-45
20. अपराजितपृच्छा, अ, 122, श्लोक-16-17

वायव्ये केतु संस्थानं सौम्यायां बुध एव च।

ईशाने च शनिं दद्यात् प्राच्यां चैव तु चन्द्रमाः॥

वैष्णवायतनक्रमे प्रोक्तं यत् पूर्वदिशि नारायणस्य, याम्ये पुण्डरीकाक्षस्य, पश्चिमे गोविन्दस्य, उत्तरे मधुसूदनस्य, ईशाने विष्णोः, आग्नेये जनार्दनस्य, नैर्ऋत्ये पद्मनाभस्य, वायव्ये माधवस्य मध्ये केशवस्य स्थापनं करणीयम्। वासुदेवसङ्कर्षणादीनां स्थापनक्रमं यथाक्रमेण भवितव्यम्।[20]

विशिष्टतयाऽत्र शिवायतनसन्दर्भे मतद्वयं प्राप्यते। प्रथमं एकद्वारशिवायतन[21] द्वितीयं चतुर्मुख-शिवायतनञ्च।[22] ब्रह्मायतनसन्दर्भे कथितं यद् आयतनेऽस्मिन् आग्नेयकोणे गणपतेः याम्ये मातृणां स्थापनं कर्तव्यम्। नैऋत्यकोणे सहस्राक्षस्य, पश्चिमदिशि जलशायी नारायणस्य, वायव्यकोणे उमाशङ्करयोः तथा च समेषां ग्रहाणां स्थापनं उत्तरदिशि भवितव्यम्। ईशानकोणे श्रीदेव्याः पूर्वदिशि धरणीधरस्य स्थापनं करणीयम्।[23] अग्रे गौर्यारायतनस्य सन्दर्भे प्रोक्तं यत् याम्यदिशि मातृकानां, उत्तरदिशि श्रियः, पश्चिमदिशि सावित्रेः, द्वयोः पृष्ठकर्णयोः भगवतीसरस्वत्योः, ईशानदिशि गणपतेः, आग्नेयदिशि कुमारकार्तिकेयस्य तथा च मध्यमे उमायाः स्थापना करणीया। अनेन प्रकारेण स्वपरम्परामाधृत्य देवस्थापना कार्या।

3. लिङ्गस्थापनम्-

भारतीयसंस्कृतौ आध्यात्मिकज्ञानधारा वैदिककालादेव उत वा सृष्ट्यारम्भतः सततं विद्यमानास्ति। आवैदिककालाद् आध्यात्मिकपरिप्रेक्ष्ये देववन्दनं पूजनं जपार्चनञ्च दृश्यते। विभिन्नसम्प्रदायेषु विभक्तास्ति एषा आध्यात्मिकधारा। तासां मुख्याः शक्तिपूजकाः शाक्ताः, विष्णूपासकाः वैष्णवाः, शिवसाधकाः शैवाश्च इत्युच्यन्ते। विभिन्नसम्प्रदायेषु पूजनार्चनादीनां विविधनियमानां विधीनाञ्च वर्णनं प्रतिपादितमस्ति। एवमेव शैवधर्मे शिवलिङ्गपूजनविषयेऽपि केचन विशिष्टाः नियमाः प्रतिपादिताः। यथोक्तं शिवपुराणे यत्[25]–

प्रथमं च गणाधीशं द्वारपालांस्तथैव च।

दिक्पालांश्च सुसम्पूज्य पश्चात्पीठे प्रकल्पयेत्॥

अथाष्टदलं कृत्वा पूजाद्रव्यसमीपतः।

उपविश्य ततस्तत्र चोपवेश्यं शिवं प्रभुम्॥

---

20. अपराजितपृच्छा, सूत्र 121, श्लो.-11-15
21. अपराजितपृच्छा, सूत्र 121, श्लो.-01-03
22. अपराजितपृच्छा, सूत्र 121, श्लो.-06-08
23. अपराजितपृच्छा, सूत्र 121, श्लो.-09-10
24. अपराजितपृच्छा, सूत्र 121, श्लो.-18-20
25. श्रीशिवमहापुराणम्, व्याख्याकारः - डॉ. ब्रह्मानन्दत्रिपाठी, चौखम्बासुरभारती प्रकाशनम्, 11, श्लोकः 32-34

त्रयमाचमनं कृत्वा प्रक्षाल्य च पुनः करौ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा मध्ये ध्यायेच्च त्र्यम्बकम्॥

शिवस्वरूपविषये वर्णनं चोपलभ्यते यच्छिवः पञ्चमुखदशभुजयुक्तः शुद्धस्फटिक-सदृशकान्तियुक्तः सर्पादिभिरलङ्कृतोऽस्ति। तस्य स्वरूपस्य ध्यानमात्रेण नराणां पापानि विनश्यन्ति। इदं तु प्रतिमानिर्माणाय शिवस्वरूपं वर्तते। परन्तु शिवस्य स्तवनाय तस्यापर-स्वरूपं लिङ्गरूपमस्ति। अग्निपुराणे लिङ्गस्य चलाचलभेदेन मुख्यतया प्रभेदद्वयं दृश्यते। मृण्मयलिङ्गस्य निर्माणं कृत्वा तस्य पूजनादिकं विधाय तस्य जले विसर्जनं क्रियते। इयमेव पार्थिवपूजा। सर्वप्रथमं इयमेव पूजा प्रचलिताऽभवत्। तदा कालान्तरे शिला-काष्ठ-रत्नादिभिः लिङ्गनिर्माणं कृत्वा पूजनस्य पद्धतिः प्रसिद्धा जाता।

शिवस्य साकारनिराकाररूपद्वयेन पूजनं भवति। साकाररूपे शिवमूर्तेः निराकाररूपे च लिङ्गस्य पूजनं भवति। शिवलिङ्गपूजनेन पापादिनिवृत्तिः तु भवत्येव, तेन शिवलोकप्राप्तिरपि भवति। मयमतमिति ग्रन्थे तुच्छलिङ्ग- अधोगत-ऊर्ध्वगत-बालतरुणलिङ्गादीनां वर्णनं प्रतिपादितं वर्तते। तत्र त्रिविधानि लिङ्गानि सन्ति- निष्कलं सकलं मिश्रञ्च। निष्कलं लिङ्गस्वरूपं सकलं मूर्तिरूपं मिश्रम् अर्थात् मुखलिङ्गम्, मुखलिङ्गे सकलनिष्कलयोः मिश्रणं भवति। निष्कलं लिङ्गमात्रस्य तथा च सकलं बेरमात्रस्य साङ्केतिकं वर्तते।[26] तन्त्रसमुच्चयेऽपि निरासाङ्गप्रतिमानां कृते निष्कलं सकलञ्चेति[27] प्रयोगः दरीदृश्यते। सकलनिष्कललिङ्गस्य सन्दर्भेऽस्मिन् भणितमस्ति यत् निष्कलसकलयोः मिश्ररूपं मुखलिङ्गमिति भवति। यस्योच्छ्रायः लिङ्गाकृतेः[1]तुल्यं भवति। बिम्बस्य मूर्तिः शरीराभा सदृशमेव भवति। विश्वमूर्तिसदृशं स्ववैशिष्ट्यमिति प्रतिभाति।[2]

3.1 लिङ्गभेदाः—भारतीयवास्तुशास्त्रे त्रिविधानां प्रासादशैलीनां वर्णनमस्ति-नागरी, द्राविड़ी, वेसरी शैली च। प्रासादशैलीमनुसृत्य नागरा-द्राविड-वेसरलिङ्गानां वर्णनमपि समुपलभ्यते। सम्पूर्णभारतवर्षे मुख्यतः एतासु शैलीषु शिवालयस्य निर्माणं सम्प्रत्यपि दृश्यते। दक्षिणभारते यथा द्राविडशैल्याः बाहुल्यं वर्तते तथैवोत्तरभारतवर्षे नागरशैल्याः बाहुल्यं वर्तते। तासां शैलीनां कृते लिङ्गानां मानं प्रमाणमपि भिन्नमस्ति।

3.1.1 नागरलिङ्गम्—नागरशैलीमनुसृत्य निर्मितशिवालये गर्भगृहस्य विस्तरार्धमानस्य शिवलिङ्गमधमं भवेत्, प्रासादस्य (गर्भगृहस्य) विस्तारमानस्य पञ्चभागान् कृत्वा त्रिभागतुल्यं शिवलिङ्गं श्रेष्ठं भवति। अनयोर्मध्ये अष्टभागं कृत्वा नवविधलिङ्गानि भवन्ति।[28]

3.1.2 द्राविडलिङ्गम्—द्राविडप्रासादस्य गर्भगृहमानं एकविंशति (21) विभागेषु विभक्ते सति दशभागतुल्यं शिवलिङ्गम् अधमं, त्रयोदशभागं तुल्यं लिङ्गं श्रेष्ठं तथा च अधमश्रेष्ठमानयोः मध्ये अष्टभागं कृत्वा शिवलिङ्गस्य नवविधमानानि भवन्ति। एतेषां लिङ्गानां पीनत्वन्तु उच्छ्रायस्य

26. अग्निपुराण अध्याय 33, श्लोक 01
27. उद्धृत तत्रैव पृष्ठ 348
28. मयमतम् अ. 33. श्लोक 39 ½ -422
29. मयमतम् अध्याय 33, श्लोक 42 -44

एकविंशतिभागं कृत्वा षट्, पञ्च, चतुर्वा भागतुल्यं क्रमशः जयदपौष्टिकसार्वकामिकसंज्ञानुसारमेव भवति।[29]

3.1.3 वेसरलिङ्गम्–वेसरप्रासादे गर्भगृहस्य मानस्य पञ्चविंशतिभागस्य त्रयोदशांशतुल्यं लिङ्गं हीनलिङ्गं तथा च षोडशांशतुल्यं श्रेष्ठं लिङ्गं भवति। पूर्वोक्तप्रकारेणात्रापि नवविधलिङ्गानि ज्ञेयानि। तत्र जयदादिभेदानां मानन्तु पञ्चविंशतौ क्रमशः अष्ट, सप्त, षड्मितं ज्ञेयम्।[30]

तत्र द्रव्यभेदवशात् षडविधलिङ्गानां वर्णनमप्युपलभ्यते। तथा च प्रभेदवशात् एतेषां सङ्ख्या चत्वारिंशत् मन्यते। अर्थात् लिङ्गानां द्रव्यभेदवशात् षड्भेदाः (06), चत्वारिंशत् (40) प्रभेदाश्च समुपलभ्यन्ते। प्रथमं लिङ्गं शैलजम् इति नाम्ना ज्ञायते। अस्य चत्वारः (04) उपविभागाः सन्ति। द्वितीयं रत्नजनितलिङ्गं भवति। एतस्य सप्त (07) उपविभागाः भवन्ति। तृतीयं धातुजं लिङ्गमस्ति, यस्य अष्ट (08) उपविभागाः प्राप्यन्ते। चतुर्थ काष्ठनिर्मितं लिङ्गमस्ति तस्य षोडशोपविभागाः (16) कथिताः। पञ्चमं मृण्मयलिङ्गमस्ति अस्य द्वौ (02) उपविभागौ स्तः। षष्ठमं क्षणिकलिङ्गं यस्य सप्तोपविभागाः कथिताः सन्ति। क्रमेऽस्मिन् लिङ्गानां फलमपि प्रतिपादितमस्ति[31]–

लिङ्गस्य प्रकारः	फलम्
1. रत्नलिङ्गम्	भाग्यदायकम्
2. शैलजलिङ्गम्	सिद्धिदायकम्
3. धातुलिङ्गम्	धनदायकम्
4. मृत्तिकालिङ्गम्	सर्वसिद्धिदायकम्
5. काष्ठलिङ्गम्	सांसारिकभोगदायकम्

अनेन प्रकारेण लिङ्गानां लक्षणानि वास्तुशास्त्रे विस्तरेण कथितानि सन्ति। परन्तु एतानि लिङ्गानि यदा पतितानि, स्फुटितानि, वक्राणि, अशुद्धादीनि जातानि तदा एतेषां जीर्णोद्धारः करणीयो भवति। लिङ्गस्य पतिते सति यदि कश्चिदज्ञपुरुषः तल्लिङ्गं पुनः स्थापयति तदा तत्तुच्छं लिङ्गं जानीयात्। यतोहि शास्त्रविधिरहितस्थापनं तुच्छं ज्ञेयम्। तत्र सूर्यकिरणानभिहतं अन्यलिङ्गं स्थापयेत्। एवमेव चाण्डालादिभिः अन्तरिते सति अथवा अपवित्रस्थाने अपवित्रवस्तुभिः साकं स्थितं लिङ्गमपि तुच्छलिङ्गं भवति। तथैव गर्तस्थितं पीठस्य खातस्य निम्नतले वा स्थितं लिङ्गमपि तुच्छलिङ्गं भवति। एवमेव अनभीष्टमार्गास्यमर्थात् यस्य लिङ्गस्य दिशा विहितदिशाविरुद्धाऽस्ति तदापि लिङ्गं तुच्छं ज्ञेयम्। एतादृशानां लिङ्गानामुद्धारः प्राज्ञेन करणीयः। अस्माद्धेतोः शास्त्रविधिपूर्वकं नूतनं लिङ्गं स्थापयेत्। अनभीष्टमार्गतास्यं लिङ्गं प्राज्ञैः समीकुर्यात् अर्थात् विधिपूर्वकं विहितदिशायां तं लिङ्गं स्थापयेत्।[32]

---

30. मयमतम् अध्याय 33 श्लो, 44 -47

31. लिङ्गपुराणम्, अध्यायः 74, श्लोकः 13-18

32. मयमतम्, अध्यायः 35, श्लोकः 19-2014

3.2 शिवलिङ्गस्थापने निर्देशः

तत्र पतितादिलक्षणयुक्तस्य शिवलिङ्गस्य स्थापना करणीया न वा अथवा कथं करणीया? इति विषये मयमते विस्तरेण चर्चा मिलति। तस्यानुसारेण यदि नद्यां लिङ्गं पतितं तर्हि तन्नीत्वा अन्यस्मिन् शतदण्डदूरे दैविकविधिना शुद्धस्थाने तस्य स्थापना करणीया। एवमेव सर्वलक्षणोपेतं निर्दोषलिङ्गं केनचिदज्ञेन मन्त्रक्रियारहितम् अज्ञानतापूर्वकं स्थापितमस्ति, तदा तल्लिङ्गं पुनः विधिपूर्वकं स्थापनीयम्। यदि किञ्चिल्लिङ्गं लक्षणहीनं, दग्धं, जीर्णं, स्फुटितं, भग्नं वा दृश्यते परन्तु तस्य लिङ्गस्य पूजनमर्चनमपि भवति तथापि तत्र तल्लिङ्गं त्यक्त्वा दोषरहितनूतनलिङ्गस्य स्थापना कार्या। कदाचित् लिङ्गस्थापनाकाले दिङ्मूढत्वात् अज्ञानाद्वा शिवलिङ्गस्योर्ध्वभागं अधोमुखं स्थापितं भवति अथवा विरुद्धदिशि तस्य मुखं स्यात्, विपरीतं वा स्थापना भवेत्तदा तल्लिङ्गं परित्यज्य तत्स्थाने नियमपूर्वकं नूतनलिङ्गं स्थापयेत्। एवमेव लिङ्गस्थापने अन्यदोषा अपि भवन्ति। तद् विषये मयमते कथितं यत् सर्वलक्षणोपेतमपि यदि लिङ्गं शून्यतलं अक्षयुतं वा स्यात् (अर्थात् उचिताकृतिहीनं स्यात्) अथवा त्याज्यक्षेत्रे स्थितं स्यात्तदाऽपि तल्लिङ्गं स्थापनयोग्यं न भवति। तस्य लिङ्गस्य च परित्यागः करणीयः। तत्स्थाने नूतनलिङ्गं स्थापयेत्। यदि किमपि लिङ्गं चोरात् चोरितं, तत्तु पञ्चसन्धानान्तर्गतं पतितं तदा यदि लिङ्गं निर्दोषमस्ति तर्हि तत्रैव विधिना स्थाप्यम्। एवमेव चाण्डालशूद्रादिभिः स्पृष्टं लिङ्गं पूजनयोग्यं न भवति। यदि नदीतटे मन्दिररहितं लिङ्गं दृश्यते तदा तस्मात् स्थानात् पूर्वदिशि उत्तरदिशि वा नीत्वा शुभे स्थाने विधिपूर्वकं स्थाप्यम्।[33] अत्र स्थापनसमये ध्यातव्यं यद् यदि किञ्चिल्लिङ्गं द्वादशवर्षाधिकं पूजार्चना-रहितमस्ति तदा निर्दोषे सत्यपि तल्लिङ्गं त्यजेत्। यथा-

द्वादशवर्षादूर्ध्वं शून्यत्वं याति यल्लिङ्गम्।
तत्तन्निर्दोषं यदि नाग्राह्यमिदं वदन्ति केचिज्ज्ञाः।।
शिलामयं तदंसुके निक्षिपेत् त्वरितं बुधः।[34]

अनेन प्रकारेण शिवलिङ्गस्थापना कार्या। अत्र प्रसङ्गवशाद् शिवलिङ्गप्रतिष्ठाकालः विचार्यते। सामान्यदेवप्रतिष्ठामुहूर्त्तमतिरिच्य श्रावणमासेऽपि शिवलिङ्गप्रतिष्ठा शुभा भवति।।[35] अत्र स्पष्टार्थं स्थापनामुहूर्तसारिणीं प्रस्तूयते-

अयनम्	उत्तरायणम्
चान्द्रमासः	पौष-माघ-फाल्गुन-चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठमासाः
पक्षः	शुक्लपक्षः
तिथिः	1, 2, 3, 5, 6, 7, 10, 11, 13 एवं 15 तिथयः

33. तत्रैव श्लो. 23-28
34. तत्रैव 32-324
35. बृहद्वास्तुमाला पृष्ठ-173, श्लोक 09

नक्षत्रम्	रोहिणी-मृगशिरा-आर्द्रा-पुनर्वसु-रेवती-पुष्य-अनुराधा-श्रवण-मूल-स्वाती-अश्विनी-चित्रा-मघा-उत्तरभाद्रपद-उत्तराषाढा-उत्तराफाल्गुनीनक्षत्राणि
वार	सोम-गुरु-शुक्र-बुधवासरा:
लग्नराशि:	वृष-मिथुन-सिंह-कन्या-वृश्चिक-कुम्भ-मीनलग्नानि
उदयास्तविचार:	सोमबुधगुरुशुक्राणाम् उदयकाले
लग्नशुद्धि:	लग्नात् त्रिषडायेषु (3,6.11) सूर्यशनिभौमचन्द्रा: शुभा:, अष्टमस्थानं ग्रहवर्जितं, षट्सप्तदशमस्थानानि (6,7,10) विहाय शुक्र: शुभ:
योगायोग विचार:	–उत्तराषाढानक्षत्रे सोमवासरे शुभम्। –हस्ताश्विनीनक्षत्रे भौमवासरे विवर्जिते –मृगशिरा-त्र्युत्तरा नक्षत्राणि बुधवासरेण सह वर्जनीयानि –श्रवणपुष्यनक्षत्रे शुक्रवासरेण सह विवर्जिते –बुधवासरे द्वितीयातिथि:, गुरुवासरे षष्ठीतिथि:, एकादश्यां चन्द्रवासर: अशुभ: –सप्तम्यां तिथौ रेवतीनक्षत्रं प्रजाहानिं करोति –अन्धसंज्ञकनक्षत्राणि नपुंसकनक्षत्राणि च स्थापनकर्मणि वर्जनीयानि –धूलिवर्षणे, रक्तवर्षणे, मेघगर्जनसमये, उल्कापाते, दिग्दाहे, सूर्यचन्द्रयो: ग्रहणसमये, षडशीतिमुखसङ्क्रान्तिकाले स्थापनकर्म न करणीयमिति।
होराद्रेष्काण-नवांशादि:	शुभग्रहाणां राशि:

3.3 लिङ्गस्थापने द्रव्यादिनिर्देश:

तरुणालयनिर्माणाय पाषाणलोहकाष्ठानां प्रयोग: क्रियते, परञ्च बालस्थापनाय सरल-कालज-चन्दन-सालक-खदिरमारुद-पीपल-तेन्दवादीनां काष्ठानां प्रयोगो भवति।[36] इदमेव द्रव्यं लिङ्गादिनिर्माणेऽपि प्रयोज्यं भवति।

3.4 बालतरुणयो: लिङ्गप्रमाणम्

बाललिङ्गस्योदयमानम् अर्थात् बाललिङ्गस्योच्छ्रिति: तद्गर्भगृहस्योच्छ्रायमानस्यार्ध श्रेष्ठं भवति। गर्भस्योच्छ्रायमानस्य चतुर्थांशमानं यदि बाललिङ्गस्य स्यात्तदा अधममानमस्ति। अनयो: श्रेष्ठहीनयो: मध्ये यदन्तरं तस्मिन् अष्टभिर्भक्ते सति यन्मानं प्राप्यते तत्क्रमेण वारम्वारं अधममाने योजनेन अन्यमानानि प्राप्यन्ते। अनेन प्रकारेण अधममानत: श्रेष्ठमानपर्यन्तं बाललिङ्गस्य नवविधमानानि

---

36. मयमतम् अध्याय 35, श्लोक 57

प्राप्यन्ते। यथा कल्प्यते-

गर्भगृहस्योच्छ्रायमानम् = 32 हस्तमितम्

तदा 32 2 = 16 श्रेष्ठमानम्

एवमेव 32 4 = 8 अधममानम्

ततः श्रेष्ठाधमयोरन्तरम् = 16-8 = 8

अस्य अष्टमांशः यदा क्रियते तदा 8 8 = 1 हस्तमानम्

ततः प्राप्तमानम् अधममाने उत्तरोत्तरं योजनेन-

1.	8	अधममानम्				
2.	8	+	1		=	9
3.	9	+	1		=	10
4.	10	+	1		=	11
5.	11	+	1		=	12
6.	12	+	1		=	13
7.	13	+	1	÷	=	
8	14	+	1		=	15
9.	15	+	1		=	16 श्रेष्ठमानम्

अनेन प्रकारेण अधममानतः श्रेष्ठमानपर्यन्तं बाणलिङ्गस्य नवविधमानानि जातानि। बाललिङ्गस्योच्छ्रायमनुसृत्यैव तत्परिधिः निर्मातव्या। तत्र तरुणलिङ्गस्यापि नवविधमानानि प्राप्यन्ते। पञ्चदशाङ्गुलमितम् अधममानं ततः क्रमशः 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23 अङ्गुलपर्यन्तं नवविधमानानि सन्ति। मानमिदं तरुणलिङ्गस्य भूमेरन्तःस्थे तरुणलिङ्गसमुन्नत्यर्थं वर्तते। तत्र पीठन्तु लिङ्स्योच्छ्रायस्य भागतुल्यं भवति। तरुणलिङ्गस्योच्छ्रायमानं मूलप्रासादस्य मूलतलस्य सममपि भवितुं शक्यते। परञ्च तत्हीनं यदि भवेद् तदा तस्यार्धमानस्य प्रमाणतः हीनं न स्यात्। उक्तद्वयोः मानयोरन्तरं यदि अष्टभिः विभक्तं क्रियते तदा नवविधोदयमानानि प्राप्तानि भवन्ति।[37]

वास्तुशास्त्रोक्तप्रमाणानुसारेण प्रासादादिषु प्रतिमादिस्थापनं करणीयम्। वास्तुग्रन्थेषु निर्दिष्टनिर्माणप्रक्रियायाः चिन्तनं मानवकल्याणाय एव कृतम् अस्मदाचार्यैः। दिग्देशकालामाधारीकृत्यैव ऋषिभिः प्रतिमास्थापनविधिः प्रतिपादितोऽस्ति। अतः तस्यानुसारेणैव प्रतिमास्थापनं नूनमेव स्थापनकर्त्रेः समाजाय च सुखकरं लाभप्रदञ्च भविष्यतीति।

---

37. मयमतम् अध्याय 35, 51-53

वास्तुशास्त्रे प्रतिमालक्षणानि

रितिका अग्रवाल

प्रतिमायाः शाब्दिकोऽर्थोऽस्ति – प्रतिरूपम् अथवा समानाकृतिः । महर्षिपाणिनिना 'इवप्रतिकृतौ'[1] सूत्रेऽस्मिन् समरूपशब्दस्य कृते प्रतिकृति इति शब्दस्य प्रयोगः कृतोऽस्ति। प्रतिमाविज्ञानस्य कृते आंग्लभाषायां Iconography शब्दस्य प्रयोगो भवति। icon शब्दस्य तात्पर्यं देवतायाः ऋषेः वा रूपमस्ति, यत्तु कलायां चित्रितं भवति। ग्रीकभाषायामस्य कृते 'इकन' (eiken) शब्दस्य प्रयोगः जातः। 'अस्य पर्यायास्तु अर्चा', 'विग्रहः' 'तनुः', तथा 'रूपं' शब्दाः। ऋग्वेदे[2] अपि प्रतिमायाः कृते 'अर्चा' शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। प्रतिमाशब्दस्य प्रयोगः वस्तुतः तत्र तासां मूर्तीनां कृते वर्तते, यासां केनापि धर्मेण सम्प्रदायेन वा सम्बन्धो भवति। एताभिः उपासकः स्वभक्तिपूर्णोपासनां स्वस्याराध्यदेवं समर्पयति।

विदितमस्ति यत् देवप्रतिष्ठापूजनं सनातनधर्मस्य मुख्यः आधारो वर्तते । आवैदिककालादेव भक्तिभावनायाः विकासः मानवसभ्यतायां दरीदृश्यते। वैदिककालादेव देववन्दनस्यावधारणा दरीदृश्यते। कालान्तरेण देवानां पूजनं वृक्ष-औषधि-जलाशयादिषु अभवत्। शनैः शनैः प्रतिमालिङ्गानामवधारणा जाता। देवपूजनस्यावधारणा साकारनिराकारयोः रूपयोः प्राप्यते। निराकाररूपे ब्रह्मप्राप्तिविषये उपनिषत्प्रमाणमेव मन्यते। ध्यानावस्थया ब्रह्मणः निराकाररूपस्य प्राप्तिविषये अद्वैतसिद्धान्तो मुख्यस्त्रोतः वर्तते। ब्रह्मणः देवस्य वा साकाररूपे अभिकल्पना भारतीयपरम्परायां मूर्तिपूजनरूपे आरम्भो जातः। वैदिकपौराणिकसाहित्ये परिकल्पितदेवानां स्वरूपमाधारीकृत्य देवप्रतिमादीनां मानप्रमाणयुक्ताङ्गादिनिर्माणं एतेषां स्वरूपस्यालङ्करणं च दृश्यते मन्दिरेषु। ततः प्रतिमार्थमुपयुक्तशिलाचयनं, प्रतिमालक्षणं, मूर्तीनां जीर्णोद्धारविधिः, एतेषां प्रतिमानां मानादिप्रमाणञ्चेति विषयमधिकृत्य विविधवास्तुशास्त्रीयमानकग्रन्थेषु वर्णनं समुपलभ्यते । तत्र शास्त्रेषु प्रतिमानिर्माणे प्रायः दोषरहितपाषाणस्य प्रयोगस्य मतमस्ति।

प्रतिमार्थमुपयुक्तशिलाचयनम् –

प्रतिमानिर्माणे शिलाचयनं शीर्षस्थानं धारयति। देवानुसारेण, वर्ण-धर्मानुसारेण शिलाचयनं करणीयम्। शिलाः त्रिविधाः भवन्ति-पुरुष-जातिकाः, स्त्री-जातिकाः तथा नपुंसक-जातिकाः शिलाः।

शिलाभेदानुसारं तस्योपयोगस्य प्रसङ्गे मण्डनः मयादिपुरातनाचार्याणा[3] समर्थनं करोति। यथा–

---

1. पाणिनि अष्टाध्यायी, 5/3/96,
2. ऋग्वेदः , 7/9/19
3. मयमतं 33, 1-3, 10, 33, 11-12 । काश्यपशिल्प 49, 59-60,80,13 । अग्निपुराण 52,14 । मत्स्यपुराण 266, 5 । समराङ्गणसूत्रधार 70, 140 । शिल्परत्न 14, 16-17 उद्धृत दे. मू. प्र. भूमिका पृ. 22

पुरुषशिला	–	शिवलिङ्गः तथा देवप्रतिमाः ।
स्त्रीशिला	–	पीठिका अथवा जलहरी ।
नपुंसकशिला	–	ब्रह्म-कूर्मशिला, प्रासादतलकुंडादयः ।

भूमिगतशिलास्वरूपस्यानुसारं प्रतिमायाः अंग-निर्माणाकृतिविषये, ग्राह्याग्राह्यशिलालक्षणविषये च अस्माभिराचार्यैः सूक्ष्मतया विचारं कृतमस्ति। काश्यपादिभिः शिलाचयनविषये कथितमस्ति यत् प्रतिमापीठिकायाः शिवलिङ्गस्य च निर्माणाय सैव शिला उपयुक्तास्ति या सघनैकसारा छिद्ररहिता, सुगंधा, मधुरकान्तियुक्ता अथवा प्रभविष्णुयुक्ता भवति। तत्र कपोतसदृशवर्णा, कुमुदपुष्पनिभा, भ्रमरकान्तियुक्ता माषनिभा कृष्णवर्णा शिला, घृतोपमा पीता शिला, श्वेतकमलदृशा शिला च प्रतिमार्थं समुपयुक्ता स्यात्।[4]

प्रतिमालक्षणविचारः –

प्रतिमालक्षणस्य विचारः प्रतिमानां प्रमाणस्य, तालवर्णयोः, आसनस्य , वाहनादेः अनुरूपं करणीयम्। प्रतिमानिर्माणे प्रायः दोषादिरहितानां पाषाणानां प्रयोगः करणीयः। भागवत्महापुराणे अष्टविधानां प्रतिमानामुल्लेखो वर्तते।[5] यथा–

शैलीदारूमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता।।

शास्त्रेषु प्रतिमानामाकारविषये अपि वर्णनं मिलति । यथा – समङ्गुलप्रतिमायाः स्थापना न कर्त्तव्या । विषमाङ्गुलप्रतिमायाः स्थापना शुभा भवति।

वेदेषु तिसृणां प्रतिमानां निर्देशः प्राप्यते, यथा– सात्विकी, राजसी तथा तामसी प्रतिमाः।[6]

सात्विकीप्रतिमालक्षणम् –

या प्रतिमा स्वाभाविकप्रसन्न– योगमुद्रा – वरदान– अभयदानमुद्राभिः युक्ता भवेद्, देवादिभिश्च यस्याः स्तुतिर्भवति, सा सात्विकी प्रतिमा।[7]

राजसिकी प्रतिमालक्षणम् –

या प्रतिमा वाहनोपरि विराजमाना, नानाविधाभूषणैः सुसज्जिता, अस्त्र–शस्त्रयुता अभयदान–मुद्रायामवस्थिता स्यात् सा राजसिकी प्रतिमा कथ्यते।[8]

4. काश्यपशिल्प 49, 44–47 । मयमतं 3, 43, 14–15 । उद्धृत मू. प्र. भूमिका पृ. 22,
5. भागवतमहापुराण 11/27/12 उद्धृत आचारदिनकर, वास्तुसर्वस्व पृ 229
6. सात्विकी राजसी देव प्रतिमा तामसी त्रिधा ।
   विष्ण्वादीनां च या यत्र पूज्या तु तत्रतादृशी।। शुक्रनीतिः अ. 4, श्लोक 80
7. योग मुद्रान्विता स्वस्था वराभयकरान्विता ।
   देवेन्द्रादितनुता मूतिः सात्विक सात्विकी सा प्रकीर्तिता ।। तत्रैव श्लोक – 81
8. तिष्ठति वाहनोपरिस्तथा वा नानाभरणभूषिता ।
   या शस्त्रास्त्राभयवरकरा या राजसी स्मृता ।। शुक्रनीतिः अ. 4, श्लोक 82

तामसीप्रतिमालक्षणम् -

एतादृशा प्रतिमा शस्त्रास्त्रादिभिः युता, शत्रुवधकारिणी दैत्यहन्त्री उग्रस्वरूपयुता सदैवयुद्धाभिलाषिणी च दृश्यते।[9]

शिलाभेदाः -

प्रतिमा-पीठिकादीनां कृते सा शिला उपयोगिनी समुचिता च भवति, या सघना निविड़ा कठोरा, सुगन्धयुक्ता मधुरा कान्तियुक्ता, कोमला छिद्ररहिता स्यात् एतादृशायाः शिलाया उपरि मूर्तिनिर्माणलिङ्गस्य निर्माणं वा कारयेत्।[10]

एवमेव शुक्रनीतिग्रन्थेऽपि कथितमस्ति यच्छुभलक्षणैः युक्ता शिला या कपोतवर्णा कुमुदवर्णयुक्ता, माष-मुद्ग-घृतं-कृष्णवर्णा पीतवर्णा तथा श्वेतकमलदृशा शिला सा सर्वसुखप्रदायिका अस्ति।[11]

अन्येषु ग्रन्थेषु त्रिविधानां शिलानां वर्णनं मिलति - पुरुष शिला, स्त्री शिला, नपुंसक शिला। मयानुसारं काश्यपानुसारं च श्वेता, रक्ता, पीता श्यामवर्णशिला क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां कृते उपयोगी अस्ति।[12] सितवर्णा शिला विशेषरूपेण सर्वेषां प्रशस्ताऽस्ति।[13]

प्रशस्तशिलाः -

एकवर्णा शिला, सुदृढा अथवा यौवना, मनोरमा, स्निग्धा भवति। या शिला भूमेरधःस्था, एकवर्णा, सघना, समुचिता व्यासदैर्घ्ययुता, मनोरमा च स्यात् सा शिवलिङ्गादेः निर्माणाय उपयोगिनी भवति ।[14] 'मानसार' ग्रन्थानुसारेण - यस्याः शिलायाः मूलभागः, अग्रभागः तथा मध्यभागः समानो

---

9. शस्त्रास्त्रैर्दैत्यहन्त्री या ह्युग्ररूपधरा सदा ।
युद्धाभिनन्दिनी सा तु तामसी प्रतिमोच्यते ।। तत्रैव श्लोक 83
10. निविडा निर्व्रणाऽमृद्वी सुगन्धा मधुरा शिला ।
सर्वार्चालिङ्गपीठेषु श्रेष्ठा कान्तियुता च या ।। रूपमण्डन , अ. 1, श्लोक 3
11. कपोतभृङ्गकुमुदमाषमुद्गासितोपमा ।
पाण्डुरा घृतपद्माभा सर्वार्चासु शुभा शिला ।। रूपमण्डन अ. 1, श्लोक 5
12. श्वेत रक्ता च पीता च विप्रादीनां सितासिता । मयमतं 33, 4
13. श्वेता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव चतुर्विधा ।
हरिता कृष्णा शिला ग्राह्या सितवर्णा विशेषतः ।। काश्यपशिल्पं 49 - 50
14. एकावर्णा घना स्निग्धा शिला भूमि निमग्नका ।
व्यासायामवती ग्राह्या यौवनातिमनोरमा।।
वातातयानलालीढा मृद्वी क्षाराम्बुसंश्रिता।। मयमतं 33, 4-5
15. मूलमग्रं च मध्यं च समाकारं तु पुंशिला ।
स्थूलमूलं कृशाग्रं स्यात् स्त्रीशिला तु प्रकाशिता ।
स्थूलाग्रं च कृशं मध्ये स्थूलं नपुंसकं शिला ।अग्निपु.43,14- 15

भवेत् सा पुरुषशिला। मूले स्थूला तथा अग्रभागे कृशा निर्बला वा शिला स्त्रीसंज्ञकशिला तथा च - मूले स्थूला , अग्रे कृशा तथा मध्यभागे स्थूला नपुंसकशिला भवति।[15]

अग्निपुराणानुसारेण - यदि कस्याश्चित् शिलायाः कांस्यनिर्मितघण्टा इव ध्वनिः जायते तथा छेदने स्फुर्लिङ्गाः समुत्पद्यन्ते सा पुल्लिङ्गशिला भवति। उपर्युक्तं चिह्नं यस्यां शिलायां न्यूनं तर्हि सा स्त्रीसंज्ञिका भवति। यस्यां पुल्लिङ्ग-स्त्रीसंज्ञिका उभयोः लक्षणं न प्राप्यते तर्हि नपुंसकसंज्ञकशिला ज्ञायते।[16]

प्रतिमाद्युपयोगिनीशिला -

शिवलिङ्ग-राम-कृष्ण-गणेश-ब्रह्मादिदेवानाप्रतिमानिर्माणं पुरुषजातिशिलया भवेत्। पिण्डिकायाः देवीनां च प्रतिमानिर्माणं स्त्रीजातिशिलया स्यात् तथा देवालय-भवन-कुण्ड-वाप्यादीनां निर्माणे विशेषरूपेण भित्तितलभागे नपुंसकशिलानामुपयोगः कर्त्तव्यः।[17]

गृहदेवालयेषु प्रतिमाप्रमाणम् -

एकाङ्गुलप्रमाणतः द्वादशाङ्गुलपर्यन्तप्रमाणयुता प्रतिमा गृहे पूजनयोग्या भवति। प्रयत्नेन देवानां प्रतिमा प्रमाणयुक्ता भवेत्। प्रमाणहीनप्रतिमासु सदैव पिशाचदैत्यदानवादयः निवसन्ति।[18] सर्वलक्षणयुता देवप्रतिमा एव स्थापनयोग्या भवति। श्रेष्ठा प्रतिमा सदैव प्रशंसनीया भवति अपि च आयु - यश - धन-धान्यकर्त्री भवति। मतान्तरेण एकस्यांगुलस्य प्रतिमा श्रेष्ठा, अङ्गुलद्वयस्य प्रतिमा धनस्य नाशकर्त्री त्र्यङ्गुलस्य प्रतिमा सिद्धिदात्री, चतुरंगुलस्य पीडादात्री, पञ्चाङ्गुलस्य वृद्धिकर्त्री, षडाङ्गुलस्य उद्वेगकर्त्री, सप्ताङ्गुलस्य गौरववृद्धिकर्त्री, अष्टाङ्गुलस्य हानिदा नवाङ्गुलस्य पुत्रवृद्धिदा, दशाङ्गुलस्य धननाशदा, एकादशाङ्गुलस्य च प्रतिमा सर्वकार्यसिद्धिदायिनी भवति।[19]

प्रतिमानिर्माणे द्रव्यादिचयनम् -

प्रतिमा अष्टलौहमयी, शैलोत्पन्ना पाषाण-रत्नादिभिर्निर्मिता श्रेष्ठवृक्षाणां काष्ठेन रचिता

---

16. कांस्यघण्टानिनादा स्यात्पुल्लिङ्गा विस्फुर्लिङ्गका ।
तन्मन्दलक्षणा स्त्री स्याद्रूपाभावान्नपुंसका ।। देवतामूर्तिप्रकरणम् 1, 5-6

17. वास्तु एवं शिलाचयन , अ. - 1, पृ. सं. 13

18. आरभ्येकाङ्गुलादूर्ध्व पर्यन्तं द्वादशाङ्गुला ।
गृहेषु प्रतिमा पूज्या नाधिका शस्यते ततः ।। रूपमण्डन , अ. 1, श्लोक - 7

19. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि गृहबिम्बस्य लक्षणम् ।
एकांगुले भवेच्छ्रेष्ठं द्वयंगुलं धननाशनम् ।।
त्र्यंगुले जायते सिद्धिः पीडा स्याच्चतुरंगुले ।
पंचांगुले तु वृद्धिः स्यात् उद्वेगस्तु षडंगुले ।
एकादशागुलं बिम्बं सर्वकामार्थसाधनम् ।
एतत्प्रमाणमाख्यात मत उर्ध्व न कारयेत् ।। वास्तुसर्वस्व, अ.47,पृ.229

प्रवालादिभिः निर्मिता च शुभा कथ्यते ।[20]

प्रतिमानिर्माणे प्रायशः दोषरहितपाषाणानां प्रयोगः करणीयः। भागवते त्वष्टविधानां प्रतिमानामुल्लेखः प्राप्यते। पाषाणमयी, काष्ठमयी, लौहमयी, लेपेन निर्मिता, लेखन्या उल्लिखिता, सिकतादिभिर्निर्मिता, मनोमयी मणिना च निर्मिता।[21]

स्वर्ण–रजत–ताम्रादिधातुभिः विनिर्मिताः प्रतिमाः श्रेष्ठाः भवन्ति। कांस्य–सीस–बङ्गमयीप्रतिमां कथमपि न स्थापयेत्। मिश्रधातुषु पित्तलस्य च प्रतिमास्थापने न कोऽपि दोषः ।[22]

मूर्तीनां जीर्णोद्धारविधिः –

यदा काऽपि प्रतिमा शतवर्षाधिका पुरातनी स्यात् सा, खण्डिता स्फुटिता वापि भवेत्, शास्त्रानुसारं यदि सिद्धासीत् सा तदा मूर्तिः पूजनयोग्या भवति, दोषदा न भवति। परन्तु शतवर्षाल्पा प्रतिमा खण्डिता अथवा विस्फुटिता भवेत् तर्हि तु सा प्रतिमा दुःखप्रदा भवति ।[23]

यदि प्रतिमा धातु–रत्न–भित्तिचित्रादिभिः निर्मिता स्यात्, यदि सा मूर्तिः विकृता अथवा विखण्डिता जायते तदा सा संस्कारयोग्या भवति। काष्ठपाषाणनिर्मिता प्रतिमा यदि खण्डिता स्फुटिता वा भवेत् तदा सा संस्कारयोग्या न भवति।[24]

प्रतिमायाः निर्माणं पूर्वमानानुसारं पूर्वद्रव्यनुरूपं च करणीयम्। तद्द्रव्यं पूर्वमानस्य द्रव्यात् न्यूनमधिकं वा न भवितव्यम्। मतान्तरेण द्रव्यप्रयोगे वृद्धिः एव शुभा। शतवर्षाधिका प्राचीनप्रतिमा यदि खण्डिता तदापि पूजनयोग्या भवति। तां न त्यजेत्।[25]

या प्रतिमा महात्मादिभिः श्रेष्ठजनैः स्थापिता सा प्रतिमा विखण्डिताऽपि पूज्या भवति। प्रतिमया सह वाहन–वेष–भूषादयः यदि खण्डिता तदापि पूजनीया। या प्रतिमा महात्माभिः स्थापिता न

---

20. अष्टलौहमयीमूर्तिः शैलरत्नमयी शुभा ।
श्रेष्ठवृक्षमयी वाऽपि प्रवालादिमयी शुभा ।। रूपमण्डन, अ.1, श्लोक 10

21. भागवतम् 11/27/12

22. स्वर्णरूप्यताम्रमयं वाच्यं धातुमयं परम् ।
कास्यसीसबङ्गमयं कदाचिन्नैव कारयेत् ।
तत्र धातुमये रीतिमयमाद्रियते क्वचित् ।
निषिद्धो मिश्रधातुः स्याद् रीतिः कैश्चिच्च गृह्यते ।। वास्तुसर्वस्व पृ. 229 – 230

23. अतीतब्दः ताब्दः शता मूर्तिः पूज्या स्यात्तु महत्तमैः ।
खण्डिता स्फुटिताऽप्यर्च्या अन्यथा दुःखदायिका ।। दे.मू.प्र. अ.1श्लो 27,रूपमण्डन श्लोक 11,पृ. 112

24. धातुरत्नविलेपोत्था व्यङ्गाः संस्कारयोग्यकाः ।
काष्ठपाषाणजा भग्नाः संस्कारार्हा न देवताः ।। रूपमण्डन श्लोक 12, पृ. 112

25. पूर्वमाना कृता तिद्रव्यैस्तुल्यं द्रव्याधिकं हि वा ।
शुभं हीनाधिकं [illegible] श्लोक 194 – वास्तुमञ्जरी, पृ. 291

जाता तस्याः पूजनं मृत्युदायकं भवति।[26]

शुभप्रतिमा-

यस्याः प्रतिमायाः सन्धि-अस्थि-शिरादयः दृश्यन्ते सा प्रतिमा सर्वदा सुखं प्रददाति।[27] यदि प्रतिमा शास्त्रोक्तनियमानुसारमङ्गैः परिपूर्णा तदा पुण्यदात्री तथा मनोहरा भवति। यद्यन्यथा रीत्या निर्मितास्यात्, तर्हि तु आयुर्धनादीनां नाशकर्त्री दुःखदायिनी च भवेत्।[28] देव-प्रतिमा शुभा स्वर्गप्रदा च भवति तथा मनुष्य-प्रतिमा अशुभ स्वर्गदा न भवति। देवी-देवानां स्वरूपं सर्वदा सुन्दरं तथा मनोहरं च भवेत्। देवानां दीप्तिः (आभाकान्तिः वा) सिंहसदृशा, छविः वृषनिभा, कान्तिः नागदृशा तथा शोभा च हंसस्य गतिरिव स्यात्। शुभ-लक्षणैः रहितानां देवी-देवानां प्रतिमा धन-धान्यविनाशदा भवति।[30]

दुष्टाः प्रतिमाः -कस्यचिद् देवस्य प्रतिमा न तु हीनाङ्गा, नाधिकाङ्गयुता भवेत्। यदि इत्थमाभासो जायते यद् देवप्रतिमा नृत्यति, रोदति, हसति अथवा नेत्रमुद्घाटयति नेत्रमेलनं वा करोति तदा तु महाभयं भवति।[31] शङ्कुनोपहता प्रतिमार्चा प्रधानपुरुषं नायकं कुलं वंशं च घातयति, श्वभ्रोपहता प्रतिमा रोगान् दोषान् नश्यति ।[32]

एवमेव हीनाङ्गा, वीभत्समुखा, कृशकाया, दुर्बलहस्तपादयुता तथा कृशकटियुता प्रतिमा दर्शकानां कृते हानिप्रदा भवति।[33] तत्र विशेषफलम् -

अधिकाङ्गप्रतिमा	- शिल्पकारस्य कृते नाशप्रदा
दुर्बला	- धन-नाशिका
दुर्बलोदरा	- दुर्भिक्षकारिणी
निर्मांसा	- धननाशिनी

---

26. महत्तमैस्तापितार्चं व्यङ्गितानपि न सं? त्यजेत् ।
व्यङ्गैर्वाहनभूषाश्रोपा सकेर ? परामृवी ।। 195 ।। वास्तुमंजरी पृ. 291
27. गूढसन्ध्यस्थिधमनी सर्वदा सौख्यवर्धिनी । शुक्रनीति अ- 4, पृ. 256
28. यथोक्तावयवैः पूर्णा पुण्यदा सुमनोहरा ।
अन्यथाऽऽयुर्धनहरा नित्यं दुःखविवर्द्धिनी ।। शुक्रनीति अ- 4, श्लोक 76
29. धर्मो. पु. में चित्रकला पृ. 69 प्रतिमालक्षण
30. तदेव लक्षणोपेतं धनधान्यविनाशनम् ।
देवा नरेन्द्राः कर्त्तव्याः शोभावन्तः सदैव तु ।।
मृगेन्द्रवृषनागानां हंसानां गतिभिः समाः ।। वि. धर्मो. पु. में चित्रकला पृ. 70 प्रतिमालक्षण श्लोक 26
31. नाधिकाङ्गा न हीनाङ्गाः कर्त्तव्या देवताः क्वचित् । रूपमण्डन श्लोक 14,16 अ. 1, मत्स्य. पु. 258/15
32. शङ्कूपहता प्रतिमा प्रधानपुरुषं कुलं च घातयति ।
श्वभ्रोपहता रोगानुपद्रवांश्च क्षयं कुरुते ।।6।। बृ. संहिता , श्लोक 6, अ. 60
33. दे. मू. प्र. भूमिका पृ. - 27

वक्रनासिका	- दारुण-दुःखदायिनी
न्यूनाङ्गा	- भयदायिनी
संकुचिताङ्गा	- शोकप्रदा, ऐश्वर्यविनाशिका
हीनमुखा तथा दुर्बलहस्तपादयुता	- दुःखदायिनी
हीनाङ्गा तथा जङ्घाहीना	- भ्रमोन्माददात्री
शुष्कमुखा तथा कटिहीना	- नृपविनाशिका
पाणिपादविहीना	- महामारीकर्त्री
जङ्घाजानुविहीना	- शत्रुकल्याणकारिणी
वक्षहीना	- पुत्रमित्रविनाशिका

यदि काऽपि प्रतिमा कीलेन उपहता अथवा पीड़िता जाता, तर्हि तु सा प्रधानपुरुषेण सह तस्य कुलस्य नाशकर्त्री भवति। यदि प्रतिमा गर्तेन युक्ता तदा तु सा रोगं उपद्रवं मृत्युं च ददाति।

तालानुसारेण मूर्तीनामङ्गविधानम् -

एकताले कीर्तिमुखस्य, द्विताले पक्षिणः, त्रिताले हस्तिनः, चतुश्ताले किन्नरहययोः पञ्चताले च वामनादिदेवानां तथा वृषस्य प्रतिमानिर्माणं कुर्यात् ।[34] शूकर-वामन-गणेशानां प्रतिमायाः मानं षट्तालमितमस्ति तथा वृष-शूकर-मनुष्य प्रतिमां सप्ततालस्यापि भवेत्[35] पार्वतीदेव्याः अष्टताले तथा अन्येषां सर्वेषां देवानां प्रतिमा नवताले कुर्यात्। दशताले राम- बलि-रुद्र-जिनदेवानां प्रतिमा निर्मापयेत् ।[36] स्कन्द-हनुमान-भूत-चण्डिकादीनां एकादशताले, द्वादशताले वेतालस्य तथा त्रयोदशताले राक्षसप्रतिमायाः निर्माणं भवेत्।[37] दैत्यस्य प्रतिमा चतुर्दशताले, भृगोः पञ्चदशताले तथा क्रूरदेवानां प्रतिमा षोडशताले कुर्यात्। एतस्यादुच्चप्रतिमायाः निर्माणं न कारयेत्।[38] वराहमिहिरः, शुक्राचार्यः, विष्णुधर्मोत्तरकारश्चापि तालानुसारमेव प्रतिमानिर्माणस्य निर्देशनं कुर्वन्ति। सूत्रधारमण्डनः द्वादशाङ्गुलानामेकं तालं स्वीकृत्य तालानुसारेण देव-प्रतिमानिर्माणस्य उल्लेखं कृतवान्।[39]

---

34. रूपमण्डन अ. 1 , श्लोक 19 .
35. तत्रैव श्लोक 20
36. वही तत्रैव श्लोक 21
37. तत्रैव श्लोक 22
38. तत्रैव श्लोक 23
39. रूपमण्डन भूमिका पृ. 22

सारल्येन परिज्ञानार्थं निम्नतालिका द्रष्टव्यम् -

तालानि	प्रतिमा
एकतालम्	कीर्तिमुखः (वक्रग्रासः जलचरः) (1)
द्विताले	पक्षिणः (2)
त्रितालानि	कुञ्जरः (गजराजः) (3)
चत्वारि तालानि	किन्नरः, अश्वः (4)
पञ्चतालानि	सुरः, शूकरः, वामनः, जिनदेवः, ब्रह्मा, महादेवः, नद्यः (5)
षड्तालानि	गणेशः (गणनायकः) वृषभः (6)
सप्ततालानि	मानवः (7)
अष्टतालानि	पार्वती,वृषः,मातृदेवी, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी,सावित्री
नवतालानि	सर्वे देवाः, ब्रह्मा-विष्णु-महेशाः (9)
दशतालानि	रामः, रुद्रः, बलिः, जिनः, (10)
एकादशतालानि	सूर्यः, सिद्धाः स्कन्दः, हनुमानः, चण्डिका, कार्तिकेयः, भूतादयः
द्वादशतालानि	वेतालः, आदिदेवः
त्रयोदशतालानि	राक्षसः, पिशाचादयः (मुकुटरहिताः)
चतुर्दशतालानि	दैत्यः (मुकुटयुक्तः)
पञ्चदशतालानि	भृगुः (भयंकरो देवः)
षोडशतालानि	क्रूराः देवाः

शुक्रनीतौ नवताले देवानां प्रतिमा तथा च प्रतिमानां अङ्ग-विभाजनं कथितमेवास्ति।[40]

---

40. शुक्रनीति अ. 4, श्लोक 93-97

गृहस्य मुख्यद्वारम्

अश्वनी कुमार

वैदिकवाङ्मये वास्तुशब्दस्य सामान्यार्थः गृहं भवनं वा भवति। प्राचीनभारतीयवाङ्मये **'वास्तु' 'शाला'** इत्यादिनी नामानि दृश्यन्ते। वस्तुतः वास्तुशब्दस्य व्युत्पतिः 'वस्' धातौ 'वसेस्तूणन्' (1-78) अनेन सूत्रेण 'तुण्' प्रत्यये सति सिध्यति। ऋग्वेदे एकस्मिन् मन्त्रे वास्तुदेवतां 'वास्तोष्पतिं' प्रार्थयन् प्रोक्तं हे वास्तोष्पते! त्वम् अस्मान् अभि जानीहि। अनारोग्यम् अस्मद् गृहे वितरतु। यद् धनं वयं याच्यामहे तद् अस्मभ्यं ददातु। द्विपदे चतुष्पदे च कल्याणकारी भव । यथा-

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे[1]॥

ऋग्वेदातिरिक्तं यजुर्वेदादिष्वपि एतादृशाः उल्लेखाः प्राप्यन्ते यैः स्थापत्यस्य विविधाङ्गानां विषये ज्ञायते। ऋगथर्वणयोः भवनविन्यासकलायाः यत् स्वरूपं परम्परा च सा अद्यापि मूलरूपेण प्रचलितास्ति।

वैदिकभवनानां त्रीणि मुख्याङ्गान्यासन्। प्रथमं गृहद्वारं यस्मिन् सम्मुखाङ्गणमप्यासीत्। द्वितीयम् उपवेशनगृहं यस्यान्तर्गतं सभा, आस्थानं मण्डपं चाप्यासन्। अत्रैव आगन्तुकानां स्वागतं भवति स्म। तृतीयं पत्नीसदनम् आसीत्। यस्यापरनाम अन्तः पुरं भवति स्म[2]।

ग्रामशब्दः ऋग्वेदे बहुस्थलेषु दृश्यते। ग्रामशब्दः वर्तमाने Village इत्यर्थे दृश्यते। केचन वैदिकग्रामाः परस्परं निकटाः आसन्[3]। हैवेलमहोदयस्य मतानुसारेण एते ग्रामाः मुख्यतः आयताकारा आसन्। तान् परितः एकम्-एकं द्वारं भवति स्म[4]। पर्सीब्राउनमहोदयस्यानुसारं वैदिकग्रामान् परितः काष्ठवेष्टनानि (बाड़) भवन्ति स्म। परवर्तिकाले जैन-बौद्धस्तूपं परितोप्येतादृशानि काष्ठवेष्टनानि निर्मितानि। तद्बहिः तोरणद्वाराणि निर्मीयन्ते स्म।

ऋग्वेदे निवासस्थानस्य कृते तस्य विविधोपांगानां च कृते प्रायः त्रिंशत् शब्दाः प्रयुक्ताः दृश्यन्ते। 'छरदी' इति शब्दस्य प्रयोगः विविधस्थानेषु प्राप्यते। यस्य तात्पर्य सम्भवतः भवनस्य छदिः

---

1. ऋग्वेद संहिता 7/54/1
2. तरापद भट्टाचार्य, ए स्टडी ऑन वास्तु विद्या, पृ0 13
3. शतपथ ब्रह्मण 13/02/04/02
4. हैवेल, दि हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया पृ0 23/24

इत्यनेन आसीत्। 'दूरोण' तथा 'दुर्यस' शब्दाभ्यां ज्ञायते यद् वैदिकगृहे द्वाराणि आसन्। केषुचित् स्थलेषु गृहाणां कृते 'पृथु', 'साम्राप्य', 'मोही', 'बृहत', 'ऊरू', 'दीर्घ', 'गभीर' इत्यादिविशेषणानां प्रयोगः प्राप्यते। अनेन दीर्घाकारगृहाणां प्रचलनम् अनुमीयते। वरुणस्य गृहम् अत्यन्तविस्तृतं सहस्रद्वारयुक्तं च कथितं वर्तते[5]।

वस्तुतः नृपाणां श्रेष्ठजनानां चावासादर्शरूपे देवानां भवनानि चिरकालादेव सन्ति। देवेषु वरुणस्य भवनस्योल्लेख ऋग्वेदे तदा विद्यते यदा ऋषिः वसिष्ठः द्युलोके स्थितासन् वैदिकदेवानां नृपवरुणस्य सदने प्रविष्टः। तदा भवनं दृष्ट्वा तेनोक्तम्। यत् –

बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः।
सहस्रद्वारं जगमा गृहन्ते[6]॥

अर्थात् हे वरुण! तव गृहम् अत्यन्तं विस्तृतं यस्मिन् सहस्रद्वाराणि सन्ति। ऋषिणा वसिष्ठेनवरुणस्य स्तुतौ भणित[7] यद् वरुणस्य भवनमिदं स्वर्णनिर्मितं विस्तृतं चाकर्षकमस्ति। भवनमिदं सुदृढ़ं वर्तते पुनश्च सहस्रस्तम्भाः सहस्रद्वाराणि च भवने सन्ति। भवनमिदं जलमध्यस्थितो वर्तते अतः भवनं परितः कृत्रिमजलाशयो निर्मितो वर्तते। अस्येव प्रकारस्य राजभवनं मित्रसंज्ञकदेवस्यापि वर्तते यं 'सदस्युत्तमे' उक्त्वा सर्वोत्तमम् उत्कृष्टं च कथितं वर्तते। तत्रापि सहस्रस्तम्भाः सहस्रद्वाराणि च सन्ति। अतः अत्यन्तं मनोरमम् अस्ति[8]।

निवासयोग्यस्थानस्य उत्तमप्रकारेण परीक्षणं कृत्वा भूमौ दिक्साधनाय समतलभूमौ वृत्तं कार्यम्। तन्मध्ये द्वादशाङ्गुलशङ्कुं स्थापयेत्। ततः दिक्साधनविधिद्वारा दिग्ज्ञानं कुर्यात्। पुनश्च कर्त्तुः नामानुसारं क्षेत्रफलं स्वीकृत्य पूर्वादिचतुर्षु दिक्षु क्रमशः अष्टौ-अष्टौ द्वारभागाः ज्ञेयाः। तत्र शुभपदानुसारेण द्वारस्थानं निर्दिशेत्।

गृहस्य प्रवेशद्वारं दक्षिणपक्षे एव शुभं भवति। तत्र पूर्वदिक्स्थितयोः जयन्तेन्द्रयोः पदयोः द्वारं सर्वेषु गृहेषूत्तमं मन्यते। दक्षिणदिशि द्वाराय बृहत्क्षतपदं पश्चिमदिशि पुष्पदन्तवरुणयोः पदे प्रशंसिते उत्तरदिशि द्वारार्थं भल्लाटसौम्ययोः पदौ शुभदायकौ भवतः।

गृहस्य द्वारवेधः-

तत्र गृहसम्मुखे नैकविधवस्तूनि द्वारवेधं जनयन्ति। वीथी मार्गो वा गृहाभिमुखं स्यात्तदा कुलक्षयं करोति। एवमेव वृक्षेण वेधे सति द्वेषाधिक्यं भवति। पङ्कद्वारा वेधे सति शोक उत्पद्यते। कूपद्वारा वेधे रोगो भवति। जलप्रवाहद्वारा वेधे सति व्यथा जायते। कीलेन सूचिकया वा द्वारवेधात्

5. ऋग्वेद 07/88/05
6. ऋग्वेद 07/88/05
7. बृहद्देवता 06/11-15
8. ऋग्वेद 02/41/05/62/06

अग्निभयं भवति। देवगृहेभ्यः विद्धे सति विनाशः सम्भवति। पुनश्च स्तम्भात् विद्धे गृहे क्लेशस्य स्थितिः जायते। गृहस्य अन्यगृहात् वेधे सति गृहपतिः विनश्यति। अपवित्रद्रव्यादिभिः वेधे सति गृहस्वामिनी वन्ध्या भवति। अन्त्यजद्वारा वेधे सति शस्त्रभयं सम्भवति।

गृहद्वारस्योच्छ्रायाद्द्विगुणे इमानि वस्तूनि भवेयुस्तदा वेधदोषो नैव भवति। तत्र गृहद्वारं स्वमानादधिकम् (उच्चं) भवेत्तदा राजभयं भवति। यदि स्वमानान्यूनं (नीचं) भवेत् तदा चौरभयं भवति। द्वारस्योपरि यदि द्वारं भवति तदा तद् द्वारं यमराजस्य मुखरूपे निगदितमस्ति। मार्गमध्ये निर्मितस्य गृहस्य दैर्घ्यमधिकं स्यात् तदा तु निश्चितरूपेण शीघ्रमेव गृहपतिविनाशो भवति। यदि मुख्यद्वारम् अन्यद्वारेभ्यः निकृष्टं स्यात् तदा दोषप्रदं भवति। अतः अन्येभ्यः द्वारेभ्यः मुख्यद्वारं विस्तृतं भवितव्यम्[9]।

मुख्यप्रवेशद्वारम् :-

वास्तुशास्त्रे कस्यापि गृहस्य भवनस्य वा मुख्यद्वारस्य महत्वं अत्यधिकं वर्तते। इदन्तु गृहे आनन्दमयवातावरणनिमित्तं परमावश्यकं वर्तते ततः गृहे मुख्यद्वारस्य स्थापना कस्यामपि दिशि सम्यक् पदविन्यासंदृष्ट्वा कुर्यात् यथा मानवशरीरे अस्माकं मुखस्य महत्वं वर्तते तदेव अस्माकं गृहद्वारस्य अपि महत्वं भवति। अतः मुख्यद्वारं सर्वदा विस्तृतं सुसज्जितं च भवेत्। विषयेऽस्मिन् कथितमस्ति यत्-

ब्राह्मणवर्णस्य राशिनिर्मितं पूर्वदिशि मुख्यद्वारं शुभफलदायकं भवति। वैश्यवर्णराशिनिमित्तं दक्षिणदिशि मुख्यद्वारं शुभं भवति। शूद्रवर्णराशिनिमित्तं पश्चिमदिशि मुख्यद्वारं शुभं भवति। क्षत्रियवर्णराशिनिमित्तम् उत्तरदिशि मुख्यद्वारं भवितव्यम्। यथा-

अथ द्वारं द्विज-वैश्य-शूद्र-नृपराशीनां हितं पूर्वतः[10]॥

गृहस्य राश्यनुसारं भवनस्य मुख्यद्वारस्य दिशानिर्धारणे वास्तुशास्त्रकाराणां यद्यपि मतवैभिन्न्यं वर्तते तथापि सर्वेषां मतमतान्तराणाम् उल्लेखो कुर्वन् बृहद्दैवज्ञरञ्जने बहुसम्मतमतम् उपस्थापितमस्ति[11]।

कर्कटालिझषाणां च पूर्वद्वारं शुभावहम्।
कन्यामकरयुग्मानां दक्षिणद्वारमिष्टदम्॥[11]

तुलाकुम्भवृषाणां च पश्चिमाभिमुखं स्मृतम्।
सौम्यद्वारं शुभाय स्यान्मेषसिंहधनुर्भृताम्[12]॥

मुख्यद्वारस्य स्थाननिर्णयः -

---

9. ना0 पु0 पू0 भा0 द्वि0 पाद 592
10. वास्तुसारसङ्ग्रहे 16 सोपानम्
11. बृहद्दैवज्ञरञ्जनोक्त 86/345
12. ज्योतिर्निवन्ध

वास्तुपदस्य मुख्यद्वारस्य निर्माणकालेऽवधेयं यद् यस्यां दिशि द्वारस्थापनमभीष्टं भवेत् तद्दिशि विस्तारं नवभागेषु विभाजितं कुर्यात्। तदा विस्तारे दक्षिणतः पञ्चभागाः, पुनश्च त्रिभागान् उत्तरतः त्यक्त्वा स्थापयेत्। शेषभागे मुख्यद्वारं शुभं भवेत्। दक्षिणतः दक्षिणपक्षः उत्तरतः वामपक्षः अवगन्तव्यः। यदि द्वारम् उत्तरदिशि पूर्वदिशि वा भवेत् तदा शुभदायकं भवति। यथा–

नवभागं गृहं कृत्वा पञ्चभागन्तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कार्यं शेषे द्वारं प्रकीर्तितम्[14]॥

मुख्यप्रवेशद्वारस्य फलम् :-

गृहस्य मुख्यद्वारस्य निर्माणकाले वास्तुनियमानां परिपालनं शान्तिसुखाभ्यां सह गृहे आनन्दमयं वातावरणं निर्मित्तं करोत्येव। दक्षिणदिशाभिमुखं गृहद्वारं पुष्टिकारकं भवति। पुनश्च पूर्वदिशि उत्तरदिशि च गृहमुखं गृहद्वारं वा विजयकारकं भवति। पश्चिमदिशाभिमुखं गृहद्वारं धनधान्यस्य वृद्धिं करोति। परञ्च पूर्वाभिमुखं गृहस्य द्वारं बालकानां कृते बुद्धिप्रदं भवति[15]।

अनेन प्रकारेण गृहद्वारविन्यासस्य स्थानं विचिन्त्य शुभमुहूर्ते द्वारस्थापना करणीया। तेन गृहे सुखसमृद्धिपुत्रवृद्ध्यादिफलं प्राप्यत एवेति।

---

14. वास्तु सारसङ्ग्रहे 16 सोपानम

15. वि० क० वा० शा० अ० 15

वास्तुशास्त्रे जलतत्त्वानुशीलनम्

हेमचन्दः

वसन्त्यस्मिन्निति वास्तुः। यदि वयं महर्षिपाणिनेः व्याकरणमनुसृत्य शब्दस्यास्य मीमांसापुरस्सरं विचारयामस्तदा निष्पत्तिरस्य एवमस्ति तद्यथोक्तशास्त्रानुसारं 'वस्' धातोः 'तुण्'[1] प्रत्यये कृते सति उपधावृद्धौ शब्दोऽयं निष्पद्यते। मनुस्मृतावपि वास्तुशब्दस्य प्रयोगः विहितः मनुना।[2]

वास्तुशास्त्रमेव शिल्पशास्त्रम्। शिल्पशास्त्रमेव स्थापत्यवेदः। अयमेवाथर्ववेदोपवेदः।[3] कलाकौशलादिकं कर्म शिल्पमित्युच्यते। तच्च वास्तुविज्ञानमलङ्कारघटनं माल्यग्रन्थनं, काचवलयादिकाराणामालेख्यकरणं कुम्भकाराणां घटनिर्माणं शिल्पशास्त्रमेव। विविधानां देवानां मूर्तिनिर्माणसहितं देवालय-प्रासाद-हर्म्य-गृहशाला-वापी-कूपतडागाद्यनेकप्रकारकं वास्तुनिर्माणप्रतिपादकमिदं शास्त्रम्।

वास्तुशास्त्रमिदं मूलतः विज्ञानस्य विषयः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादीनां पञ्चतत्त्वानां प्रभावः यथा पिण्डे भवति तथैव ब्रह्माण्डेऽपि भवति, अत एवोक्तं - 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' 'यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे' वा। यथा - 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[4]। वास्तुशास्त्रदृष्ट्या निर्मितानां गृहाणां रचनोत्तरध्रुवाद्दक्षिणध्रुवम्प्रति प्रवहमानायाम् आकर्षणशक्तिमभिलक्ष्य क्वचिन्नैसर्गिकसौन्दर्यमवलम्ब्य क्वचिच्च प्राकृतिकतत्त्वानामवलम्ब्य भवति। एतेषां पूर्वोक्तानां पञ्चतत्त्वानां पञ्चमहाभूतानां वाऽऽवश्यकता शरीराय आत्मतत्त्ववद्भवति। कथितमपि अन्नम्भट्टमहोदयेन तर्कसंग्रहे - 'गुणाश्रयत्वं क्रियाश्रयत्वं वा द्रवत्वम् (द्रव्यत्वम्)'।[5] अर्थात् यत्र गुणानां क्रियाणाञ्चाश्रयत्वं यत्र गृह्यते तन्नाम द्रव्यत्वम्। वैशेषिकदर्शने पूर्वोक्तानि पञ्चतत्त्वानि द्रव्यभेदेषु निहितानि। पञ्चमहाभूतेषु प्रत्येकं भूतस्य तत्त्वस्य वाऽप्रतिमम्महत्त्वं वरीवर्ति।

वास्तुशास्त्रे दिङ्विचारोऽपि विस्तरेण विहितः। यतोहि यत्रास्माकं वास्तव्यं स्यात्तत्स्थानं कियदूर्जात्मकं कियच्चानूर्जात्मकमिति विषये स्पष्टं यद् ऊर्जायाः स्रोतांसि प्रकृतेः समुद्भवन्ति। यथा-

---

1. संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 923
2. General Knowledge, Lucent, p . 1
3. मनुस्मृतिः, 3/89
4. वास्तुसारः, प्रो. देवीप्रसादत्रिपाठी, पृ. 2
5. तर्कसंग्रहः, अन्नम्भट्टविरचितः, पृ. 9

पञ्चमहाभूतानि

Five Elements of Universe

पृथिवी	जलम्	तेज:	वायु:	आकाश:
Earth	Water	Fire	Air	Space
Geomagnetic	Gravitational	Solar	Wind	Cosmic
Energy	Energy	Energy	Energy	Energy[6]

इमानि पञ्चमहाभूतानि अस्मभ्यं स्फूर्तिप्रदायकानि, ऐश्वर्यादीनि सुखादीनां प्रदातार:। गृहनिर्माणेऽपि पूर्वोक्तानां तत्त्वानाम्महती भूमिका वर्तते। अत्र जलतत्त्वानुशीलनं वास्तुशास्त्रपरिप्रेक्ष्ये विचार्यते।

मुख्यभाग:

पञ्चमहाभूतेषु जलतत्त्वस्य का उपादेयता? जलतत्त्वविषये सर्वे जानन्त्येव यज्जगत्यस्मिन् कोऽपि सत्त्व: (जीव:) जलं विना बहुकालपर्यन्तं जीवितुं नार्हति। आधुनिकै: वैज्ञानिकै: स्फुटीकृतं यदस्मिञ्जगति 71% जलं 29% स्थलमस्ति।[7] पञ्चमहाभूतेषु पृथिव्यनन्तरं जलतत्त्वमेवास्मभ्यं सर्वप्रमुखम्। प्राणिनां रक्ते 80% मात्रा जलस्येव भवति। वनस्पतिष्वपि मात्रेयमाधिक्येन वरीवर्ति। उभाभ्यां वर्गाभ्यां जलमेव जीवनाधाररूपम्। जीवा:, जन्तव:, पशव:, पक्षिणश्च जलं पीत्वा वनस्पतयश्च मूलै: जलं गृहीत्वा जीवन्ति। यथा गृहनिर्माणाय पृथ्वीतत्त्वयुक्तपदार्थानाम् आवश्यकता भवति, तथैव जलतत्त्वस्यापि भवत्येव। अस्माकं शास्त्रीयग्रन्थेषु प्रत्येकं विषयस्य वैज्ञानिकी व्यवस्था वर्तते यथा कुत्राग्ने: वायोस्स्थानमित्यादिकं सर्वं सम्यक्तया व्यवस्थापितम्।

यस्मिन् देशे प्रदेशे वा ऐशान्यां दिशि जलमस्ति तस्य देशस्योन्नतिरतीववेगेन भवति। पृथिव्यां भिन्न-भिन्नदेशानां भौगोलिकस्थिति: भिन्ना-भिन्ना वर्तते। यो देश: समुद्रादाच्छन्नोऽस्ति अथवा यस्य ऐशान्यां दिशि समुद्रोऽस्ति स: देश: सम्पन्नतायुक्तो भवति। यथा जापानदेश: सकलेऽस्मिञ्जगति आर्थिकदृष्ट्या समृद्धो वर्तते। अस्य देशस्य पूर्वेशानयोस्तटीयभागे प्रशान्तमहासागरस्य विशालपट्ट: वर्तते।[8] अत एवोच्यते यज्जलस्थानमैशान्यां दिशि भवितव्यम्। चतुषष्टिपदवास्तुविभागेऽप्यप्स: स्थानमैशान्यां दिशि निर्दिष्टम्।[9] वयं पश्याम: यद्धार्मिककृत्येषु वरुणकलशमैशान्यां दिशि संस्थाप्यते।[10] जलाशयनिर्माणप्रसङ्गेऽपि विविधेषु ग्रन्थेषु सविस्तरेण प्रतिपादितं फलमपि निर्दिष्टम्। तद्यथ-ग्रामस्य नगरस्य वा यद्याग्नेयकोणे कूप: स्यात्तदा तु भयप्रदायक: नैऋत्यां विदिशि स्यात्तदा बालकेभ्य:

6. Padam, J. P. A. (1998) Vastu : Reinventing tha Architec turc of Fulfillment Dehradun Management Publishing Co.
7. General Knowledge, Arihant Part - Geography
8. पञ्चमहाभूतानां दिगनुगुणं विभाग:- http. wikipedia
9. वास्तुमञ्जरी, सूत्रधारनाथेन विरचितम्, प्रथमोऽध्याय:, श्लो. 56
10. (क) उपाध्यारत्लचन्द्रिका (ख) नित्यकर्मपूजाप्रकाश (ग) प्रासादमण्डनम्, सूत्रधारमण्डनविरचितम्, व्याख्याकार: - कृष्ण जुगनू, पृ. 111

क्षयकारक: वायव्यां दिशि च स्त्रीभयकारको प्रोक्त:। ऐशान्यां दिशि शस्त:।[11] पूर्वेशानयो: जलस्य प्रवहणशीलत्वं शुभम्। मुहूर्त्तचिन्तामणावप्युक्तं यथा-

कूपे वास्तोर्मध्यदेशेऽर्थनाशस्त्वैशान्यादौ पुष्टिरैश्वर्यवृद्धिः।
सूनोर्नाशः स्त्रीविनाशो मृतिश्च सम्पत्पीडा शत्रुतः स्याच्च सौख्यम्।।[12]

अफ्रीकादेशस्योदाहरणं द्रष्टुं शक्यते यतोहि अस्य देशस्य ईशानकोणोऽपि सम्यक् नास्ति। पूर्वदिशि हिन्दमहासागरोऽस्ति। वास्तुशास्त्रदृष्ट्या देशेऽस्मिन्महान् दोषोऽस्ति। अत्र बहुधा: प्राकृतिक-विपत्तय: दरीदृश्यन्ते। अस्य देशस्य अपरन्नाम Dark Continent[13] अपि अस्ति।

ब्रिटेनदेशस्याध्ययनेनेदं ज्ञायते यद्देशोऽयं सम्पूर्णविश्वस्य अधिपति: बभूव। अस्य सकलेऽस्मिन् जगति नेपालदेशमपहाय प्रभुत्वमासीत्। राष्ट्रस्यास्य पश्चिमतटे अटलान्टिकमहासागरोऽस्तीशानकोणे नार्वेजियनसागर:, उत्तरे आर्कटिकमहासागरोऽस्ति। अनेन कारणेन देशोऽयं स्वकीयं साम्राज्यं विश्वे प्रसारितवान्। यदि सोवियतरूसदेशस्य भौगोलिकस्थितिं पश्यामस्तदास्य पश्चिमदिश: भूभाग: पूर्वापेक्षया विशालोऽस्ति। आग्नेयभागे कैस्पियनमहासागर एवञ्च दक्षिणदिशि कृष्णसागरोऽस्ति। आग्नेयदिशि यज्जलमस्ति तदार्कटिकप्रशान्तमहासागरयोर्मध्ये तल्लीनं भवति। कारणेनानेनात्रत्या प्रजा साम्यवादीशासने बहुविधकष्टानि प्राप्तवती। कदाचित् प्रागेव देशोऽयं विखण्डितोऽभवत्। सोवियतरुसदेशस्य ऐशान्यां दिशि जलमस्ति, अत: पुनरुन्नतिमार्गे देशोऽयमग्रसर:।

यदि वयं स्वकीयराष्ट्रं पश्यामस्तदात्र बहुविधानां साम्राज्यानामुत्थानमपि बभूव पतनमपि। वैदेशिकै: बारम्बारमाक्रमणं कृतम्। अस्य पूर्वदिशि बङ्गोपसागर: पश्चिमदिशि अरबसागर: दक्षिणे च हिन्दमहासागर:। उत्तरे हिमालयोऽस्त्यतोऽयं वैदेशिकैर्वञ्चित:।

अनुमानत: 73000 वर्षपूर्वं निर्मितस्य मिश्रदेशस्य 'पिरामिड' इत्यस्मिन् वास्तुशास्त्रीय-नियमानामनुगमनं कृतम्। अत्र 'ग्रेट पिरामिड ऑफ कॉम्प्लेक्स' 485 'फीट' मित उन्नतोऽस्ति।[14] अस्मिन् इलैक्ट्रो मैग्नेट-कॉस्मिकतरङ्गाणामाकर्षणमस्ति। इमानि 'पिरामिड' संज्ञकानि निर्माणकार्याणि पृथिव्याश्चुम्बकीयक्षेत्रमुद्दिश्य निर्मितानि सन्ति। अनेन सिध्यति यत् कस्मिन्नपि देशे जलतत्त्वस्यापि प्रभावा: भवन्ति।[15]

जलतत्त्वसमीक्षणे More B. M. महोदयेन 'Violation of Newton's law of Gravition : Gravitational force increases due to motion of water' विषयमधिकृत्य शोधपत्रं लिखितम्। यत्र जलतत्त्वस्य भौतिकविज्ञानदृष्ट्याचिन्तनं प्रदर्शितम्। जगत्यस्मिन् जलतत्त्वस्याधिक्येनापि गुरुत्वाकर्षणबलाधिक्यं दृश्यते। यथा नद्यादिकं निकषा वनस्पतीनां शाखादिका: नता: भवन्ति। वस्तुत: जलतत्त्वे आकर्षणशक्तिरपि विकर्षणशक्तिरपि विद्यते। यद्यस्मिञ्जगति जलन्न स्यात् तर्हि जीवनमसम्भवमेव।

11. बृहद्वास्तुमाला, पं. रामनिहोरद्विवेदी, व्याख्याकार-ब्रह्मानन्दत्रिपाठी, जलशिराविचार:, श्लो.10
12. मुहूर्तचिन्तामणि, वास्तुप्रकरणम्, श्लो. 20
13. General Knowledge, Lucent, P. 2
14- http. wikipedia
15- World Research Journal of Applied Physics, ISSN 0976-7673& E-ISSN – 0976-7581, Volume-4, pp 51-53

जलाशयवास्तु

अव्यक्तरैणा

वास्तुशास्त्रं पञ्चतत्त्वेष्वाधारितं शास्त्रमस्ति। भवने पञ्चतत्वानां समन्वयः आवश्यको भवति। ब्रह्माण्डस्य मूलतत्वानि एतानि पञ्चमहाभूतानि वर्तन्ते। एवमेव मानवशरीरस्य रचनापि पञ्चभूतैः जायते इति **'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** प्रसिद्धोक्तिना सिद्ध्यति। अतः निवासस्थाने स्थितानां पञ्चतत्त्वानां समन्वयः यदि मनुष्यस्य शरीरेण सह भवति तदा भवने निवासिनः समृद्धशालिनः स्वस्थ-प्रसन्नचित्तानि भवन्ति। वास्तुशास्त्रस्य मुख्यध्येयमेवास्ति यत् मानवाः प्रकृत्या सह स्वस्थरूपेण जीवनं यापयेयुः।

पृथिव्यां प्रायः पञ्चसप्ततिप्रतिशतं जलमस्ति तथा पञ्चविंशप्रतिशतं स्थलमस्ति। जलं जीवनस्य एकं महत्वपूर्णमावश्यकं तत्त्वमस्ति। मानवस्य शरीरस्य रचनायामपि जलं सप्ततिप्रतिशतमस्ति तथा वनस्पतिषु जलस्य मात्रा एतस्मादपि अधिकमस्ति। वैज्ञानिकाः मन्यन्ते यज्जलेन सह अस्माकं भावनात्मकं सम्बन्धमस्ति। जलेन वयं प्रसन्नतां प्रेरणां शान्तिञ्च प्राप्नुमः।

वास्तुशास्त्रे ईशानकोणे जलस्य स्थानं विद्यते। यस्मिन् देशे प्रदेशे वा ईशानकोणे जलमस्ति तस्य देशस्य स्थानस्य चोन्नतिः अतीव वेगेन भवति। अस्योदाहरणं जापान-अमेरिकादेशौ वर्तेते। भारतदेशस्य अग्निकोणे जलं विद्यते अतः विकासः मन्दगत्या जातः। सर्वाः प्राचीनसभ्यताः नदीनां सन्निकटे विकसिताः अभवन्। येषां ग्रामाणां नगराणां पार्श्वे नदी-सरोवराः न विद्यन्ते तेषां कृते जलाशयनिर्माणविधानं शास्त्रे वर्णितमस्ति।।

जलाशयप्रशंसा-

विष्णुधर्मोत्तरपुराणे जलाशयप्रशंसायां वर्णनं मिलति यद् भूलोके स्वर्गलोके च जलं विना जीवनम् असंभवमस्ति अतः धर्मात्माभिः सत्पुरुषैः च जलाशयस्य निर्माणं अवश्यं करणीयम् यथा-

उदकेन विना वृत्तिर्नास्ति लोकद्वये सदा।
तस्माज्जलाशयाः कार्याः पुरुषेण विपश्चिता।।
अग्निष्टोमसमं कूपः सोऽश्वमेधसमो मरौ।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सर्वं हरति दुष्कृतम्।।
कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समश्नुते।
तत्रापि भोगनैपुण्यं स्थानाभ्यासात् प्रकीर्तितम्।।[1]

---

1. विष्णुधर्मोत्तरपुराण उद्धृत- बृहद्वास्तुमाला अध्य. दकार्गलाध्याय, श्लो. 1-3

जलं हि सर्वेषां वृक्षजन्तूनां जीवनमस्ति। अतः यः मनुष्यः जलाश्रयं रचयति सोऽस्मिन् संसारे धनधान्योपेतः ऐहिकसुखानि तथा च स्वर्गे सुखानि लभते। वर्तमानपरिप्रक्ष्यप्रेक्ष्ये वयं पश्यामः यज्जलाशयाभाववशात् नगरेषु बहवः समस्याः दृश्यन्ते। अतः जलाशयनिर्माणस्य फलं एवमेव प्रकारेण कथितमस्ति।

नीराश्रयं पुण्यवतां विधेयं मध्यपुरस्यापि तथैव बाह्ये।
वाप्यश्चतस्त्रोऽपि दशैव कूपाश्चत्वारि कुण्डानि च षट् तडागाः॥[2]

पुण्यात्मभिः पुरस्य बाह्याभ्यन्तरप्रदेशे च जलाशयनिर्माणमवश्यमेव कर्तव्यम्। प्रत्येकं चतस्रः वाप्यः दशैव कूपाः चत्वारि कुण्डानि षट्तडागाश्च अवश्यमेव समाजस्य कल्याणाय पशुपक्षिणां मनुष्याणञ्च कृते निर्मातव्याः।

जलाशये जलपरीक्षा-

जलाशयजलं कथं भविष्यति एतद्विचिन्त्य जलाशयस्य निर्माणं क्रियते। यत्र भूमिः मूज-कास-कुशादिभिः युक्ता तथा च रक्तकृष्णा वा भवति तत्र भूमौ मधुरम् एवमधिकं जलं वर्तते। अनेन प्रकारेण शर्करायुक्तताम्रवर्णभूमौ कषायजलं तथा च नीलवर्णभूम्यां मधुरजलं भवति।[3]

जलाशयभेदविचारः-

त्रिकोण-चतुरश्र-वृत्ताकाराः वापिकूपतडागादयः उत्तमाः भवन्ति। धनुषाकार-कलशाकार-कमलाकारजलस्थानानि मध्यमानि भवन्ति। सर्पाकार-ध्वजाकारजलाशयाः निन्दिताः भवन्ति।[4]

जलाशयं दिग्विचारः-

ऐशान्यां कूपखनने गृहे ऐश्वर्यं वर्धते। पुष्टता वृद्धिश्च जायते। पूर्वदिशि कूपखनने धनवृद्धिः भवति। आग्नेयदिशि कूपनिर्माणे परिवारे संतानस्योपरि विपत्तिर्जायते। दक्षिणदिशायां कूपखनने स्त्रीकष्टं भवति। नैर्ऋत्यदिशायां कूपखनने गृहस्वामिनो मृत्युर्भवति। पश्चिमदिशायां कूपनिर्माणे संपत्तिर्जायते। वायव्यदिशायां कूपनिर्माणे शत्रुभयं भवति। गृहस्य मध्ये कूपस्य निर्माणे परिवारस्य विनाशो विज्ञेयः।[5]

कूपनामानि-

हस्तचतुष्टययुक्तस्य कूपस्य नाम **श्रीमुखम्**। पञ्चहस्तयुक्तस्य कूपस्य नाम **विजयः**। षड्हस्तयुक्तस्य कूपस्य नाम प्रान्तः। सप्तहस्तयुक्तस्य कूपस्य नाम **दुन्दुभी**। अष्टहस्तयुक्तस्य कूपस्य नाम चूडामणिः। दशहस्तयुक्तस्य कूपस्य नाम जयः। चतुर्हस्तात् न्यूना कूपिका इत्युच्यते।[6]

---

2. राजवल्लर्भवास्तुशास्त्र, अध्य. 4 श्लो. 26
3. वास्तुरत्नाकर, जलाशयप्रकरण, श्लो. 1.-11
4. विश्वकर्माप्रकाश 8.3-4
5. मुहूर्तचिन्तामणि, वास्तुप्रकरण 12-20
6. वाराहीसंहिता, वास्तुप्रकरणम्

मास-नक्षत्र-तिथि-वारशुद्धिविचारः-

जलस्थाननिर्माणप्रसङ्गे मासशुद्धिः नक्षत्रतिथिरादीनां च शुद्धिरवश्यमेव द्रष्टव्या। तत्र चैत्रादिमासेषु जलाशयनिर्माणेन क्रमशः कोश-धान्य-भय-शोकनाश-सुख-भय-रोग-दुःख-कीर्ति-द्रव्य-अग्निभय-प्राप्तिप्रभृतीनि फलानि लभ्यन्ते।[7]

रोहिणी-उत्तरात्रय-पुष्य-अनुराधा-शतभिषा-मघा-धनिष्ठा-श्रवणनक्षत्रेषु जलाशयानां खननारम्भः कर्तव्यः।[8] रवि-भौम-शनिवासरेषु जलाशयारम्भे जलं शुष्यति। भौमे शनौ च जलाशयारम्भे अल्पमेव जलमवशिष्यते। शेषाः दिवास्तु शुभाः भवन्ति।[9] नन्दा (1-6-11) भद्रा (2-7-12) जया (3-8-13) रिक्ता (4-9-14) पूर्णा (5-10-15) एताः तिथयो नामानुरूपं शुभाशुभं फलं प्रयच्छन्ति। अर्थात् रिक्ततिथियाः जलाशयारम्भेऽवश्यमेव वर्जनीयाः।[10]

लग्नशुद्धिविचारः-

जलाशयारम्भलग्ने यदि चन्द्रः स्थितो भवेद् अथवा जलचरराशिमध्ये (4-10-12) चन्द्रो भवेदथवा केन्द्रे द्वादशे च चन्द्रः स्यात्तदा जलं मधुरं सुगन्धितं च भवति। लग्ने गुरुः शुक्रः बुधश्च भवेत्तदा जलाशयस्यारम्भः कर्तव्यः।[11]

जलाशयप्रारम्भरीतिः-

नन्दादिशिलानां पूजनं कृत्वा ईशानादिक्रमेण दिक्-शोधनं विधाय तत्स्थले ताः स्थापयेत्। शुभे दिवसे खातमध्ये वारुणैर्मन्त्रैः वरुणस्य पूजनं कलशोपरि पूर्वदिशि संस्थाप्य कुर्यात्। ततः शिरः स्थाने वटस्य वेतसस्य कीलानां निवेशनं विधाय ग्रहाणां वास्तोश्च पूजनं करणीयम्।[12]

पर्यावरणसंरक्षणे जलाशयः महत्त्वपूर्णस्थानं धत्ते। सर्वे प्राणिनो जलाशयजलस्योपयोगं कृत्वा तृप्ताः भवन्ति। स्वच्छजलेन मानवानां जीवजन्तूनां पशुपक्षिणाञ्च स्वास्थ्यलाभो भवति। जलाशये यदि जलचराणाम् अपि निवासो भवेत् तदा ग्रामे निवासरताः जनाः प्रकृत्या सह सम्बन्धं अनुभूय मनःशान्तिं प्राप्नुवन्तीति।

वास्तु के वैदिक सिद्धान्त एवं प्रासंगिकता

डॉ. नीलम त्रिवेदी

जिस भी भवन में मानव निवास करता है वहाँ का वातावरण, वहाँ की वायु आगमन-निर्गमन, वहाँ का चुम्बकीय क्षेत्र आदि तत्व मानव के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते है। हमारा आवास सुखदायी हो, निरापद हो, मानसिक शान्ति देने वाला हो, ऐसी ही व्यवस्था वास्तु के अन्तर्गत किये जाने का विधान है। वैदिकवाङ्मय के अनुसार प्राकृतिक नियमानुसार भवन निर्माण का ज्ञान जिस ग्रन्थ में है, वह ग्रन्थ स्थापत्य वेद कहलाता है, और स्थापत्य वेद के नियमों को मूर्त रूप प्रदान करने वाला शास्त्र ही वास्तुशास्त्र है।

वास्तु की उत्पत्ति 'वस्तु' शब्द से मानी जाती है वस्तु का अर्थ है अस्तित्वयुक्त स्थिति। संस्कृत साहित्य में वास्तु से तात्पर्य केवल मानव ही नहीं अपितु देवताओं के भी निवास से लिया गया है। इसका विस्तार देवालय, नगर, ग्राम, राष्ट्र, भवन, सामान्य जन के निवास तथा उसमें कुछ विभिन्न प्रकार के साजो सामान, रंग योजना, पेड़ पौधे, भवन निर्माण में प्रयोग आने वाली सामग्री के रूप में दिखाई देता है। यद्यपि वास्तु विद्या भारत में बहुत प्राचीन काल से है किंतु आज से दशक पूर्व तब वास्तु के प्रति इतनी जागरूकता नहीं थी। हमारे पिता, पितामह ने जब भवन निर्माण किया तो वास्तु का प्रश्न उनके मस्तिष्क में नहीं था किन्तु वर्तमान में वास्तु के बिना भवन निर्माण असंभव सा लगता है। आज वास्तुकारों के पास विभिन्न भूखण्डों के माप के अनुकूल जो स्वीकृत नक्शे होते है प्राय: वे वास्तु अनुकूल ही बनाए जा रहे है क्योंकि सामान्य मनुष्य की वास्तु के प्रति जिज्ञासा बढ़ गई है। उसका मानना है कि यदि वास्तु के नियमों के अनुसार भवन निर्माण किया जाए तो जीवन में सुख-समृद्धि, आरोग्यता की प्राप्ति होती है और यही मानव जीवन का लक्ष्य भी है।

भारत ही नहीं अन्य देशों में भी वास्तु तथा इसी के समान अवधारणा देखने को मिलती है। लगभग हर देश के भवन निर्माण संबंधी अपने अलग ही प्रतिमान होते हैं। जो वहाँ की जलवायु भौगोलिक स्थिति आदि के आधार पर निर्मित होते है। जिन देशों में ठंड अधिक पड़ती है, बर्फवारी होती है उन देशों में मकान की ढालू छत वहाँ की वास्तु योजना की ही सूचक है।

वैदिक वाङ्मय में भवन निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान हैं ऋग्वेद में भवन निर्माण के अनेक सुन्दर उदाहरण विद्यमान है। **'सहस्र स्थूणं बिमृथः सह द्वौ'**[1] शब्दों द्वारा सहस्र स्थूणों वाले तथा

---

1. ऋग्वेद 5, 6, 26

दो तल्लों वाले भवनों का वर्णन है। कुछ ऋचाओं में लोहे और पत्थर की नगरियों अथवा मकानों का उल्लेख है। वेदी[2], चिति[3], शमशान[4], यूप[5] आदि के निर्माण का भी वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद में शतमुखी, अशममयी, आयसी आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[6] जिससे प्रतीत होता है कि वास्तुशास्त्र का विकसित वर्णन वेदों में है। श्रीपाद सातवलेकर ने वैदिक व्याख्यानमाला में वैदिक नगरों में गृहों का सुन्दर विवेचन किया है। समाधि के लिए मृण्मय[7] शब्द आया है। जिसमें शव को जलाने के बाद मिट्टी के ढेर को लगाने का अनुमान होता है। अस्तु वास्तुशास्त्र की विशद सामग्री वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है। जिससे उसके अध्ययन के नये आधार प्राप्त होते हैं। आज जब प्राचीन वास्तुशास्त्र विश्व में चर्चा का विषय बना हुआ है तब वैदिक वास्तु के अध्ययन और चिन्तन की और अधिक आवश्यकता है। वास्तु पर अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना हुयी है। स्थापत्य की विभिन्न तकनीक तथा भवनों के नाना रूपों के विवरण वैदिक ग्रन्थों से लेकर परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों में तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद ऐसा ग्रन्थ है जिसमें अर्चा-वास्तु तथा लौकिक वास्तु वर्णित है। वास्तव में ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐसी सामग्री उपलब्ध है, जिसमें उक्त दोनों प्रकार के स्थापत्य पर रोचक प्रकाश पड़ता है। इस साहित्य में त्रिभौमिक प्रासाद, सहस्र स्तम्भ एवं सहस्र द्वारों वाले सभाकक्ष आदि का उल्लेख मिलता है।

इसके अतिरिक्त अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, विश्वकर्ममत, विश्वकर्मपुराण, वास्तुरत्न, वास्तुप्रदीप, विश्व कर्मसंहिता, रूपमण्डन, वास्तुराजवल्लभ, वास्तु-मुक्तावली, रत्नमाला, गृहरत्न, शिल्पसार, प्रतिष्ठाकल्लता, समराङ्गण सूत्रधार, प्रतिष्ठामहोदधि, भारतीयवास्तुकला का इतिहास आदि वास्तु शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें से अब कुछ ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

वास्तुशास्त्र के विद्वानों में विश्वकर्मा, नारद, ब्रह्मा, बृहस्पति, नन्दीश, मय, भृगु, वशिष्ठ, नग्नजित, गर्ग, वासुदेव, शुक्र, शौनक, कुमार, पुरंदर, अनिरुद्ध, नारायण भट्ट, राम दैवज्ञ, कालिदास, श्रीपति, भास्कर, टोडरानन्द, मांडव्य, केशवदैवज्ञ, ब्रह्मशंभू, वराहमिहिर, शाङ्र्गधर, लल्ल इत्यादि नाम उल्लेखनीय है। मत्स्यपुराण में 18 वास्तुशास्त्र के उपदेशकों का नाम है-

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।

---

2. ऋग्वेद 10, 114, 3
3. शतपथ ब्रा. 8, 1
4. शतपथ ब्रा. 13, 8, 1, 1
5. ऋग् 10,11,15
6. ऋग्वेद 4, 27, 1
7. शतपथ ब्रा., 13, 8, 1-4

वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः॥[8]

हमारे ऋषियों ने मानव समाज के हित में चुम्बकीय प्रवाहों, वायु के प्रभाव, दिशाओं, गुरुत्वाकर्षण के नियमों एवं सूर्य की ऊर्जा को सन्दर्भ में रखकर वास्तुशास्त्र का निर्माण किया। कठोपनिषद द्वितीय वल्ली के बीसवें श्लोक में वर्णित हैं–

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य। अर्थात ब्रह्माण्ड में हर वस्तु का निर्माण पंच तत्वों - वायु, अग्नि, जल, आकाश एवं पृथ्वी से ही हुआ है। आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि पाँच मूल तत्वों के सही सम्मिश्रण से ही बायो इलैक्ट्रिक एनर्जी की उत्पत्ति होती है। जिससे मानव स्वस्थ एवं सुखमय जीवन प्राप्त करता है।

ऋग्वेद में स्थापत्य-सम्बन्धी विविध उल्लेखों से पता चलता है कि ईसवीं पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पहले भारतीयों को भवन निर्माण की अच्छी जानकारी हो गयी थी। ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐसे उल्लेख प्राप्त है जो स्थापत्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालते हैं। विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भवन-विन्यास का जो रूप उपलब्ध है उसकी परम्परा भारत में बराबर जारी रही है।

वैदिक भवनों के तीन मुख्य अंग थे। पहला भाग गृह-द्वार था, जिसमें सामने का आँगन या अजिर भी सम्मिलित था। दूसरा अंग बैठक थी, जिसके नाम सभा तथा बाद में आस्थान मण्डप मिलता हैं। यहीं आगन्तुकों का स्वागत किया जाता था। तीसरा भाग 'पत्नी-सदन' था, जिसे 'अन्तःपुर' कहा जाता था। आर्य लोग अग्नि-आधान हेतु भवन में एक कक्ष या आच्छादित स्थान को 'अग्निशाला' के रूप में रखते थे। विहित श्रौत कर्मों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था। बड़े प्रासादों में इस पवित्र स्थान को 'देवगृह' कहा जाने लगा। कालान्तर में भी इसका उपयोग पूजा के कमरे के रूप में होता रहा है।

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि भवन निर्माण-कला में सादगी तथा सुरुचि थी। लोगों का जीवन सादा था, अतः निवास-गृहों में आडम्बर या दिखावा आवश्यक नहीं समझा जाता था। सौन्दर्य-बोध वैदिक आर्यों में विद्यमान था, इसका पता ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक साहित्य से चलता हैं।

ऋग्वेद (7. 33, 13) में मान तथा वशिष्ठ नामक दो ऋषियों की घड़े से उत्पत्ति की कथा दी है। सायण ने मान को कुम्भज (अगस्त्य) का ही दूसरा नाम माना है। बाद में वास्तु शास्त्रकारों ने अगस्त्य को वास्तु-विद्या का आचार्य कहा। 'मान' का अर्थ मापन है। हो सकता है कि अगस्त्य का सम्बन्ध वैदिककालीन वास्तुकला से रहा हो।

---

8. मत्स्यपुराण 252/2

ऋग्वेद में कई स्थलों पर वास्तोष्पति नामक देवता का उल्लेख है।[9] गृह निर्माण के पूर्व इस देवता का आवाहन किया जाता था। एक स्थान[10] पर वास्तोष्पति तथा इन्द्र को तथा अन्यत्र[11] वास्तोष्पति तथा त्वष्टा को एक ही माना गया है।

ग्राम–'ग्राम' शब्द ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में मिलता हैं। ग्राम वर्तमान गाँव का द्योतक है। कुछ वैदिक ग्राम एक-दूसरे के निकट थे।[12] कुछ दूर-दूर बसे थे तथा सड़कों के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध थे।[13] गाँव प्रायः खुले हुए होते थे। ग्राम बसाते समय शुद्ध जल और वायु का ध्यान रखा जाता था।

पुर–'पुर' शब्द का प्रयोग[14] में तथा परवर्ती वैदिक साहित्य[2] में अनेक स्थानों पर मिलता है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में यह शब्द नगर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में पुर का प्रयोग 'दुर्ग', 'गढ़' या 'प्रकार' के लिए भी हुआ है। ऋग्वेद में पुरों पर घेरा डालने तथा उन्हें विनष्ट करने के उल्लेख मिलते हैं। प्रतीत होता है कि उस युग में पुरों की संख्या अधिक रही होगी। उनकी रचना सुगमता से कर ली जाती रही होगी। प्रारम्भ में ये पुर मिट्टी के बनाये जाते रहे होंगे।

उक्त दुर्ग या गढ़ ग्रामों के अन्दर होते होंगे या उनके पास ही। पुरों के अन्दर किसी प्रकार की बस्ती का ठीक पता नहीं चलता। पुरों के लिए एक स्थान पर विशेषण के रूप में 'शारदी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'शारदी' उन्हें इसीलिए कहा गया होगा कि शरद ऋतु में बाहरी आक्रमणों से पुर की रक्षा हेतु इनका विशेष रूप से उपयोग होता था। पत्थर के बने पुरों (अश्ममयी पुर) का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। कुछ में धातु का भी प्रयोग होता था।

गृह–ऋग्वेद में 'गृह' शब्द निवास अथवा घर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[15] अथर्ववेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में यह शब्द मिलता है।[16] 'दम' 'पस्त्या' तथा 'हर्म्यं' शब्दों का भी प्रयोग घर तथा उससे सम्बन्धित पारिवारिक सम्पत्ति के अर्थ में हुआ है।

घरों को स्वच्छ-सुन्दर बनाने का विचार वैदिक काल से मिलता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर गृह की उपमा अलंकृत हथिनी से दी गयी है।[17] घरों की बाहरी तथा भीतरी दीवारों पर विविध

---

9. ऋग्वेद 7, 54, 55
10. ऋग्वेद 8, 17, 14
11. ऋग्वेद 5, 41, 8
12. शतपथ ब्राह्मण, 13, 2, 4, 2
13. छांदोग्य उपनिषद्, 8, 6, 2
14. ऋग्वेद (1, 53 ,7 1, 58 ,8 1, 131, 4
15. ऋग्वेद 3, 53, 6, 4, 49, 6, 8, 10, 1
16. अथर्ववेद 7. 83, 1, 10, 6, 4
17. अथर्ववेद 9, 3, 17

प्रकार के आकर्षक चित्र बनाये जाते थे। सुन्दर घर की तुलना सुसज्जित वधू से की गयी है।[18]

वैदिककालीन गृहों के निर्माण में किन पदार्थों का प्रयोग होता था? इस विषय में वैदिक साहित्य में मनोरंजक उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्रायः मिट्टी, पत्थर, लकड़ी तथा बाँसों का प्रयोग गृह निर्माण में होता था। घरों की नींवे बहुत दृढ़ (ध्रुव) बनायी जाती थीं। दीवालों के ऊपर पहले कोरे बाँस आड़े-तिरछे बिछा दिये जाते थे। उनके ऊपर चीरे हुए बाँसों को रखा जाता था। फिर मजबूत रस्सियों से वे कस दिये जाते थे, जिससे छत पर की बिछावन हिले-डुले नहीं। बाँसों की यह बिछावन 'आयाम' कहलाती थी। उस पर तृण तथा पत्तों की तहें बिछायी जाती थीं। इन तहों को 'वर्हण' कहते थे। इस बिछावन के ऊपर बाँस की खपच्चियों की तह लगायी जाती थी। उसे भी मजबूती से बाँधते थे। इस प्रकार छत तैयार हो जाती थी। बड़ी छतों को सँभालने के लिए नीचे मोटी थूनियाँ या बल्लियों लगायी जाती थीं। सरपत, कास आदि की पतवार से छाये गये घर आज तक भारत के विभिन्न भागों में बनते हैं।

तोरण–भारतीय वास्तु के इस तत्त्व का स्रोत हमें वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक काल में भवनों, पवित्र स्थलों, वृक्षों आदि की रक्षा हेतु उन्हें चारों ओर से वेष्टित कर देते थे। इसके लिए लकड़ी के सीधे दण्डों (थम) को भूमि पर गाड़ देते थे। फिर लकड़ी या बाँस को उनमें आड़ा बाँधकर घेरा या बाड़ बना देते थे। यही बाड़, वेष्टनी या वेदिका कहलायी। इस प्रकार के द्वार ने ही बाद में अलंकृत तोरणों के स्वरूप निर्धारण में योगदान दिया।

यूप–वैदिक साहित्य में 'स्कम्भ' (स्तम्भ) तथा 'यूप' शब्द खम्भों के लिए मिलते है।[19] यूप को भूमि पर खड़े करने के पूर्व उसकी स्तुति में कुछ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। इन मन्त्रों से यूप के आकार आदि के विषय में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। उसकी वनस्पति संज्ञा इस बात को घोषित करती है कि यूप-निर्माण हेतु लकड़ी किसी पेड़ से ली जाती थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यूपों की ऊँचाई आदि के विषय में भी उल्लेख मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है। कि यूपों की नाम आदि के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों का विधिवत् पालन किया जाता था।

कृष्ण-यजुर्वेद में यूप से सम्बन्धित अनेक ऋचाएँ हैं।[20] यजुर्वेद में भवन निर्माण हेतु निर्देश किया गया है कि मनुष्य को भवन इस प्रकार से निर्मित करना चाहिये जिसमें वायु, प्रकाश व जल की परिपूर्ण व्यवस्था हो।

स्तम्भ विधि–मत्स्यपुराण में भवनों के स्तम्भों के परिणाम व प्रकार का उचित विवेचन किया गया है। खम्भे के परिमाण के बारे में कहा गया है कि गृह की ऊँचाई के मान को सात से गुणा कर उसके अस्सीवें भाग के बराबर खम्भे की मोटाई होनी चाहिए। उसकी मोटाई में नौ से गुणा कर 80वें भाग के बराबर खम्भे का मूल भाग होना चाहिए।[21]

---

18. अथर्ववेद 9, 3, 24
19. ऋग्वेद 10, 11, 15
20. कृष्णयजुर्वेद 6. 3, 4
21. मत्स्यपुराण 255, 2

भारत ने स्तूप तथा मन्दिर के रूप में स्थापत्य के दो प्रमुख धार्मिक रूपों को जन्म दिया। स्तूप तथा मन्दिर का निर्माण भारत की सीमाओं तक ही आबद्ध नहीं रहा। बहुत प्राचीन काल से भारत के पड़ोसी देशों ने इन दोनों को अपनाना आरम्भ किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें आगे बढ़ाया।

द्वार स्थापना—सभी प्रकार के गृहों में दाहिनी ओर प्रवेश द्वार रखे जाते थे।[22] पूर्व दिशा में इन्द्र और जयन्तद्वार सभी गृहों में श्रेष्ठ माने गए हैं। दक्षिण द्वारों में याम्य और वितथ श्रेष्ठ माने गए हैं।[23] पश्चिम द्वारों में पुष्पदन्त और वरुण प्रशंसित हैं। उत्तर द्वारों में भल्लाट और सौम्य शुभदायक होते हैं।[24]

गृह निर्माण विधि—देवालय, धूर्त, सचिव या चौराहे के समीप भवन निर्माण निषिद्ध किया गया है क्योंकि इससे दुःख शोक और भय बना रहता है।[25] घर के चारों ओर तथा द्वार के सम्मुख और पीछे कुछ भूमि को छोड़ देना शुभकारक है।[26] पिछला भाग दक्षिणावर्त रहना चाहिए क्योंकि वामावर्त विनाशकारक होता है। दक्षिण भाग में ऊँचा रहने वाला घर 'सम्पूर्ण वास्तु के नाम से अभिहित किया जाता है और कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।[27] भूगोल के अनुसार हमारी धरती उत्तर पूर्व की तरफ लगभग साढ़े 23 अंश झुकी हुई है। उत्तर-पूर्व दिशा की ओर नीची तथा स्वाभाविक रूप से दक्षिण में अधिक उठी हुई है। इसके भौगोलिक संतुलन के लिये मानव निवास के नियम स्वतः ही बन जाते है।

पूजन—सर्वप्रथम वेदज्ञ पुरोहित को श्वेत वस्त्र धारण कर कारीगर के साथ ज्योतिषी के कथनानुसार शुभ मुहूर्त में सभी बीजों से युक्त आधारशिला को रख के ऊपर स्थापित करना चाहिए।[28] अक्षत, वस्त्र, अलंकार और सर्वौषधि से पूजित कर मन्त्रोचारण के साथ स्थापित करें।[29] ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराकर **'वास्तोष्पते प्रति जानीहि'**[30] इस मन्त्र के द्वारा मधु और घी से हवन करवाना चाहिए।[31] वास्तु यज्ञ पाँच प्रकार के हैं—सूत्रपात, स्तम्भारोहण, द्वारवंशोच्छ्राय (चौखट स्थापन) गृह प्रवेश और वास्तुशान्ति।[32] इस ढंग से बना हुआ भवन गृहस्पति के लिए मंगलकारी होता हैं।[33]

---

22. तत्रैव 255/7
23. तत्रैव 255/8
24. तत्रैव 255/9
25. तत्रैव 256/2
26. तत्रैव 256/3
27. तत्रैव 256/4
28. तत्रैव 256/6
29. तत्रैव 256/7
30. श.यजु. 7, 54, 1
31. मत्स्यपुराण 256/9
32. तत्रैव 256/10, 11

भविष्य पुराण में अध्याय 10 के 112 श्लोक में वास्तुविद्या का वर्णन है। अग्नि पुराण के अध्याय 40-31, 41-37 में शिला विन्यास एवं अध्याय 100-9 में द्वार प्रतिष्ठा और अध्याय 101-13 में प्रासाद प्रतिष्ठा का वर्णन मिलता है।

काल परिवर्तन एवं सभ्यता के क्रमशः विकास से मनुष्य के विकास में भी परिवर्तन आया। मिट्टी के घरों के स्थान पर सीमेंट, पत्थर और धातु के गृह निर्माण होने लगे। गृह निर्माण नवीन तकनीकी और अभियांत्रिकी का मुख्य अंग हो गया। नगर तथा ग्राम सन्निवेश के विविध अंग-उपांग अस्तित्व में आने लगे। भवन निर्माण में भू-चयन, मापन, संस्कार आदि तत्व विकसित होने लगे। किंतु यह कहना अतिशयोक्ति ना होगा कि भारतीय परम्परा में वास्तु को वेद-वेदांग से समुद्भूत कहा गया है।

वास्तु नियमों की संगतता

यदि हम प्राकृतिक व्यवस्था के अनुकूल निर्माण करेंगे तो निश्चय ही उक्त भवन हमारे लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा। अतः हमें सूर्य, वायु व चन्द्र प्रदत्त ऊर्जा पर ध्यान देना होगा। यदि इस समस्त ऊर्जा भण्डार का सही नियोजन व संयोजन करते हुए भवन निर्माण किया जाये तो उसमें निवास करने से मनुष्य शांति, समृद्धि व दीर्घायु प्राप्त करेगा।

वास्तुपुरुष

पौराणिक मान्यता में भगवान शिव का अन्धकासुर राक्षस से युद्ध का उल्लेख है। इस युद्ध में भगवान् शिव के पसीने के बिन्दु निपात से एक विशाल, अदीति और क्रूर प्राणी का जन्म हुआ जिससे सम्पूर्ण देवजगत् में घबराहटपूर्ण हलचल हुई। देवों ने ब्रह्माजी की आज्ञा से इस प्राणी को पृथ्वी लोक में अधोमुख कर गिरा दिया और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने उसे वास्तु पुरुष की संज्ञा दी। कहा जाता है कि वह वास्तुपुरुष जब भूमि पर गिरा तो उसका सिर ईशान कोण में तथा पैर नैऋत्य कोण में थे।

वास्तुपुरुष द्वारा ब्रह्माजी की प्रार्थना की गई। ब्रह्माजी ने उसे यह आशीर्वाद दिया कि जो प्राणी निर्माण कार्य में तुम्हारी पूजा नहीं करेगा या वास्तु पुरुष के मर्माङ्गों पर निर्माण कार्य करेगा उसे जीवन में दरिद्रता एवं समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। अतः वास्तु पुरुष के मर्मांगों पर निर्माण कार्य निषिद्ध है।

वास्तु देव के विभिन्न अवयवों पर निर्माण

वास्तुपुरुष के मर्म स्थान पर कोई निर्माण न हो।[34] अतः मर्म स्थान को खुला रखने की परंपरा चली आ रही है। मध्य भाग में आँगन रखकर निर्माण करने का यही उद्धेश्य रहा होगा।

---

33. तत्रैव 256/35

34. मत्स्यपुराण 252/15, 16

भूखण्ड छोटे होने के कारण आज इस प्रकार का निर्माण प्रायः सम्भव नहीं है। दिये गये चित्र के माध्यम से वास्तु संगत निर्माण को समझा जा सकता है--

वायव्य		N		ईशान
	7	8	1	
W	6	9	2	E
	5	4	3	
नैऋत		S		आग्नेय

- उक्त चित्र में जहां संख्या 1 लिखी है उसे ईशान कोण कहा गया है जिस पर पूजा कक्ष, बच्चों व बुजुर्गों का कमरा अध्ययन कक्ष बनाया जा सकता है।
- संख्या 2 में स्नानागार, बरामदा, बैठक के लिये उचित है।
- संख्या 3 में जो कि अग्नि कोण है यदि रसोई हो तो अति उत्तम है।
- संख्या 4 का स्थल गृहस्वामी के शयन कक्ष के लिये उचित है। इस क्षेत्र में भंडारगृह भी बनाया जा सकता है।
- संख्या 5 में गृहस्वामी या परिवार के बड़े सदस्य के शयन के लिये उपयुक्त है।
- संख्या 6 में भोजन कक्ष बनाया जा सकता है।
- संख्या 7 में बच्चों का कक्ष, अन्न भंडार के लिए उचित हैं।
- संख्या 8 में धन रखने तिजोरी आदि रखने के लिये उपर्युक्त है।
- संख्या 9 को ब्रह्म स्थान कहा गया है। जिसे जहाँ तक सम्भव हो भारी निर्माण से मुक्त रखने का निर्देश दिया गया है।

मुख्य द्वार

भवन के मुख्य द्वार की स्थिति का विशेष प्रभाव होता है।

पूर्व द्वार–पूर्वी द्वार 'विजय द्वार' कहलाता है। यह उत्तम व लाभदायक फल देने वाला है।

दक्षिण द्वार–दक्षिणी द्वार 'यम द्वार' कहलाता है। यथासंभव दक्षिणी द्वार से बचना चाहिए।

पश्चिम द्वार–पश्चिमी द्वार 'मकर द्वार' कहलाता है। यह मध्यम फलदायक है।

उत्तर द्वार–उत्तरी द्वार 'कुबेर द्वार' कहलाता है। यह उत्तम फलदायक है।

- दरवाजे खोलते व बंद करते समय आवाज का आना अशुभदायक होता है।
- दरवाजे के नीचे देहली जरूर लगानी चाहिए।

- दरवाजे अंदर की ओर खुलने चाहिए।
- मुख्य द्वार के सामने द्वार वेध नहीं होना चाहिए।

स्वागत कक्ष

- मेहमानों का स्वागत कक्ष वायव्य, उत्तर, ईशान व पूर्व के मध्य होना चाहिए।
- फर्नीचर दक्षिण और पश्चिम दिशाओं के क्षेत्र में रखना चाहिए।
- स्वागत कक्ष में स्वामी का मुँह उत्तर-पूर्व की ओर श्रेष्ठ होता है।
- आग्नेय व नैऋत्य कोण में स्वागत कक्ष नहीं बनाना चाहिए।

शयन कक्ष

- मुख्य शयन कक्ष दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य कोण) में ही सर्वश्रेष्ठ होता है।

● शयन कक्ष में पलंग इस तरह लगाएँ कि सोते समय शिरोपधान दक्षिण दिशा में हो और पैर उत्तर दिशा की ओर हों, जिससे मानव शरीर में चुंबकीय तरंगों का प्रवेश निर्विघ्न रहे और शांत एवं गहन निद्रा ली जा सके।

उत्तर

पश्चिम | पूर्व

अतिथि शयनकक्ष				×
शयनकक्ष	आँगन			
शयनकक्ष				
शयनकक्ष				
मुख्य शयनकक्ष		शयनकक्ष		×

दक्षिण

- शयन कक्ष में पूर्व-उत्तर दिशा में ज्यादा खाली स्थान छोड़कर पलंग लगाना चाहिए।

● दक्षिण दिशा में शयन कक्ष स्वास्थ्यवर्द्धक और पश्चिम दिशा में शयन कक्ष सुखवर्धक होता है।

● उत्तर दिशा के कमरे में शयन कक्ष वर्जित है। इसी प्रकार शयन कक्ष में उत्तरी दिशा में शिरोपधान भी वर्जित है।

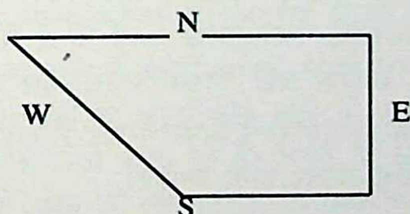
रसोई घर

- रसोई के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थान दक्षिण-पूर्व (आग्नेय क्षेत्र) ही है। दूसरा विकल्प उत्तर-पश्चिम (वायव्य क्षेत्र) माना गया है।
- रसोईघर उत्तर दिशा, उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, मध्य दक्षिण क्षेत्र में नहीं होना चाहिए।
- रसोईघर–पूजा कक्ष, शौचालय-शयन कक्ष, सीढी–अध्ययन कक्ष परस्पर ऊपर-नीचे नहीं होने चाहिए।
- रसोईघर में स्टोर / बरतनों की अलमारी दक्षिण-पश्चिम में होनी चाहिए।
- पानी का नल रसोईघर के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में होना चाहिए।
- खाना पकाने की स्लैब पूर्वी व उत्तर दिशा की दीवार को स्पर्श किए बिना पश्चिम, दक्षिण दिशा में बना सकते हैं।

वेध उपचार (Remedy)

वेध कोई इस प्रकार का दोष नहीं है जिसका कोई उपचार न हो अथवा इसके कारण उक्त भूखण्ड को ही त्याग दिया जाये। इन वेधों का शोधन उपचार आदि करके निवास योग्य बनाया जा सकता है।

- एक सामान्य कोणों वाला भूखण्ड वह है जिसके सभी कोने बराबर हो। वह प्लॉट वर्गाकार व आयताकार कहा जाता है। यह निवास के लिए उपयुक्त माने जाते है। जब किसी भूखण्ड में कोई भुजा कम हो जैसे–



यह भूखण्ड वायव्य कोण की दिशा में अधिक बढ़ा हुआ है। यह आर्थिक हानि प्रदान करने वाला कहा गया है। इसके दक्षिणी छोर पर कोई लैम्प पोस्ट या ऊँचा वृक्ष रोप देना चाहिए।

- भूखण्ड यदि दक्षिण अर्थात् आग्नेय कोण में बढ़ा हुआ है तो दक्षिण पश्चिम में भारी निर्माण कराते हुए उत्तर-पूर्व में अधिक खुला स्थान छोड़ देना चाहिए।
- जो भूखण्ड पूर्व दिशा से दक्षिण से अधिक बढ़ा हुआ हो उसके उपचार के लिए उस हिस्से में निर्माण न कराये। यदि भूखण्ड के पूर्व व दक्षिण दिशा में भवन निर्माण कर लिया जाये तथा उत्तर-पश्चिम क्षेत्र को रिक्त छोड़ दिया जाये तो परिवार में कभी शांति नहीं रहती।

नेष्ट द्वार

- पूर्वी आग्नेय में मुख्य द्वार – ईशान कोण से एक–दो भाग छोड़ कर निर्माण करायें।
- दक्षिण नैर्ऋत्य में मुख्य द्वार – दक्षिण में आग्नेय कोण से एक और भाग छोड़ कर निर्माण कराये।
- पश्चिमी नैर्ऋत्य में मुख्य द्वार – दो और भागों को छोड़ कर निर्माण कराये।
- उत्तरी वायव्य में मुख्य द्वार – वायव्य कोण से एक भाग छोड़ कर द्वार बनाना चाहिए।

वास्तुशास्त्र को ज्योतिष शास्त्र के एक रूप में भी स्वीकारा गया है। इसमें भी तिथि, वार, मुहूर्त व शुभ समय आदि का विशेष स्थान है। साथ ही मनुष्य की जन्मकुंडली उसकी राशि आदि के अनुसार भी निर्माण कराने सम्बन्धी जानकारी पायी जाती है।

वास्तु सम्बन्धी शोध

- महर्षि वैदिक आर्किटेक्ट कंसलटेंसी सर्विस के निदेशक एम. वेंकटेश्वरलू वास्तु विज्ञान को ही आज का आधुनिक विज्ञान मानते है। पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के मध्य में एक बड़ा चुम्बकीय क्षेत्र है। मनुष्य के रक्त का मुख्य तत्व लोहा है। लोहे का चुंबक से सीधा संबंध है। इसलिए दक्षिण दिशा के प्रवेशद्वार वाले भवन के निवासी के मस्तिष्क या हृदय की रक्त आपूर्ति पर प्रतिकूल असर होता है। रक्त कैंसर की संभावना रहती है। अमेरिकन शोधकत्ताओं का भी यही दृष्टिकोण है।
- पृथ्वी पर ऊर्जा का प्रभाव समान होता है। इसी में सकारात्मक व नकारात्मक ऊर्जा के बिन्दु ढूँढने होते हैं। शयनकक्ष व अध्ययनकक्ष सकारात्मक ऊर्जा केन्द्रों में होने चाहिए। कम सकारात्मक क्षेत्र में शौचालय होना चाहिए, क्योंकि यहाँ आदमी सबसे कम समय रहता है।
- वैदिक वास्तु अध्ययन पर अनेक वास्तुकारों ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि कोई स्थान बुरा नहीं होता, उसका प्रयोग करने की विधि बेहतर होनी चाहिए।
- वैदिक वास्तु शास्त्र आधुनिक विज्ञान पर आज भी खरा उतरता है। 3 सितंबर, 1995 के 'दैनिक आंध्र प्रभा' में प्रकाशित शीर्षक 'उत्तरी दिशा का सिराहना अरिष्टदायक है' में इसका उल्लेख है।
- बंगलौर के वैज्ञानिक एवं सांकेतिक शास्त्र संगठन तथा मद्रास के वी.एच.एस. स्वास्थ्य अनुसंधान केंद्र के संयुक्त शोध में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की पुष्टि हुई है कि उत्तरी दिशा में सिर करके सोने से चुंबकीय तरंगों का मस्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप व्यक्ति तनावग्रस्त एवं असंतुलित रहता है। जिसका प्रत्यक्ष परिणाम व्यक्ति के दैनिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलापों पर पड़ता है।

● महर्षि वैदिक विश्वविद्यालय में स्थापत्य वेद और वास्तु पर अनेक अनुसंधानों के पश्चात् यह पाया गया कि यूरोप और अमेरिका में भवनों के दक्षिण दिशा में बने प्रवेशद्वारों को बंद कर वास्तु सम्मत निर्माण के बाद परिवर्तन देखा गया।

● भारत सरकार के स्कूल ऑफ प्लानिंग एंड आर्किटेक्चर के वास्तु विभाग में अनुसंधान कार्य हो रहा है जो कि पूर्ववर्ती अनुसंधानों की सफल परिणति का प्रभाव है।

वर्तमान में वास्तुशास्त्र की प्रासंगिकता

अब मुख्य प्रश्न यह है कि आज के युग में वास्तु की क्या प्रासंगिकता है? सिद्धान्त और नियम वही प्रासङ्गिक है जो देश काल के अनुरूप हों। आज भवन निर्माण के माप दण्ड बदले हैं। नवीन तकनीकी एवं अभियांत्रिकी ने भवन निर्माण में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। मैं समझती हूँ कि वास्तु से उन 10 प्रतिशत लोगों को लाभ है जो सम्पन्न हैं। 90 प्रतिशत लोगों के लिये यह प्राथमिकता नहीं है, शहरों में भूमि उपलब्ध नहीं है, भूमि ही मुश्किल से उपलब्ध है। फिर भूमि चयन, भूमि का आकार, भूमि परीक्षण, भूमि का ढाल/उठाव, मार्ग व दिशा के अनुसार वर्गीकरण, वेध विचार आदि का विचार सम्भव नहीं दिखता है। जिसे जहाँ जो भूमि उपलब्ध होती है वह उसी पर निवास बनाकर स्वयं को धन्य समझता है। हम भारतीयों की आस्थाएं इतनी गहरी व विस्तृत हैं कि भूमि चाहे जैसी क्यों न हो उस भूमि को माता मानकर भवन निर्माण कर अपना निवास स्थापित करते है। इसी आशा के साथ कि भूमि हमें सुख-चैन, उन्नति और विकास का द्वार देगी। अपने नवनिर्मित भवन के प्रति हमारा आत्म विश्वास भी हमें अनिष्ट से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है। परन्तु यदि छोटे घर में भी वास्तुशास्त्र के यथासम्भव नियमों के पालन का प्रयास किया जाय तो गृह में अधिक सुख-शान्ति एवं आध्यात्मिकता का अनुभव किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति ने अपनी भव्यता के कारण वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में भी अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया है। वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वास्तुकार भारतीय सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कला को रूपायित करते रहे हैं। भारत के भवन एशिया के अनेक देशों में आज भी चर्चा का विषय है जो भारत की सांस्कृतिक विरासत की पहचान है।

मानव भाग्य और वास्तु दोनों से प्रभावित होता है। मनुष्य वास्तु द्वारा सर्वथा भाग्य को नहीं बदल सकता परंतु जीवन में निर्विघ्नता ला सकता है। भारतीय वास्तुशास्त्र जहाँ एक ओर धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित है वहीं दूसरी ओर सौन्दर्य तथा आनन्द के तत्वों से परिपूर्ण भी है।

संदर्भ ग्रन्थ

शर्मा, श्रीराम, ऋग्वेद, युग निर्माण योजना ट्रस्ट, मथुरा, 2010
शर्मा, श्रीराम, यजुर्वेद, युग निर्माण योजना ट्रस्ट, मथुरा, 2010
दामोदर, सातवलेकर, श्री पाद, अथर्ववेद, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2010
झा, तरणीश, अग्निपुराणम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1998

नेष्ट द्वार

- पूर्वी आग्नेय में मुख्य द्वार - ईशान कोण से एक-दो भाग छोड़ कर निर्माण करायें।
- दक्षिण नैर्ऋत्य में मुख्य द्वार - दक्षिण में आग्नेय कोण से एक और भाग छोड़ कर निर्माण कराये।
- पश्चिमी नैर्ऋत्य में मुख्य द्वार - दो और भागों को छोड़ कर निर्माण कराये।
- उत्तरी वायव्य में मुख्य द्वार - वायव्य कोण से एक भाग छोड़ कर द्वार बनाना चाहिए।

वास्तुशास्त्र को ज्योतिष शास्त्र के एक रूप में भी स्वीकारा गया है। इसमें भी तिथि, वार, मुहूर्त व शुभ समय आदि का विशेष स्थान है। साथ ही मनुष्य की जन्मकुंडली उसकी राशि आदि के अनुसार भी निर्माण कराने सम्बन्धी जानकारी पायी जाती है।

वास्तु सम्बन्धी शोध

- महर्षि वैदिक आर्किटेक्ट कंसलटेंसी सर्विस के निदेशक एम. वेंकटेश्वरलू वास्तु विज्ञान को ही आज का आधुनिक विज्ञान मानते है। पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के मध्य में एक बड़ा चुम्बकीय क्षेत्र है। मनुष्य के रक्त का मुख्य तत्व लोहा है। लोहे का चुंबक से सीधा संबंध है। इसलिए दक्षिण दिशा के प्रवेशद्वार वाले भवन के निवासी के मस्तिष्क या हृदय की रक्त आपूर्ति पर प्रतिकूल असर होता है। रक्त कैंसर की संभावना रहती है। अमेरिकन शोधकत्ताओं का भी यही दृष्टिकोण है।
- पृथ्वी पर ऊर्जा का प्रभाव समान होता है। इसी में सकारात्मक व नकारात्मक ऊर्जा के बिन्दु ढूँढने होते हैं। शयनकक्ष व अध्ययनकक्ष सकारात्मक ऊर्जा केन्द्रों में होने चाहिए। कम्म सकारात्मक क्षेत्र में शौचालय होना चाहिए, क्योंकि यहाँ आदमी सबसे कम समय रहता है।
- वैदिक वास्तु अध्ययन पर अनेक वास्तुकारों ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि कोई स्थान बुरा नहीं होता, उसका प्रयोग करने की विधि बेहतर होनी चाहिए।
- वैदिक वास्तु शास्त्र आधुनिक विज्ञान पर आज भी खरा उतरता है। 3 सितंबर, 1995 के 'दैनिक आंध्र प्रभा' में प्रकाशित शीर्षक 'उत्तरी दिशा का सिराहना अरिष्टदायक है' में इसका उल्लेख है।
- बंगलौर के वैज्ञानिक एवं सांकेतिक शास्त्र संगठन तथा मद्रास के वी.एच.एस. स्वास्थ्य अनुसंधान केंद्र के संयुक्त शोध में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की पुष्टि हुई है कि उत्तरी दिशा में सिर करके सोने से चुंबकीय तरंगों का मस्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप व्यक्ति तनावग्रस्त एवं असंतुलित रहता है। जिसका प्रत्यक्ष परिणाम व्यक्ति के दैनिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाकलापों पर पड़ता है।

● महर्षि वैदिक विश्वविद्यालय में स्थापत्य वेद और वास्तु पर अनेक अनुसंधानों के पश्चात् यह पाया गया कि यूरोप और अमेरिका में भवनों के दक्षिण दिशा में बने प्रवेशद्वारों को बंद कर वास्तु सम्मत निर्माण के बाद परिवर्तन देखा गया।

● भारत सरकार के स्कूल ऑफ प्लानिंग एंड आर्किटेक्चर के वास्तु विभाग में अनुसंधान कार्य हो रहा है जो कि पूर्ववर्ती अनुसंधानों की सफल परिणति का प्रभाव है।

वर्तमान में वास्तुशास्त्र की प्रासंगिकता

अब मुख्य प्रश्न यह है कि आज के युग में वास्तु की क्या प्रासंगिकता है? सिद्धान्त और नियम वही प्रासङ्गिक है जो देश काल के अनुरूप हों। आज भवन निर्माण के माप दण्ड बदले हैं। नवीन तकनीकी एवं अभियांत्रिकी ने भवन निर्माण में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। मैं समझती हूँ कि वास्तु से उन 10 प्रतिशत लोगों को लाभ है जो सम्पन्न हैं। 90 प्रतिशत लोगों के लिये यह प्राथमिकता नहीं है, शहरों में भूमि उपलब्ध नहीं है, भूमि ही मुश्किल से उपलब्ध है। फिर भूमि चयन, भूमि का आकार, भूमि परीक्षण, भूमि का ढाल/उठाव, मार्ग व दिशा के अनुसार वर्गीकरण, वेध विचार आदि का विचार सम्भव नहीं दिखता है। जिसे जहाँ जो भूमि उपलब्ध होती है वह उसी पर निवास बनाकर स्वयं को धन्य समझता है। हम भारतीयों की आस्थाएं इतनी गहरी व विस्तृत हैं कि भूमि चाहे जैसी क्यों न हो उस भूमि को माता मानकर भवन निर्माण कर अपना निवास स्थापित करते है। इसी आशा के साथ कि भूमि हमें सुख-चैन, उन्नति और विकास का द्वार देगी। अपने नवनिर्मित भवन के प्रति हमारा आत्म विश्वास भी हमें अनिष्ट से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है। परन्तु यदि छोटे घर में भी वास्तुशास्त्र के यथासम्भव नियमों के पालन का प्रयास किया जाय तो गृह में अधिक सुख-शान्ति एवं आध्यात्मिकता का अनुभव किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति ने अपनी भव्यता के कारण वास्तुशास्त्र के क्षेत्र में भी अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया है। वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वास्तुकार भारतीय सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कला को रूपायित करते रहे हैं। भारत के भवन एशिया के अनेक देशों में आज भी चर्चा का विषय है जो भारत की सांस्कृतिक विरासत की पहचान है।

मानव भाग्य और वास्तु दोनों से प्रभावित होता है। मनुष्य वास्तु द्वारा सर्वथा भाग्य को नहीं बदल सकता परंतु जीवन में निर्विघ्नता ला सकता है। भारतीय वास्तुशास्त्र जहाँ एक ओर धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित है वहीं दूसरी ओर सौन्दर्य तथा आनन्द के तत्वों से परिपूर्ण भी है।

संदर्भ ग्रन्थ

शर्मा, श्रीराम, ऋग्वेद, युग निर्माण योजना ट्रस्ट, मथुरा, 2010

शर्मा, श्रीराम, यजुर्वेद, युग निर्माण योजना ट्रस्ट, मथुरा, 2010

दामोदर, सातवलेकर, श्री पाद, अथर्ववेद, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 2010

झा, तरणीश, अग्निपुराणम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1998

उपाध्याय, बाबूराम, भविष्य पुराण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1998

त्रिपाठी, राम, प्रताप, मत्स्य पुराण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1998

उपाध्याय, गंगा, प्रसाद, शतपथ ब्राह्मणगोविन्द राम हासानन्द, वाराणसी, 2010

चौधरी, आशा, सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र, पी. एम. पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2014

गोयल, पवनके, भारतीय वास्तुशास्त्र, सतसाहित्य प्रकाशन, दिल्ली,

बाजपेयी,कृष्णदत्त, भारतीय वास्तुकला का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ

पाण्डेय, प्रकाश, भारतीय स्थापत्य का परिचय, वागर्थ प्रकाशन, नागपुर

तिवारी, अभय, ज्योतिष व काल निर्णयनिवेदिता प्रकाशन, मेरठ

भट्टाचार्य, तारापद, ए स्टडी ऑन वास्तुविद्या

आधुनिक भवन निर्माण के संदर्भ में वास्तुशास्त्र

पीयूष दवे

वेदों में एक वाक्य कहा गया है-

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात् सब लोग सुखी हों, स्वस्थ हों, समृद्ध हों। इस प्रकार वेदों में विश्व के जनकल्याण की कामना की गयी है।

एक समय था जब भारत की सभ्यता और संस्कृति की पताका विश्व में लहराती थी। वह भारत का स्वर्णिम काल था। तब कला, खगोल विज्ञान, भवन निर्माण, गणित, स्थापत्य कला इत्यादि में भारत का कोई सानी नहीं था। चाहे वो सदियों पुरानी मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता हो या आर्यभट्ट या वराहमिहिर का विज्ञान या पतंजलि का योगसूत्र या पाणिनी का व्याकरण। चाहे भारत की महान् आध्यात्मिक परंपरा से जुड़ी हुई मदुरई की गगनचुम्बी मंदिर की शिखाएं या शुभ्रश्वेत रजत रंजित अनेकानेक गुम्बद या मीनारें। एक ओर सूदूर दक्षिण में समुद्र किनारे बने महाबलिपुरम् के मंदिर उस समय की सभ्यता और संस्कृति की कहानी बता रहे हैं, वहीं बोधगया के बोधिमंदिर आज भी भारत के चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त और सम्राट अशोक की संस्कृति की कीर्तिगाथा कह रहे हैं, लेकिन बीच में एक अन्तराल ऐसा भी आया जब ये दीप यद्यपि पूर्ण निर्वापित तो नहीं हुआ परन्तु इसका प्रकाश कुछ धीमा अवश्य पड़ गया, परन्तु आज ये दीप पूर्ण प्रदीप्तता के साथ प्रज्वलित है। आज भारत पश्चिमी सभ्यता की ओर अवलम्बित नहीं है। गौरवमय अतीत की तरह आज के भारत के वैज्ञानिक, शिल्पकार, वास्तुकार, अभियांत्रिक तथा अन्य कार्यकलापों के मनीषी, किसी से कम नहीं हैं। बस कमी है तो एक जुट होकर अनुसंधान तथा ज्ञान को विकीर्ण करने की।

मानव जीवन को सुखमय तथा सफलतम बनाने की दिशा में ''सर्वे च सुखिनः सन्तु'' का सिद्धान्त पटल पर रखते हुए हमारे आचार्यों द्वारा, वास्तुशास्त्र का अन्वेषण किया गया। वास्तुशास्त्र विश्व को भारत की देन है। ये एक विज्ञान है जिसका बहुत ही गहराई से अध्ययन किया गया था। प्राचीन समय में जब भारत स्वर्णिम युग के प्रवाह में अग्रसारित हो रहा था तब ये विज्ञान बहुत अधिक विकसित हुआ था तथा इसके अनेकानेक प्रभावों का विस्तार से अध्ययन किया गया था।

दिशाओं का प्रभाव, सूर्य की किरणों का प्रभाव, वायु का प्रभाव, आकाश का प्रभाव, मेघों का तथा वृष्टि का प्रभाव, समुद्र से उठने वाली लहरें तथा उससे आन्दोलित हुयी वायु का प्रभाव, ये सभी गहराई से अध्ययन के विषय हैं। पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति से सभी परिचित है। वास्तुशास्त्र पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति तथा उसके प्रभावों से भी अवगत कराता है। मनुष्य को किस दिशा में शयन करना चाहिये, किस दिशा में घर तथा कार्यालय में किस प्रकार बैठना चाहिये तथा कहाँ अध्ययनकक्ष होना चाहिये या कार्यकलाप करना चाहिये, ये सभी वास्तुशास्त्र में विस्तार से दिये जाते हैं। वास्तुशास्त्र बहुत ही गहराई का विषय है तथा इस विषय में अनेकानेक शोध किये गये हैं लेकिन अभी भी बहुत कार्य होना बाकी है।

विश्व 5 महाभूतों से मिलकर बना है– भूमि, जल, वायु, अग्नि और आकाश। वास्तुशास्त्र में इनका अध्ययन किया जाता है।

भूमि–पृथ्वी की दिशा, गुरुत्वाकर्षण, चुम्बकीय तल, उत्तर दक्षिण ध्रुव (पोल), पृथ्वी द्वारा सूर्य का चक्कर लगाना।

जल–वर्षा, समुद्र व नदियों का उतार–चढ़ाव, अमावस्या व पूर्णिमा को समुद्र जल में विक्षोभ परिवर्तन, पृथ्वी व समस्त पशु–पक्षियों व वनस्पतियों पर प्रभाव तथा साथ–साथ आक्सीजन का प्राणियों पर प्रभाव जो श्वास के साथ शरीर में प्रवेश करता है।

वायु–जीवन का आधार है वायु। वायु अपनी आर्द्रता, सर्द–गर्म होना, प्रवाह, दबाव इत्यादि विभिन्न तत्त्वों के साथ समस्त जीवन को प्रभावित करता है।

अग्नि–प्रकाश का प्रतीक है तथा दिन व रात का प्रभावशाली पदार्थ है। अग्नि की रेडियो एक्टिविटी, शारीरिक शिथिलता तथा उत्तेजना में महत्वपूर्ण भूमिका है।

आकाश (Space)–ऊर्जा का प्राथमिक स्रोत है, प्रकाश का प्रभाव मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करता है? ये सभी शोध विषय हैं।

वास्तुशास्त्र के अनुसार इन 5 महाभूतों का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है तथा भवन निर्माण में भी इनके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। उसी के अनुसार दिशा निर्देश दिये जाते हैं। भूकम्प और चक्रवात के प्रभाव का भी अध्ययन किया जाता है।

मनुष्य आज प्रकृति से दूर होता जा रहा है। विभिन्न शहरों के विकास के साथ उन्हें कंक्रीट के जंगल चारों ओर से घेरे हुए है। Modern Architecture (आधुनिक वास्तुकला) में भी आधुनिक समय में नये–नये प्रयोग किये गये हैं कि कैसे विभिन्न अप्राकृतिक तरीकों से सुख सुविधाएं प्राप्त हो सके? भवन निर्माण में भी नये नये प्रयोग किये गये। नये नये भवन निर्माण सामग्री पर अनुसंधान किये गये तथा नयी–नयी तकनीकी विकसित की गयी ताकि सुविधाजनक गृहों, भवनों तथा अन्य बिल्डिंगों का निर्माण किया जा सके। अमेरिका तथा जर्मनी में फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात् एवं प्रथम विश्व युद्ध के बाद ये विकसित हुई।

प्रबलित कंक्रीट (Rainforced concreete) के रूप में एक सामग्री विकसित की गयी जिसे किसी भी रूप में तोड़ा मोड़ा जा सकता था तथा अनेकानेक स्वरूप में विकसित किया जा सकता था। बस यही से modern architecture युग का सूत्रपात हुआ। आधुनिक वास्तुशास्त्र आगे तो बढ़ा। नयी नयी विशाल इमारतों का, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं का विकास तो हुआ परन्तु हम प्रकृति से दूर होते चले गये। मानव प्रकृति का ही एक अंग है तथा उससे दूर होने का अर्थ है अनेक शारीरिक तथा मानसिक रोगों का जन्म होना। आज का मनुष्य चाहे वो भारत का हो, अमेरिका का हो, इंग्लैंड का हो या आस्ट्रेलिया का प्राय: लोग शारीरिक तथा मानसिक रोग से ग्रसित हैं। आधुनिक विज्ञान ने पहले तो मनुष्य को प्रकृति से दूर किया। फिर रोग होने के बाद उनके समाधान के लिये अनुसंधान किया। नये नये प्रयोग किये जा रहे हैं। औषधि में नोबेल पुरस्कार दिये गये। क्यों न मनुष्य प्रकृति के समीप ही रहे? ताकि रोगों का जन्म न हो। प्राचीन समय में मनुष्य सौ साल जीता था। 'जीवेम शरद: शतम्' क्योंकि वो प्रकृति के नियमों के अनुसार चलता था। धीरे धीरे समय के साथ मनुष्य शहरी संस्कृति में रच बस गया और प्रकृति से दूर जाता रहा। मानव मानसिक एव शारीरिक रोगों का शिकार बना। धीरे धीरे अब ये बात समझ में आ गयी हैं कि वास्तुशास्त्र द्वारा अनेकानेक उपायों से प्रकृति के समीप आया जा सकता है। सौर ऊर्जा तथा भू ऊर्जा को समुचित उपयोग में लाया जा सकता है तथा रोगों से बचा जा सकता है।

भवन निर्माण में मुख्यत: 10 समादेश (Commandment) उल्लेखित है–

1. मुख्य रूप से पानी का स्रोत पूर्वोत्तर NE दिशा में होना चाहिए।

2. रसोई, जनरेटर का कमरा, भट्टी या बायलर दक्षिण-पूर्व SE की तरफ होना चाहिए।

3. अतिथि कक्ष, भंडार गृह या बच्चों का शयनकक्ष उत्तर-पश्चिम दिशा NW में होना चाहिए।

4. मुख्य शयनकक्ष, मुख्य कार्यपालक अधिकारी का कार्यालय दक्षिण-पश्चिम दिशा SW की ओर होना चाहिए।

5. बीच का हिस्सा हल्का तथा हवादार होना चाहिए।

6. दक्षिण एवं पश्चिम दिशा की अपेक्षा उत्तर एवं पूर्व दिशा में ज्यादा खुलापन होना चाहिए।

7. दक्षिण एवं पश्चिम दिशा में उत्तर एवं पूर्व दिशा की अपेक्षा से अधिक तल होने चाहिए।

8. दक्षिण एवं पश्चिम दिशा की चारदीवारी उत्तर एवं पूर्व दिशा की चार दीवारी से ऊँची होनी चाहिए।

9. मुख्य द्वार उत्तर एवं पूर्व दिशा में होना चाहिए।

10. सोते समय सिर दक्षिण दिशा की ओर होना चाहिए।

यदि हम प्राचीन काल की बात करें तो मिश्र के पिरामिड एक अध्ययन का विषय है। विश्व में अनेकों शोध पिरामिड को लेकर हुये हैं। भारत में भी किये गये अनुसन्धानों में से एक मेरे संज्ञान में है। पिरामिड के आकार का एक छोटा प्रारूप बनाया गया तथा उसी कोण पर रखा गया तो देखा गया कि उसके अंदर रखा हुआ भोजन अनेक दिनों तक खराब नहीं होता। ये होता है पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का तथा सूर्य की रश्मियों का प्रभाव। इसका अर्थ ये हुआ कि कहीं न कहीं पिरामिड भी वास्तु के आधार पर ही बनाये गये थे तथा उनके अंदर रखी हुई ममी भी बहुत दिनों तक खराब नहीं होती थी। इसी तरह वास्तु के हिसाब से भारत के प्राचीन भवनों तथा मन्दिर इत्यादि का निर्माण किया गया।

मनुष्य जितना प्रकृति के समीप रहता है उतना ही स्वस्थ तथा प्रसन्न रहता है। वास्तुशास्त्र मनुष्य को प्रकृति के समीप ले जाने का एक मार्ग है, जो कि वैदिक काल में ही भारत के मनीषियों ने खोज लिया था। ये एक विज्ञान है जो मनुष्य को रोग मुक्त कर सकता है। स्वस्थ मानव से स्वस्थ राष्ट्र का तथा स्वस्थ संस्कृति का विकास होता है। इसी विकास की पिपासा में भारत के मनीषी सदियों से लगे रहे। तभी समस्त विश्व के जनसमुदाय के स्वस्थ, निरोग तथा प्रसन्न होने की परिकल्पना की गई थी जिससे मानवता का कल्याण हो सके।

ज्योतिषशास्त्र और वास्तुशास्त्रीय चिन्तन

डॉ. फणीन्द्र कुमार चौधरी

वास्तुशास्त्र की मान्यता प्राचीन काल से ही रही है। वास्तु का प्रभाव प्रत्येक प्राणी पर प्रभावी है। भगवान् विश्वकर्मा एवं मय आदि के द्वारा निर्मित पुर-भवनादिकों का वर्णन महाभारतादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, जो क्रमशः उत्तर भारतीय नागर शैली एवं दक्षिण भारतीय द्राविड शैली के प्रवर्तक माने जाते हैं। वास्तुशास्त्र के अष्टादश प्रवर्तकों में भी दोनों आचार्यों का नाम उल्लिखित है। वस्तुतः भोजन एवं वस्त्र की आवश्यकता पूर्ति होने के पश्चात् सुरक्षा, सुख-शान्ति की प्राप्ति एवं बाह्य प्रकोपों से बचने के लिए मनुष्य गृहनिर्माण करते हैं। गृह वास्तु के अन्तर्गत उन देवों के निवास स्थान परिकल्पित किये गये हैं। इसके लिए गृह में रहकर उनकी उपासना का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए क्योंकि पञ्चचत्वारिंशद् (45) देवता अपने प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फलप्रदायक होते हैं। इसी कारण वास्तु में वास्तुपदविन्यास के अनुसार देवप्रकृतिवशात् कक्षों एवं वस्तुओं का विन्यास किया जाता है। प्राचीन काल से ही गृहनिर्माण का मुख्य उद्देश्य था-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्।
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुधर्मापहम्॥
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥[1]

परमब्रह्म ने जगत् की सृष्टि के लिए ब्रह्मा को बनाया। इसके बाद सब लोकों के पितामह ब्रह्मा को श्रेष्ठ वेदों को देकर और इन्हें अण्डे के बीच स्थापित करके अनिरुद्ध भगवान स्वयं लोकों को प्रकाशित करते हुए भ्रमण करते हैं। इसके पश्चात् अहंकार मूर्तिधारी ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना करने का विचार किया। ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा और नेत्रों से सूर्य उत्पन्न हुए। मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी इस प्रकार पाँच महाभूत क्रम से एक-एक गुण की वृद्धि से उत्पन्न हुए। यथा-

अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माऽहंकारमूर्तिरभूत्।
मनश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णोस्तेजसां निधिः॥
मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धरा क्रमात्।
गुणैकवृद्ध्या पञ्चेति महाभूतानि जज्ञिरे॥[2]

1. बृ. वा. मा. 1.4
2. सू.सि.भू.अ.श्लो. 22-23

अग्निस्वरूप सूर्य और सोम स्वरूप चन्द्रमा की उत्पत्ति के बाद तेज अर्थात् अग्नि से मंगल, पृथ्वी से बुध, आकाश से बृहस्पति, जल से शुक्र और वायु से शनि उत्पन्न हुए। यथा–

अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः।
तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे।।[3]

इसके पश्चात् परमात्मा ने श्रेष्ठ, मध्यम और अधम स्त्रोतों से सत्व, रज और तम विभेदात्मक प्रकृति का निर्माण करके देवता, मनुष्य, राक्षस आदि चराचर विश्व की रचना की। यथा–

ततश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकम्।
ऊर्ध्वमध्याधरेभ्योऽथ स्त्रोतोभ्यः प्रकृतीः सृजन्।।
गुणकर्मविभागेन सृष्ट्वा प्राग्वदनुक्रमात्।
विभागं कल्पयामास यथास्वं वेददर्शनात्।।
ग्रहनक्षत्रताराणां भूमेर्विश्वस्य वा विभुः।
देवासुरमनुष्याणां सिद्धानां च यथाक्रमम्।।[4]

जहाँ हम रहना चाहते हैं, वहाँ शरीर, मन, कर्म, वचनादियों से वासुदेव के शरण में वस जाने से है। सभी कुछ वासुदेवमय है। **"वसति विश्वमखिलमस्मिन्निति" वा विश्वस्मिन्नखिले वसतीति वासुः।** इस चराचर गतिमान् संसार में क्षणभंगुर जीवधारी प्राणी सदैव भयग्रस्त रहते हैं। किसी को धन की कमी का भय रहता है, तो किसी को धनाधिक के कारण चोर, डाकू आदि का भय होता है। कुछ लोग रोग के भय से भयभीत रहते हैं। अतः भवन होना परम अनिवार्य है जिससे इन भयों से अपने आपको सुरक्षित अनुभव कर सकें। इसके लिए भवन निर्माण हेतु वास्तु के सिद्धान्तों को अपनाया जाता है। वास्तु निर्माण के लिए ज्योतिषशास्त्र के अनुरूप मुहूर्त्त तथा वास्तु के अनुसार इसके बनाने की विधि को प्रयोग में लाया जाता है।

वास्तुशास्त्र के अनुसार मन, हृदय एवं शरीर जहाँ प्रसन्नता पूर्वक वस जाएँ वह वास्तु उत्तमोत्तम है। इसके लिए स्थान, विधान, सज्जा ये तीन बातें प्रमुख माने जाते हैं। **स्थान** से अभिप्राय यहाँ वास्तु के तीन भेदों आवासीय, धार्मिक तथा व्यावसायिक रूपों से है।

1. आवासीय वास्तु– जहाँ जलवायु की अनुकूलता तथा जीवनोपयोगी जमीन हो, अर्थात् जिस जमीन पर अन्न, फल, साग–सब्जी एवं वनौषधि आसानी से उग जाए, वह स्थान आवासीय वास्तु के लिए उत्तम कहा गया है।

---

3. सू.सि.भू.अ.श्लो. 24
4. सू.सि.भू.अ.श्लो. 26–28

2. आध्यात्मिक वास्तु– इसका तात्पर्य मन्दिर, धर्मशाला आदि से है। इसके लिए गाँव/नगर का एकान्त व पवित्र स्थान उपयुक्त माना जाता है। साधना स्थान प्रायः एकान्त में ही होते हैं।

3. व्यावसायिक वास्तु– इसके लिए सर्वप्रथम जनसंख्या अपेक्षित है। बिना इसके कोई भी कार्य सम्भव नहीं है चाहे कृषिकार्य हो अथवा कल-कारखानें। अतः वहाँ का सामाजिक परिवेश पर ध्यान देना परमावश्यक है।

स्थान के बाद **विधान** शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् तीनों प्रकार के वास्तुओं का निर्माण कैसे किया जाए? इसके लिए उचित दिशा का निर्धारण प्रकृति के अनुरूप किया जाता है। अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति में जो अनुकूलत्व प्रदान करें तदनुरूप न्यास करने की विधा को ही विधान कहते हैं।

साजसज्जा–

वास्तु में कौन सा समान कहाँ लगाया जाए? जिससे उसकी शोभा व सुन्दरता बढ़ जाए। दूसरे लोग जब घर आएँ तो उनको भी अच्छा लगे। इस हेतु गृहसज्जा का भी अत्यधिक महत्व है, परन्तु गृहसज्जा में भी पृथिवी, जल, अग्नि, वायु व आकाश इन चुम्बकीय आकर्षणादि शक्तियों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। साथ ही पञ्चचत्वारिंशद् देवों के स्थान, ब्रह्मस्थान, मर्म, अतिमर्मादि स्थानों का विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त सभी वास्तु सम्बन्धी स्थान, विधान व सज्जा शुभकाल में करना चाहिए। काल स्वयं ही ब्रह्म है। परन्तु शुभाशुभ रूप में विभक्त काल शुभाशुभ फलप्रदायी भी होता है। उस कालरूपी ब्रह्म का चिन्तन वेदांग ज्योतिषशास्त्र द्वारा किया गया है। काल अनन्त एवं अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है परन्तु व्यवहार को चलाने तथा समय के महत्त्व को समझने के लिए दैवज्ञों ने काल की छोटी इकाई प्राण से लेकर प्रलयान्त काल तक की गणना की है।

काल का प्रभाव समष्टिगत तथा व्यष्टिगत दोनों प्रकार से होता है। समष्टिगत प्रभाव सम्पूर्ण समाज, प्रान्त, देश एवं विश्व को प्रभावित करता है। जिसका वर्णन संहिता ग्रन्थों में प्राप्त होता है। व्यष्टिगत फल-मानव को व्यक्तिगत रूप से प्रभावित करता है। जिसका वर्णन जातक ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। काल की गणना नवग्रह द्वारा प्रतिपादित करते हैं। नवग्रह का पदार्थ प्रकृति तथा शरीर में प्रतिष्ठित है। कहा भी गया है कि **"यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"** अर्थात् जो शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। जो ब्रह्माण्ड में है वही शरीर में भी है। अतः ज्योतिशास्त्र में प्रकृति की आत्मा सूर्य व चन्द्रमा को मन कहा गया है। मंगल अग्नि तत्त्व, बुध पृथ्वी तत्त्व, गुरु आकाश तत्त्व, शुक्र जल तत्त्व एवं शनि वायु तत्त्व का कारक ग्रह माना गया है। कालपुरुष को अपनी व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रकार से भी विभाजित किया गया है। यथा– कालपुरुष का सूर्य-आत्मा

है, चन्द्रमा मन, मंगल बल, बुध वाणी, गुरु ज्ञान, शुक्र सुख, शनि दुःख व राहु मद का द्योतक बताया गया है। यथा–

"आत्मा रविः शीतकरस्तु चेतः सत्त्वं धराजः शशिजोऽथ वाणी।
गुरुः सितो ज्ञानसुखे मदश्च राहुः शनिः कालनरस्य दुःखम्।।[5]

फल विवेचन हेतु व्यवहारिक दृष्टि से ग्रहों के प्रभावानुसार फलित ज्योतिष में ग्रहों को पदाधिकारी के रूप में अभिव्यक्त किया गया है यथा–

राजा रविः शशधरस्तु बुधः कुमारः सेनापतिक्षितिसुतः सचिवौ सितेज्यौ।
भृत्यस्ततश्च रविजः सबला नराणां कुर्वन्ति जन्मसमये निजमेव रूपम्।।[6]

इस प्रकार प्रकृति में ग्रहादिकों का जो प्रभाव है वह निश्चित रूप से मनुष्य तथा उसके आवास पर भी पड़ता है। अतः ज्योतिष वास्तुशास्त्र का महत्वपूर्ण सहायक है। अतः वेदीनिर्माण, गृहनिर्माण, ग्राम/नगर विन्यास, जलाशय वास्तु, मन्दिर निर्माण आदि सभी वास्तुकृत्यों में शुभ मुहूर्त्त की आवश्यकता होती है जिसका ज्योतिषशास्त्र में विधिवत् विचार किया गया है। मुहूर्तविषयक मुहूर्त्तचिन्तामणि ग्रन्थ में वास्तु प्रकरण एक व्यवस्थित अध्याय के रूप में है, वहाँ काकिणी विचार एक अद्भुत ग्रामवास जानने की विधि है। गृहनिर्माण में वृषवास्तुचक्र का विचार किया जाता है। इसमें सूर्यनक्षत्र से वर्तमान दिन के चन्द्रनक्षत्र तक का विचार प्रकृति के समयानुरूप किया जाता है। यथा–

गेहाद्यारम्भेऽर्कभाद्वत्सशीर्षे रामैर्दाहो वेदभैरग्रपादे।
शून्यं वेदैः पृष्ठपादे स्थिरत्वं रामैः पृष्ठे श्रीयुगैर्दक्षकुक्षौ।।
लाभो रामैः पुच्छगैः स्वामिनाशो वेदैर्नैःस्वं वामकुक्षौ मुखस्थे।
रामैः पीडा सन्ततं चार्कधिष्ण्यादश्वै रुद्रैर्दिग्भिरुक्तं ह्यसत्सत्।।[7]

सूर्य के नक्षत्र से गृहारम्भ के दिन के चन्द्रनक्षत्र तक की गणनानुसार क्रम से फल का विधान इस चक्र से जान सकते हैं। यहाँ अभिजित् नक्षत्र सहित गणना है।

गृहप्रवेश में कलशवास्तुचक्र का विचार किया गया है। यहाँ पर भी सूर्य नक्षत्र से गृहप्रवेश दिन के चन्द्र नक्षत्र तक की गणना के अनुसार गृहस्वामी के लिए शुभ एवं फल का निर्णय दिया गया है यथा–

वक्त्रे भूरविभात्प्रवेशसमये कुम्भेऽग्निदाहः कृताः,
प्राच्यामुद्वसनं कृता यमगता लाभः कृतः पश्चिमे।

5. सारावली 4.1
6. सा.व. ग्र. स्व. अ.
7. मु.चि.वा.प्र.श्लो. 13–14

श्रीर्वेदाः कलिरुत्तरे युगमिता गर्भे विनाशो गुदे,
रामाः स्थैर्यमतः स्थिरत्वमनलाः कण्ठे भवेत्सर्वदा॥[8]

मानव अपने जीवन में सुख, शान्ति, बल, धन, ज्ञान, यश, पराक्रम आदि इच्छित फल प्राप्त करना चाहता है, परन्तु सभी को इच्छित फल नहीं मिलता है। व्यक्ति अपना प्रयत्न जारी रखता है, फिर भी असफल रहता है। इस स्थिति में ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र का सहयोग उसे सुखमय जीवन प्राप्त कराने में महत्वपूर्ण है।

सार रूप में कह सकते हैं कि काल प्रथम है। कालोपरान्त जीव की सत्ता हुई और जीव में भी मानव के अच्छे बुरे कर्म के निर्णय में ईश्वर को साक्षी मानकर वह जगत् को आगे बढ़ाने हेतु अग्रसर हुआ। अतः काल के साथ वास्तुशास्त्र का उद्भव एवं विकास हुआ। वास्तु में शिलान्यास, गृहारम्भ, गृहप्रवेश आदि का विचार कालाधीन है। ज्योतिष शास्त्र में वास्तु चिन्तन स्वतः ही प्रकट है।

वस्तुतः भगवान् का वास्तु सृष्टि निर्माण है जिसमें परब्रह्म परमेश्वर द्वारा सबसे पहले ग्रह नक्षत्रों का निर्माण हुआ। उसके बाद देव दैत्यादियों का जन्म हुआ। भगवान की सृष्टि रूपी वास्तु को जानने के लिए भी ज्योतिष शास्त्र व वास्तुशास्त्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

---

8. मु.चि.गृ.प्रवेश प्र.श्लो. 6

पर्यावरण-शुद्धिकरण में वास्तु की भूमिका- "वृक्ष-विन्यास के सन्दर्भ में"

डॉ. देशबन्धु, नवीन पाण्डेय

धत्ते भरं कुसुमपत्र-फलावलीनां धर्मान्यथां वहति शीत-भवा रुजश्च।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्य गुरवे तरवे नमोऽस्तु।।[1]

"यतोऽभ्युदयो निश्रेयस्‌सिद्धिः स धर्मः[2]**"** वैशेषिकदर्शन में धर्म की व्याख्या करते हुए मानव के लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय की सिद्धि जिस साधन से हो, उसे ही धर्म कहा गया हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म केवल शरीर को यातनाएँ देकर उस परमेश्वर के चिन्तन में रत रहने का ही विषय मात्र नहीं है, अपितु इस संसार में रहते हुए गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त कर गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास की यात्रा के पथिक बन मोक्षमार्ग पर अग्रसर होना धर्म है। हमारे ऋषियों ने मानव-मात्र को सांसारिक अभ्युदय का भी उपदेश किया है। आमोद-प्रमोद, खान-पान, परिधान, अलङ्करण और रहन-सहन के साधन जितने प्रचुर हों, सुलभ हों, उतने ही अभ्युदय के द्योतक हैं। जब तक मानव जंगलो में, पर्वतों की कन्दराओं में निवास करता था, तब तक मानव जंगली और असभ्य कहा जाता था। जिस दिन से मानव ने भव्य घरों और नगरों का निर्माणारम्भ किया, उसी दिन से मानव सभ्य कहलाने लगा और भारत के इस सभ्य समाज की विशेषता यह है कि भारतीयों ने अपने हर कृत्य को सदैव ही धर्म से अनुप्राणित रखा है। भारत का एक भी शास्त्र तथा एक भी कला ऐसी नहीं है जिसके मूल में देवत्व की भावना न हो। इसका प्रमाण नृत्य-कला मे नटराज शिव, संगीतकला मे नाद-ब्रह्म, आलेख्य कर्म में जगन्नाथ के पट्ट-चित्र और वास्तुकला में वास्तुब्रह्म के रूप में प्राप्त होते हैं। भारतीय ऋषियों ने अपनी मूल-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति में भी प्रकृति को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए प्रकृति के संरक्षण को प्राथमिक स्तर पर रखा। वेद के ऋषियों ने प्रकृति में ही देव-दर्शन करते हुए सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि, मेघ, पर्वत, नदी इत्यादि अनेक प्राकृतिक तत्त्वों की स्तुति की। वैदिक ऋषियों के मन में उद्भूत यही भावना हमें वेदोत्तर साहित्य में भी और सम्पूर्ण वाङ्मय में भी दिखाई देती है। कालिदास के यक्ष की संवेदनशीलता मेघ के साथ उसके संवादो में दिखाई देती है। प्रकृति तथा मानव का यह सम्बन्ध हमें प्राच्य विज्ञान की प्रत्येक शाखा में दृष्टिगोचर होता

1. भामिनी विलासम्-1
2. वैशेषिकसूत्र-1.2

है। इसी प्राच्य विज्ञान में अन्यतम वास्तुविज्ञान अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्य वेद के रूप मे परिगणित है। ज्योतिष वेदाङ्ग के संहितास्कन्धान्तर्गत तथा कल्पवेदाङ्ग के शुल्वसूत्रों में वास्तुविज्ञान का विकसित स्वरूप हमें दिखाई देता है। वास्तुविज्ञान में भवन निर्माण के विविध पक्षों पर चर्चा मिलती है। भवन के विविध दिशाओं और विदिशाओं में अनेक प्रकार के वृक्षों के विन्यास और उन वृक्षों के गुण-धर्मों पर प्रस्तुत लेख में प्रकाश डाला गया है। दिशा भेद से विविध वृक्षों का रोपण उनके सर्वाधिक तथा समुचित लाभ के लिए किस प्रकार किया जाए? इसको जानने से पहले वृक्षों के महत्त्व पर कुछ चर्चा करते हैं।

वृक्ष तथा उनका महत्त्व-

भारतीय संस्कृति में **"एक एव आत्मा सर्वभूतेषु गूढः[3]"** की भावना हमें दृष्टिगोचर होती है। ईश्वर का ही अंश इस सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है और यह ईश्वरीय अंश वृक्षों में भी विद्यमान है। इसलिए ही भारतीय संस्कृति में वृक्षों में भी देवत्व की कल्पना की गई है। हम वृक्षारोपण को एक धार्मिक कार्य मानते हैं। बृहत्संहिता में निर्दिष्ट है कि- वृक्ष लगाने से पहले व्यक्ति स्नान करके पवित्र होकर चन्दन आदि से वृक्ष की पूजा करे, फिर एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाये। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के पूर्व घृत, तिल शहद, दूध, गोबर इन सबको पीसकर मूल से लेकर अग्रपर्यन्त लेपकर वृक्ष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं। ऐसा करने से पत्तों से युक्त वृक्ष पुष्पित और पल्लवित होता है। दुर्गासप्तशती में वृक्षों का महत्व बताते हुए कहा गया है कि-

यावद् भूमण्डलं धत्ते सशैलवनकाननम्।
तावत् तिष्ठति मेदिन्यां सन्ततिः पुत्रपौत्रिकी।।[4]

और भी-

प्रकृतेस्तथोपयोग कार्यो मनुजैर्यथा न सा विकृता स्यात्।
प्रकृतौ सुरक्षितायां संसारोऽयं सुरक्षितस्सुखदः स्यात्।।[5]

एक छोटा बीज धीरे-धीरे एक विशाल वृक्ष में परिणत हो जाता है और उस पर विविध शाखाएँ , पत्ते, फूल और फल शोभायमान होने लगते हैं। इस विश्व के सम्पूर्ण प्राणी अपनी विविध प्रकार की आवशकताओं की पूर्ति के लिए वृक्ष का उपयोग करते हैं और वृक्ष परोपकार और विनम्रता की शिक्षा देते हुए मानव-मात्र के लिए सर्वस्व प्रदान करता है। जैसा कि कहा गया है-

निजहिताय फलन्ति न वृक्षकाः[6]

---

3. श्वेताश्वेतरोपनिषद्-
4. दुर्गाशप्तशती, देवी कवच श्लोक 54
5. राधाचरितम्-13-52

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः।।[7]

प्राचीन भारतीय सभ्यता तो सम्पूर्ण रूप से वृक्षों पर ही आश्रित थी। वृक्षों की लकडी का प्रयोग भारतीय गृहनिर्माण में करते थे। वृक्षों के पत्ते वल्कल वस्त्रों के रूप में प्रयुक्त होते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय नारियां भी विविध सौन्दर्य प्रसाधनों के लिए वृक्षों पर ही आश्रित थी। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कहा है कि शकुन्तला को किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के तुल्य श्वेत माङ्गलिक रेशमी वस्त्र, किसी ने पैरों को रंगने के लिए लाक्षारस, किसी वृक्ष ने कलाई तक उठे हुए सुन्दर कलियों की प्रतिस्पर्धा करने वाले आभूषण दिए। यथा-

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।।[8]

इसी प्रकार से कालिदास ने मेघदूत में अलकानगरी की स्त्रियों का वर्णन करते हुए कहा है कि अलकापुरी वधुओं के हाथ मे लीला कमल, कुन्तल केशों में नवकुन्द मुख पर लोध्रपुष्प के परागकणों से शुभ कान्ति की गई, जूड़े में नवीन कुरबक, कानों मे शिरीष के पुष्प और मांग में कदम्ब के फूल है।

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धम्।
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारुकर्णे शिरीषं।
सीमान्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।।[9]

इस प्रकार से भारतीय परम्परा में आरम्भ से ही वृक्षों की प्राणीमात्र के साथ पारस्परिकता दिखाई देती है। हमारी जनश्रुतियों, लोक-विश्वासों और साहित्य में वृक्षों को अपार स्नेह और श्रद्धाभाव से देखा गया है। पूजा के लिए फलों, विल्वपत्रों, आम्रपत्रों, दूर्वा, कुश, चन्दन, समिधा आदि का प्रयोग सामान्य सी बात है। हमने ग्रहों के साथ, देवी-देवताओं के साथ वृक्षों को जोड़ा है। कृष्ण का नाम आते ही कदम्ब का स्मरण हो आता है। अशोक को कामदेव का वृक्ष माना जाता है। जनश्रुति है कि वह सुन्दरियों के पाद प्रहार से खिलता है। कमल का सम्बन्ध विष्णु, ब्रह्मा और वाग्देवी से है। बिल्वपत्र का सम्बन्ध शिव से है। पीपल के पेड़ पर यक्ष का वास माना जाता है। तुलसी को तो विष्णुपत्नी के रूप में मान्यता प्राप्त है। वृक्षों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए स्वयं कृष्ण ने गीता मे बहुमूल्य रत्नों के स्थान पर पत्र-पुष्प-फल की कामना करते हुए कहा[10]- "पत्रं

6. वामनचरितम्-19.30
7. नीतिशतकम्-62
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-4/5
9. मेघदूतम् उत्तर-2 श्लोक 68
10. श्रीमद्भागवत गीता-9/26

पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति"।

इसी प्रकार से वृक्षों के महत्त्व को जानकर ऋषियों ने अनेक संस्थानों में वृक्षारोपण की चर्चा की है और वृक्षों को काटने का निषेध किया है। यथा-

ये छिन्दन्ति वनानि क्षुद्रस्वार्थस्य पूर्तिकरणार्थम्।
ते स्वं दहन्ति भवनं निजशीतनिवारणेच्छया मनुजाः॥[11]

और भी कहा है-

शिरीषेऽभूतसहस्राक्षो निम्बे देवप्रभाकरः।
स तु तन्मयतां यातस्तस्मात्तन्न विनाशयेत्॥[12]

इस प्रकार से वृक्षों में इन्द्र, ब्रह्मा, सूर्य आदि देवों का वास माना गया है अतः उनके छेदन का निषेध करते हुए कहा गया है कि जो भी व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए वृक्षों को काटता है वह वास्तव में शीत के निवारण की इच्छा से अपने भवन को जलाने के लिए तत्पर है क्योंकि वृक्ष ही सम्पूर्ण धरा पर प्राणरक्षक ऑक्सीजन को प्रदान करते है। एतरेय ब्राह्मण में तो वृक्षों को ही प्राण कहा है।-**"प्राणो वै वनस्पतिः"**[13]।

वृक्षों के इसी महत्त्व को जान कर भारतीय वास्तुशास्त्र के विविध ग्रन्थों में गृह के निकट वृक्षारोपण की चर्चा की गई है। केवल गृह ही नहीं, नगर, उद्यान, राजभवन का उद्यान, देवालयों का उद्यान, राजपथ के विविध उद्यानों एवं विविध वास्तु-विन्यासों में वृक्षों की चर्चा भी इन का महत्त्व स्पष्ट करती है। श्रीमद्भगवद्गीता और विविध पुराणों में विविध उपवनों से युक्त द्वारकापुरी[14] नन्दन वन से युक्त अमरावती[15] उद्यान एवं वापी से युक्त व्रज का रास-मण्डल[16] श्रीपुर का महा-उद्यान[17] नागकेसर से युक्त जमदग्निपुरी[18] उद्यान-युक्त वाराणसी[19] आम्रवन से युक्त अयोध्या[20] तथा वन, उपवन से सुशोभित लङ्कापुरी[21] आदि का वर्णन प्राचीन नगरों में उद्यानों के महत्त्व को

11. राधाचरितम्- 13-22
12. पर्यावरण प्रभुत्वम् संस्कृत साहित्य एवं पर्यावरण, पृ-24
13. एतरेयब्राह्मणम-24.10
14. भागवतम्-10.50.52
15. विष्णुपुराण-50.30.30.32
16. ब्रह्मवैवर्तपुराण-कृष्णजन्म-17.8.21
17. ब्रह्माण्डपुराण-4.31.54.55
18. तत्रैव 3.27.17
19. मत्स्यपुराण-180.44
20. वा.रा.बाल.-5.12
21. तत्रैव-सुन्दर.-2.9.13

रेखांकित करता है। आधुनिक काल में भी नगरों में स्थित विविध पार्क, नगरों में उद्यानों के महत्त्व को द्योतित करते हैं।

इसी प्रकार से राज-भवनों में भी वाटिकाओं का उल्लेख है जैसे अयोध्या की अशोक-वानिका[22] तथा लङ्का की अशोक-वाटिका[23]। वास्तुग्रन्थों में इन वाटिकाओं की संज्ञा क्रीड़ा-वाटिका है। राज-भवन के वाम भाग या दक्षिण भाग में वाटिका निर्माण का सिद्धान्त है जो कि 100 दण्ड, 200 दण्ड, या 300 दण्ड माप की होती है। इसके मध्य में जलयन्त्रों से युक्त धारा मण्डप होता है। यथा-

वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
एकद्वित्रिदण्डसंख्याशतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः॥[24]

इस क्रीड़ा वाटिका में चम्पा, कुन्द, चमेली, लता, निर्वालिका, जाती, पीली केतकी, श्वेत गुलाब, नारंग, वसन्तलता, लालपुष्प, जम्बीरी, नीबू, बेर, सुपारी, महुआ, आम, बेल, केला, चन्दन, बरगद, पीपल, आँवला, इमली, अशोक, कदम्ब, नीम, खजूर, अनार, कपूर, अगरु, किंशुक, जायफल, नागबेल, नीबू, अंगूर, इलायची, शतावरी, मौलसिरी, पारिजात, चम्पक आदि वृक्षों के रोपण का विधान है।[25]

देवालय वाटिका-

मन्दिर में भी वाटिका का विधान है क्योंकि देवता प्राकृतिक वातावरण में ही मुदित होते हैं। यथा- **"रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च"**[26] अतः यदि प्राकृतिक रूप से देवालय का निर्माण पर्वतों-नदियों और वृक्षों के समीपस्थ न हो पाये तो कृत्रिम उद्यानों का निर्माण देवालय परिसर में करना चाहिए। देवालय के पूर्व-भाग में फलदार वृक्ष, दक्षिण में क्षीरवाले वृक्ष, पश्चिम में कमल-पुष्प से युक्त जलाशय तथा उत्तर में सरल (चीड़) एवं ताल-वृक्ष तथा पुष्पवाटिका का निर्माण करना चाहिए। यथा-

पूर्वेण फलिनो वृक्षाः क्षीरवृक्षास्तु दक्षिणे।
पश्चिमेन जलं श्रेष्ठं पद्मोत्पलविभूषितम्।
उत्तरे सरलैस्तालैः शुभा स्यात् पुष्पवाटिका॥[27]

---

22. वा.रा. उत्तर-42-1.15
23. तत्रैव सु.का. 14.34
24. राज.व.मण्डन-1.18
25. राज.व.म.9-20.23
26. बृ.वा.मा.-8.162
27. मत्स्यपुराण-270-28.29

गृहवाटिका-

गृहवाटिका का गृह में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीयवास्तुशास्त्र में वाटिका या उद्यान रहित गृह अपूर्ण ही माना जाता है क्योंकि वास्तुशास्त्र का विषय ही गृह में प्राकृतिक तत्त्वों का सन्तुलन करना है, गृह के निकट वृक्षारोपण का उद्देश्य गृह में प्राकृतिक वातावरण प्रदान करना ही है। आज के इस युग में जब मनुष्य अति तीव्र वेग से प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करना चाहता है और इस हेतु वह अत्याधुनिक तकनीकों का उपयोग कर रहा है और यह तकनीक मानव को तात्कालिक सुविधा तो प्रदान करती है परन्तु पर्यावरण को अत्यन्त दूषित कर रही है। जिसके कारण आज का मानव स्वच्छ वायु के लिए तरस रहा है। आज के इस युग में बढ़ती हुई जनसंख्या और घटती हुई भूमि, प्राकृतिक संसाधनों का स्वार्थ भाव से दोहन पर्यावरण को तो दूषित कर ही रहा है, मानव को भी अनेक प्रकार से शारीरिक और मानसिक रोग प्रदान कर रहा है। अतः आज के इस युग में विज्ञान की हर शाखा में पर्यावरण शुद्धि को केन्द्र में रख कर प्रयोग किये जा रहे हैं। भवन निर्माण में भी पर्यावरण-शुद्धि आधुनिक युग का एक यक्ष प्रश्न बन गया है। आज ऐसे भवनों के निर्माण पर चिन्तन हो रहा है, जो पर्यावरण के सहयोगी (eco friendly) हों, न कि विरोधी, यह चिन्तन नया नहीं है। भारतीय वास्तुशास्त्र के विविध ग्रन्थों में विविध वृक्षों के रोपण का उपदेश किया गया है जो पर्यावरण को शुद्ध करते हैं। इतना ही नहीं, वृक्षारोपण का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करते हुए रोपणीय और वर्जनीय वृक्षों की भी चर्चा की गयी है। कौन से वृक्ष किस दिशा में अधिक लाभप्रद हैं? और किस दिशा में हानिप्रद हैं? इस प्रकार का सूक्ष्म चिन्तन भी वास्तु ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

तुलसी वृक्ष-

यावद्दिनानि तुलसी रोपितापि गृहे वसेत्।
तावद्वर्षसहस्राणि वैकुण्ठे स महीयते।।[28]

तुलसी का माहात्म्य सभी वनस्पतियों में सर्वाधिक है। तुलसी का अपर नाम वृन्दा भी है। यह औषधीय गुणों से युक्त दिव्य पादप है, इसका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि सूर्य ग्रहण एवं चन्द्रग्रहण के समय सभी खाद्यान्न में तुलसी पत्र के डालने मात्र से ग्रहण की विकिरणों का प्रभाव शून्य हो जाता है व खाद्य पदार्थ अशुद्ध नहीं होता। भगवान विष्णु की पूजा तुलसी दल के बिना सम्पूर्ण नहीं होती। वास्तुशास्त्र की दृष्टि से तुलसी का पौधा पूर्व, उत्तर या ईशान कोण में प्रशस्त है। गृह के मध्य में कोई भी वृक्ष, चाहे वह सुवर्ण का वृक्ष ही क्यों न हो, उसका निषेध करते हुए कहा है - **"अपि हेममयान् वृक्षान् वास्तुमध्ये न रोपयेत्"**[29], परन्तु तुलसी का ही पौधा ऐसा

---

28. वृक्षायुर्वेद-1.9
29. वास्तुसौख्यम्-40

है, जिसका रोपण विशेष रूप से आँगन मे ब्रह्मस्थल पर प्रशस्त है। तुलसी के कण-कण में समाया हुआ रोगनाशक तत्त्व हवा के झोंको के स्पर्श से निकल कर आस-पास के वायुमण्डल में फैल जाता है और भवन में रहने वाले के अनेक रोगों को दूर करता हुआ सकारात्मकता को बढ़ाता है। **"रोपयेत् तुलसीवृक्षं सुखदं ह्यजिरे बुधः"।**[30]

अश्वत्थ वृक्ष-

"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्"[31] भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि सभी वृक्षों में मैं अश्वत्थ का स्वरूप हूँ। इसी से अश्वत्थ का महत्त्व ज्ञात होता है। यह सभी वृक्षों में पवित्र माना गया है। इसकी पूजा की जाती है। पीपल में एक महत्त्वपूर्ण गुण है कि यह वातावरण में व्याप्त दूषित गैसों को नष्ट करने के लिए ऑक्सीजन छोड़ता रहता है। इस वृक्ष की शीतलता सर्वाधिक प्रिय मानी जाती है। इसका अपर नाम 'चल पत्र' भी है। जिस समय वायु का प्रवाह नही होता, अन्य वृक्षों के पत्ते स्थिर होते है परन्तु इस वृक्ष के पत्ते उस समय भी हिलते रहते है। इस वृक्ष का महत्त्व इसी से ज्ञात होता है कि पीपल को काटना ब्रह्महत्या के समान माना जाता है। इस वृक्ष की जड़े जमीन में दूर-दूर तक फैली होती है इसलिए इस वृक्षों को घर मे लगाने का निषेध है। घर से बाहर पश्चिम दिशा में इस वृक्ष का रोपण शुभ है- **"अश्वत्थवृक्षं दिशि वारुणस्याम्"।**[32]

मन्दिरों में इस वृक्ष का रोपण प्रशस्त माना जाता है। अश्वत्थ वृक्ष आग्नेयकोण में कदापि नही होना चाहिए। ऐसा होने पर यह मृत्यु तथा पीड़ा देता है।[33]

बिल्व वृक्ष-

बिल्व का ही एक नाम "श्रीफल" भी है। यह वृक्ष भगवान शिव को अत्यन्त प्रिय है। **"बिल्व वृक्षं तथा देवि भगवान् शंकरः स्वयम्"।**[34] शिवपूजन की पूर्णता तभी होती है जब उनको बिल्वपत्र अर्पित किए जाये। यह पूज्य होने के साथ-2 औषधीय गुणों से युक्त वृक्ष है। यथोक्तम्- **"रोगान् बिलति भिन्नति विल्वः"।** मन्दिर प्राङ्गण में यह वृक्ष अत्यन्त शुभदायक है। यथोक्तम्- **"स्थाप्या मन्दिरपार्श्वपृष्ठदिशि तु श्रीवृक्षबिल्वाभया"।**[35] गृह के मध्य में इस वृक्ष के रोपण का निषेध किया गया है। और अगर स्वयं ही यह वृक्ष गृहमध्य में उदित हो जाए, तो इसको काटने का निषेध है यथोक्तम्-

---

30. गृहरत्नविभूषण, पृ-94, श्लोक--139
31. गीता-10.26
32. बृहद्वास्तुमाला-श्लोक 25, पृ-117
33. वास्तुरत्नावली,पृ41
34. वाचस्पत्यम्
35. मनुष्यालयचन्द्रिका-1.24

न मध्यप्राङ्गणे वृक्षं स्थापयेत् श्रीफलाख्यकम्।
दैवाद् यदि प्रजायते तदा शिववदर्च्चयेत्।।[36]

यह वृक्ष गृह में सभी दिशाओं में शुभ माना जाता है। परन्तु विविध वास्तुग्रन्थों में वायव्य में यह वृक्ष प्रशस्त माना गया है। यथोक्तम्- "वायव्ये बिल्ववृक्षकम्"[37]।

शमी वृक्ष-

शमी शमयते पापं शमी शत्रुविनाशिनी।
अर्जुनस्य धनुर्धारी रामस्य प्रियदर्शनी।।[38]

शमी वृक्ष को खेजड़ी या सांगरी नाम से भी जाना जाता है। यह वृक्ष मूलतः रेगिस्तान में पाया जाता है। अंग्रेजी भाषा में इस वृक्ष को "प्रोसोपिस सिनेरिया" के नाम से जाना जाता है। इस वृक्ष का सम्बन्ध शनि ग्रह से है। इस वृक्ष के नीचे प्रतिदिन नियमित रूप से सरसों के तेल का दीपक जलाने से शनि ग्रह का प्रकोप कम होता है। बिहार, झारखण्ड आदि राज्यों में प्रायः हर घर के दरवाजे के दाहिनी ओर यह वृक्ष लगाया जाता है। इस वृक्ष का रोपण मन्दिर प्राङ्गण में किया जाता है और गृह में उत्तर दिशा में वाटिका के बाहर शमी का वृक्ष लगाया जाता है- **"उत्तरे च शमी बाह्ये"**[39]।

आँवला वृक्ष-

आँवला को संस्कृत में अमृतफलम्, आमलकी या धात्रीफल कहा जाता है। इसे अंग्रेजी में "एँब्लिक माइरीबालन" कहते हैं। यह वृक्ष समस्त भारत में पाया जाता है। यह धात्री (माता) के समान मनुष्य के शरीर को पुष्ट करता है। विशेषरूप से यह शरीर में शक्ति को बढ़ाता है-

तेनेष्टा बहवो यज्ञास्तेन दत्ता वसुन्धराः।
स सदा ब्रह्मचारी स्याद्येन धात्री प्ररोपितः।।[40]

इसलिए इस वृक्ष के रोपण का विधान गृह में है ताकि गृह के निवासियों को इस वृक्ष के औषधीय गुणों का लाभ वायु के प्रवाह से तथा आंवला फल के सेवन से प्राप्त हो सके।

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार इस वृक्ष का रोपण गृह मे अत्यन्त शुभ माना जाता है तथा इसका ईशान में रोपण का विधान है **"ईशाने रोपयेद्धात्रीम्"।**[41]

---

36. वाचस्पत्यम्
37. बृ.वा.मा. श्लोक- 23 पृ-116
38. शमिस्तोत्रम् श्लोक-1
39. बृ.वा.मा.प्रयोग-पृ.117, श्लोक. 25-27
40. वृक्षायुर्वेद-1.12
41. बृ.वा.मा.-23.पृ. 116

अनार वृक्ष-

अनार को संस्कृत में "दाड़िम" कहते हैं। अनार के पेड़ सुन्दर व छोटे आकार के होते है। यह शरीर में रक्त की मात्रा को बढ़ाने वाला फल है। गृह में इस वृक्ष का रोपण अत्यन्त शुभ है। भारत में यह वृक्ष गर्म प्रदेशों मे पाया जाता है। अत एव वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों मे भी इस वृक्ष को आग्नेयकोण में रोपण करने का विधान है। यथोक्तम्- **"आग्नेय्यां दाड़िमं चैव"।**[42]

पाकड़ वृक्ष-

पाकड़ का एक नाम पिलखन भी है। यह समस्त भारत में बहुतायत से पाया जाता है। इसको संस्कृत में प्लक्ष कहते हैं। यह एक हरा भरा वृक्ष है जो घर के वातावरण को शुद्ध करता है। वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में प्लक्ष (पाकड़) उत्तर दिशा में करने का विधान है- **"प्लक्षोत्तरे रोपयेत्"।**[43] इस वृक्ष का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि चार प्लक्ष के वृक्षों के रोपण का फल राजसूय यज्ञ के फल के पुण्य के बराबर है। यथोक्तम्-

चतुर्णां प्लक्षवृक्षाणां रोपणान्नात्र संशयः।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।।[44]

वट वृक्ष-

वटवृक्षद्वयं मर्त्यो रोपयेद्यो यथाविधिः।
शिवलोके गमेत्सोऽपि सेवितस्त्वप्सरोगणैः।।[45]

इस प्रकार सं वट वृक्ष के रोपण का अत्यधिक महत्त्व है। **"रुद्ररूपो वटः"।**[46] वट के वृक्ष का सम्बन्ध रुद्र से है। अतः वट वृक्ष के पूजन से भगवान शिव प्रसन्न होते हैं। संस्कृत भाषा में इसका अपर नाम "न्यग्रोध" है। बरगद बहुवर्षीय विशाल वृक्ष है। इसका तना सीधा एवं कठोर होता है। इसकी पत्ती चौड़ी एवं लगभग अण्डाकार होती है। वट, पीपल और नीम के वृक्षों की त्रिमूर्ति को त्रिवेणी माना जाता है। एक ही स्थान पर इन तीनों वृक्षों के रोपण का विधान है। वट को वूर्व दिशा में लगाना शुभ होता है **"पूर्ववटं प्रशस्तम्"**[47]।

निम्ब वृक्ष-

निम्बत्रयं समारोप्य नरो धर्मविचक्षणः।
सूर्यलोकं समासाद्य वसेदब्दायुतत्रयम्।।

42. तत्रैव-24 पृ 117
43. वृक्षायुर्वेद-15
44. तत्रैव-13
45. शब्दकल्पद्रुमः
46. वृहद्वास्तुमाला-24- पृ.117
47. मनुष्यालयचन्द्रिका-1.26

निम्ब औषधीय गुणों से युक्त सम्पन्न वृक्ष है। इसका कीटनाशक व त्वचा सम्बन्धी रोगों में बहुत प्रयोग होता है। यह पूरा वृक्ष, फल, पत्तियों और छाल आदि के रूप में प्रयोग होता है। निम्ब की दातून दाँतों के लिए अत्यन्त लाभकारक है। नीम का पेड़ सूखे के प्रतिरोध के लिए विख्यात है। यह सूखे से प्रभावित क्षेत्रों में छाया देने वाला वृक्ष है। इसके प्रयोग से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है। वास्तुशास्त्र के कुछ आचार्यों के मत में निम्ब वृक्ष घर के समीप होना शुभ है। परन्तु 'मनुष्यालयचन्द्रिका' नामक वास्तुग्रन्थ में नीम के वृक्ष को 'सहिजन' संज्ञा प्रदान की है और उसका रोपण घर से बाहर करने का निर्देश किया है।[48]

आम्र वृक्ष-

पञ्चाम्रशाखिनां षण्णां यः कुर्यात्प्रतिरोपणम्।
गारुडं लोकमासाद्य मोदते देववत्सदा।।[49]

जो व्यक्ति पाँच या छः आम्र-वृक्षों का रोपण करता है, वह देवताओं के साथ प्रसन्नता से रहता है। आम के फल को भारत का राष्ट्रीय फल माना जाता है और बांग्लादेश में आम का पेड़ राष्ट्रीय पेड़ है। संस्कृत भाषा में इसका नाम आम्र है। वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में गृह में आम के पेड़ का रोपण किस दिशा में किया जाए? इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सम्भवतः फलदार वृक्ष होने के कारण इसे गृह में नहीं लगाना चाहिए। गृह-वाटिका में आम के वृक्षारोपण का निर्देश प्राप्त होता है। जिसके अनुसार आम्र वृक्ष का रोपण गृहवाटिका में ईशानकोण एवं पूर्व के मध्य में करना चाहिए।-**"पनसश्च तथाम्रश्च प्रशस्तौ शम्भूपूर्वयोः"**[50]। वाटिका के मध्य में भी आम्रवृक्षरोपण का विधान है-**"मध्ये तथाम्रान्विविधप्रकारान्"**।

उदुम्बर वृक्ष-

उदुम्बरद्रुमानष्टौ रोपयेत्स्वयमेव यः।
प्रेरयेद्रोपणायापि चन्द्रलोके स मोदते।।[51]

अर्थात् जो व्यक्ति उदुम्बर के आठ वृक्षों का रोपण करता है तथा उदुम्बर वृक्ष के रोपण को प्रेरित भी करता है, वह चन्द्रलोक को प्राप्त करता है। इस वृक्ष को हिन्दी भाषा में गूलर भी कहते है। इसका सम्बन्ध चन्द्र से है अतः यह एक शीतल वृक्ष है। यह वृक्ष गर्भहितकारी है। गृहवाटिका में इसका रोपण दक्षिण दिशा में वास्तुसम्मत है।-**"उदुम्बरं दक्षिणभागके च"**।[52] मनुष्यालयचन्द्रिका में भी गूलर का रोपण दक्षिण दिशा में प्रशस्त कहा है। यथोक्तम्-**"अवाच्यां**

48. वृक्षायुर्वेद-1.16
49. बृहद्वास्तुमाला-25 पृ. 117
50. तत्रैव-24
51. वृक्षायुर्वेद-1.18
52. बृहद्वास्तुमाला-27 पृ. 117

तथोदुम्बरः"।[53]

इमली वृक्ष-

इमली का वृक्ष धीरे-धीरे बड़ा होता है। इमली के पेड़ में कई औषधीय गुण है। शरीर के कई रोगों में यह वृक्ष उपकारक है। गृहवाटिका में इमली के वृक्ष का रोपण "नैर्ऋत्य कोण" में करने का निर्देश है। यथोक्तम्- **"नैर्ऋत्ये चिञ्चिणीद्रुमान्"।**[54]

आज विश्व की प्रमुख समस्याओं में पर्यावरण प्रदूषण भी एक प्रमुख समस्या है। इस समस्या से विश्व के लगभग सभी राष्ट्र जूझ रहे है और सम्पूर्ण विश्व के बुद्धिजीवी इस समस्या के समाधान हेतु छोटे-बड़े उपाय - अन्वेषण में लगे हुए हैं। इस समस्या का मूल कारण वस्तुतः मनुष्य और मनुष्य की आवश्यकताएँ ही है। जहाँ मानवेतर प्राणी पर्यावरण की शुद्धि में अपना योगदान देते है, वहीं मानव पर्यावरण को अशुद्ध कर इस सुन्दर धरा को प्रदूषित कर रहा है। वास्तुशास्त्र में प्रदत्त सिद्धान्तों के माध्यम से पर्यावरण की शुद्धि में गृह की भूमिका को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया है। वास्तुशास्त्र के विविध ग्रन्थों में गृह की विभिन्न दिशाओं में रोपणीय और वर्जनीय वृक्षों की चर्चा करते हुए उन वृक्षों की भूमिका पर विचार किया गया है। भवन में विभिन्न दिशाओं में विविध वृक्षों का रोपण कर हम अपने गृह में तो सकारात्मक ऊर्जा को प्राप्त कर सकते हैं साथे ही पर्यावरण-शुद्धि में भी अपना सहयोग दे सकते हैं।

---

52. म.च.- 1.22
53. वृ.वा.मा.23-पृ. 116
54. वास्तुसारः, वृक्षारोपणप्रकरणम् श्लो. 16

दकार्गलविमर्श-वास्तुविद्या की एक अलौकिक देन

डॉ. रामेश्वरदयालशर्मा

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सृष्टि की उत्पत्ति के समय से ही हमारे दैनिक जीवन में जलाशय का विशेष महत्त्व है। जल ही जीवन है एवं जलाशय उसके भाण्डागार के रूप में स्थापित है। मानव, भोजन के बिना कुछ अपना जीवन निर्वाह कर सकता है परन्तु जल के अभाव में जीवन रूपी चक्र का निर्वहन अधिक दिन तक असंभव सा प्रतीत होता है। अतः विष्णुधर्मोत्तर पुराण में जलाशय का विशेष माहात्म्य वर्णित किया गया है। इसका वर्णन वराहमिहिर विरचित बृहत्संहिता आदि संहिता विषयक ग्रन्थों में दकार्गलाध्याय के रूप में भी प्राप्त होता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में जलाशय के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि इस मृत्युलोक एवं स्वर्गलोक दोनों में जल के बिना जीवन कल्पनातीत है। अतः विद्वान् एवं धर्मात्मा पुरुष को अनेक स्थानों पर जलाशयों का निर्माण करवाकर पुण्यार्जन करना चाहिए। यदि कोई कुँआ खुदवाता है तो उसका फल अग्निष्टोम-यज्ञ सदृश है। लेकिन उसी कुँए का निर्माण यदि मरुस्थल में करवाया जाए तो उसका फल अश्वमेध यज्ञ के समान है। पर्याप्त जलवाला कूप, खुदवाने वाले के समस्त पापों का नाश करता है। जो मनुष्य कूप-निर्माण करवाता है वह स्वर्ग में जाकर सभी सुखों का उपभोग करता है। स्थान विशेष के आधार पर उपभोग की निपुणता विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इस प्रकार वर्णित है -

उदकेन विना वृत्तिर्नास्ति लोकद्वये सदा।
तस्माज्जलाशयाः कार्याः पुरुषेण विपश्चिता।।
अग्निष्टोमसमः कूपः सोऽश्वमेधसमो मरौ।
कूपः प्रवृत्तपानीयः सर्वं हरति दुष्कृतम्।।
कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समश्नुते।
तत्रापि भोगनैपुण्यं स्थानाभ्यासात् प्रकीर्तितम्।।[1]

बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर ने भी कहा है कि यह दकार्गल प्रकरण धर्म एवं यश को प्रदान करता है। जिस प्रकार से मानव शरीर में शिराजाल का ऊपर-नीचे विस्तार है उसी प्रकार से पृथ्वी की भी ऊँची एवं नीची शिराऐं की गुणधर्मिता होती हैं। जबकि आकाश से वृष्टि के रूप में बरसने वाला जल एक ही वर्ण, रस एवं स्वाद वाला होता है परन्तु फिर भी वह भूमि के महत्त्व

1. बृ. वा. मा. श्लो. 1-3, पृ. 121

के कारण विभिन्न रस-स्वाद एवं वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि भूमि के अनुसार ही जल के रस-वर्ण तथा स्वाद आदि का विचार करें। जैसा कि बृहत्संहिता में वर्णित है -

धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलं येन जलोपलब्धिः।
पुंसां यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नतनिम्नसंस्थाः॥

एकेन वर्णेन रसेन चाम्भश्च्युतं नभस्तो वसुधाविशेषात्।
नानारसत्वं बहुवर्णतां च गतं परीक्ष्यं क्षितितुल्यमेव॥[2]

दिशा एवं शिरा विभाजन -

क्रमशः इन्द्रादि देव पूर्वादि दिशाओं के स्वामी होते हैं। अर्थात् पूर्व दिशा का इन्द्र, आग्नेय का अग्नि, दक्षिण का यम, नैर्ऋत्य का निर्ऋति, पश्चिम का वरुण, वायव्य का वायु, उत्तर का कुबेर एवं ईशान का ईश्वर (शिव) स्वामी होते हैं। इन दिशा स्वामियों के नामकरण के अनुसार ही शिराऐं होती है। जैसे - पूर्व दिशा की शिरा ऐन्द्री, आग्नेय की आग्नेयी, दक्षिण की याम्या इत्यादि क्रम से अन्य दिशाओं की शिराऐं भी समझनी चाहिए। अर्थात् पूर्वादि आठ दिशाओं की आठ शिराऐं होती है। मध्यभाग में महाशिरा नामक 9 वीं शिरा भी होती है। इन शिराओं के अतिरिक्त भी सैकड़ों शिराएं होती है। पाताल लोक में ऊर्ध्व शिरा शुभ होती है। चारों दिशाओं की शिराऐं भी शुभ होती है। कोणों से सम्बन्धित शिराऐं अशुभ फलप्रद मानी गयी है। इन उपर्युक्त शिरा-ज्ञान के द्वारा भी भूमिगत जल का निर्धारण किया जाता है।

जामुन वृक्ष एवं वल्मीक से जल ज्ञान -

जब जम्बुवृक्ष से पूर्व दिशा में वृक्ष के नजदीक ही वल्मीक (बाँबी) हो तो उस स्थान से लगभग 3 हाथ प्रमाण दक्षिण दिशा में 2 पुरुषों प्रमाण आकार में भूमि के नीचे मीठे जल की प्राप्ति होती है। उसी स्थान पर अर्द्ध पुरुष प्रमाण नीचे मत्स्य (मछली), उससे नीचे कबूतर के वर्ण समान पाषाण खण्ड प्राप्त होता है। इस प्रकार के खात विधान में नीले रंग की मृदा निकलती है तथा जल अधिक समय तक स्थिर रहता है। जैसा कि बृहत्संहिता में वर्णित है -

जम्बुवृक्षस्य प्राग्वल्मीको यदि भवेत् समीपस्थः।
तस्माद्दक्षिणपार्श्वे सलिलं पुरुषद्वये स्वादु॥

अर्धपुरुषे च मत्स्यः पारावतसन्निभश्च पाषाणः।
मृद्भवति चात्रनीला दीर्घं कालं च बहुतोयम्॥[3]

---

2. बृ. सं. दकार्गलाध्याय, श्लो. 1-2, पृ. 355
3. बृ.सं. दका. श्लो. 9-10, पृ. 356

मेंढक द्वारा जल ज्ञान -

यदि किसी वृक्ष के मूल भाग में मेंढक के दर्शन हों तो उसी वृक्ष से उत्तर दिशा में एक हाथ की दूरी पर $4\frac{1}{2}$ (साढ़े चार) पुरुष प्रमाण नीचे जल मिलता है। इस स्थान पर खनन के वक्त एक पुरुष प्रमाण नीचे नेवला, उसके नीचे क्रमानुसार नीलवर्ण-पीतवर्ण एवं श्वेतवर्ण की मिट्टी प्राप्त होती है। तदनन्तर मेंढक के समान वर्णवाला पत्थर तथा उसके अधो भाग में जल की प्राप्ति होती है। यथा -

सर्वेषां वृक्षाणामधः स्थितो दर्दुरो यदा दृश्यः।
तस्माद्धस्ते तोयं चतुर्भिरर्धाधिकैः पुरुषैः॥

पुरुषे तु भवति नकुलो नीला मृत्पीतिका ततः श्वेता।
दर्दुरसमानरूपः पाषाणो दृश्यते चाऽत्र॥[4]

पैर से भूमि ताडन द्वारा जल ज्ञान -

पैर द्वारा जिस स्थान पर भूमि का ताडन करने से गम्भीर शब्द सुनाई दे तो उस स्थान पर $3\frac{1}{2}$ (साढ़े तीन) पुरुष प्रमाण नीचे जल की उत्तर शिरा प्राप्त होती है-

नदति मही गम्भीरं यस्मिंश्चरणाहता जलं तस्मिन्।
सार्द्धैस्त्रिभिर्मनुष्यैः कौबेरी तत्र च शिरा स्यात्॥[5]

वृक्ष की शाखा से जल ज्ञान -

बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर ने वृक्ष की शाखा द्वारा जल ज्ञान के विषय में वर्णित किया है कि यदि किसी वृक्ष की एक शाखा नीचे की ओर झुकी हो अथवा पीतवर्ण की हो गई हो तो उस शाखा के नीचे तीन पुरुष प्रमाण खोदने से जल प्राप्त होता है। जैसा कि कहा गया है-

वृक्षस्यैका शाखा यदि विनता भवति पाण्डुरा वा स्यात्।
विज्ञातव्यं शाखातले जलं त्रिपुरुषं खात्वा॥[6]

खजूर के वृक्ष द्वारा जल ज्ञान -

जो देश जल से रहित हो उस देश में यदि दो शिर वाला खजूर का वृक्ष हो, तो उस स्थान पर खजूर वृक्ष से दो हाथ पश्चिम में तीन पुरुषाकृति प्रमाण नीचे जल मिलता है। जैसा कि वर्णित

4. बृ.सं. दकार्गल., श्लो. 31-32, पृ. 360
5. वही, श्लो. 54, पृ. 364
6. वृ.सं. दकार्गल, श्लो. 55, पृ. 364

है-

> खर्जूरी द्विशिरस्का यत्र भवेज्जलविवर्जिते देशे।
> तस्याः पश्चिमभागे निर्देश्यं त्रिपुरुषैर्वारि॥[7]

धान्य की स्थिति द्वारा जल ज्ञान -

बृहत्संहिता में वर्णित है कि जिस खेत में धान्य उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाय, अथवा अत्यन्त स्वच्छ धान्य हो या उत्पन्न होने के बाद उस धान्य का वर्ण पीला हो जाय तो उस स्थान पर (खेत में) दो पुरुषाकृति प्रमाण नीचे जल समझना चाहिए। जैसा कि वर्णित है -

> यस्मिन् क्षेत्रोद्देशे जातं सस्यं विनाशमुपयाति।
> स्निग्धमति पाण्डुरं वा महाशिरा नरयुगे तत्र॥[8]

जल ज्ञान में तारतम्यता -

मरुस्थल इत्यादि प्रदेशों में जिन लक्षणों (दकार्गल चिह्नों) के आधार पर जल ज्ञान वर्णित किया है उन चिह्नों से जाङ्गल (स्वल्प जल वाले प्रदेश) देश में जल ज्ञान निर्धारण नहीं किया जा सकता है। पूर्व में वर्णित जामुन, बेंत आदि के अनुसार जल निर्धारण के समय जो पुरुषाकृति प्रमाण निर्देशित किया गया है उस पुरुष प्रमाण आकृति को द्विगुणित करके मरुप्रदेश (रेगिस्तान आदि) में जानना चाहिए। यथा -

> मरुदेशे यच्चिह्नं न जाङ्गले तैर्जलं विनिर्देश्यम्।
> जम्बूवेतसपूर्णैर्ये पुरुषास्ते मरौ द्विगुणाः॥[9]

दिग्वशात् (आग्नेय आदि कोण में स्थित) कूप फल विचार -

आचार्य वराहमिहिर ने आग्नेय आदि कोणों में स्थित कूप के सन्दर्भ में कहा है कि यदि किसी नगर अथवा ग्राम के आग्नेय कोण में कूप स्थित हो तो वहां स्थित नगर या ग्राम में लोग भय से पीड़ित रहते है। अग्निभय एवं अग्निदाह के द्वारा लोगों की मृत्यु हो जाती है। यदि किसी ग्राम या नगर के नैर्ऋत्य कोण में कूप निर्मित हो तो बच्चों की हानि होती है। इसी प्रकार वायव्य कोण में स्थित कूप के द्वारा स्त्रियों को भय होता है। अवशिष्ट पाँच दिशाओं में स्थित कूप शुभफलप्रदायक है। यथा -

> आग्नेये यदि कोणे ग्रामस्य पुरस्य वा भवेत् कूपः।
> नित्यं स करोति भयं दाहं च समानुषं प्रायः॥

---

7. बृ.सं. दकार्गल., श्लो. 5, पृ. 364
8. वही, श्लो. 61, पृ. 365
9. वही, श्लो. 86, पृ. 368

नैर्ऋत्यकोणे बालक्षयं च वनिताभयं च वायव्ये।
दिक्त्रयमेतत्त्यक्त्वा शेषासु शुभावहाः कूपाः।।[10]

भूमि के वर्ण द्वारा जल ज्ञान -

मधुरादि जल की प्राप्ति के विषय में भूमि के वर्ण के आधार पर अनुमान किया जाता है। जहाँ पत्थर के कणों से मिली हुई ताम्र वर्ण की भूमि होती है वहाँ कसैला जल मिलता है। यदि किसी स्थान की भूमि पीतवर्ण नीलवर्ण हो तो खारा जल, पाण्डुरंग की भूमि में लवण युक्त (नमकीन) जल और नीलवर्ण भूमि हो तो मधुर जल की प्राप्ति होती है। जैसा कि बृहत्संहिता में निर्देशित है-

सशर्करा ताम्रमही कषायं क्षारं धरित्री कपिला करोति।
आपाण्डुरायां लवणं प्रदिष्टं मृष्टं पयो नीलवसुन्धरायाम्।।[11]

कूप-खनन मुहूर्त्त -

कूप-खनन मुहूर्त्त के सन्दर्भ में प्रतिपादित है कि हस्त, अनुराधा, रेवती, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, धनिष्ठा, शतभिषा, मघा, रोहिणी, पुष्य, मृगशिरा और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रों में यदि बुध, गुरु और शुक्र वार हों तो रिक्ता (4/9/14) तिथियों को त्यागकर अन्य सभी नन्दादि तिथियों में कूपारम्भ मुहूर्त्त शुभकारक है।[12]

कूप-खनन मुहूर्त्त चक्र

नक्षत्र	रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, मघा, उ.फा., हस्त, अनुराधा, उ.षा., धनिष्ठा,पू.षा., उ.भा., रेवती, शतभिषा
वार	बुध, गुरु, शुक्र
तिथि	द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, पूर्णिमा

बृहत्संहिता में भी कूपारम्भ मुहूर्त्त के विषय में कहा गया है कि हस्त, रोहिणी, मघा, अनुराधा, पुष्य, धनिष्ठा, शतभिषा, उ.फा., उ.षा., उ.भा. इत्यादि नक्षत्रों में कूपारम्भ करना श्रेष्ठ है। यथा-

हस्तो मघानुराधापुष्यधनिष्ठोत्तराणि रोहिण्यः।

10. बृ.सं. दकार्गल. श्लो. 97-98, पृ. 370
11. वही, श्लो. 104, पृ. 371
12. भारतीय ज्योतिष, नेमिचन्द्र, पृ. सं. 423

शतभिषगित्यारम्भे कूपानां शस्यते भगणः।।[13]

मुहूर्त्तचिन्तामणिग्रन्थ में भी जलाशय-खनन के विषय में वर्णित है कि अनुराधा, हस्त, उ. फा., उ.षा., उ.भा., धनिष्ठा, शतभिषा, मघा, पू.षा., रेवती, पुष्य, एवं मृगशिरा इत्यादि त्रयोदश नक्षत्रों में सूर्य, मंगल और शनि ग्रह के बलहीन होने पर, लग्न स्थान में बुध, गुरु होने पर, लग्न से दशम भाव में शुक्र और चन्द्र जलचर राशि (4/10/11/12) में स्थित हो तो जलाशय (कूप-बावड़ी, झील, तालाब, नलकूप इत्यादि) का निर्माण करवाना सर्वश्रेष्ठ एवं उत्तम होता है। जैसा कि वर्णित होता है -

मित्रार्कध्रुववासवाम्बुपमघातोयान्त्यपुष्येन्दुभिः
पापैर्हीनबलैस्तनौ सुरगुरौ ज्ञे वा भृगौ खे विधौ।
आप्ये सर्वजलाशयस्य खननं व्यम्भोमधैः सेन्द्रभै-
स्तैर्नृत्यं हिबुके शुभैस्तनुगृहे ज्ञेऽब्जे ज्ञराशौ शुभम्।।[14]

कूपारम्भ शुभाशुभ ज्ञान के लिए विद्वानों ने चार प्रकार से कूपचक्रों को प्रतिपादित किया है। जिस दिन चारों प्रकार के कूपचक्र शुद्धि उपलब्ध हो जायें तो उस समय निर्जल (मरुस्थल) भूमि पर भी जल की प्राप्ति होती है। कूपचक्र निम्न हैं -

1. रोहिणीचक्र
2. सूर्यनक्षत्रात् कूपचक्र
3. भौमभात् कूपचक्र
4. राहुभात्कूपचक्र

1. रोहिणीचक्र[15]

दिशा	रोहणी से नक्षत्र संख्या	फल
मध्य	3	स्वादुजल
पूर्व	3	खण्डितजल
आग्नेय	3	स्वादुजल
दक्षिण	3	जल हानि
नैर्ऋत्य	3	स्वादुजल
पश्चिम	3	खाराजल, नमकीनजल

13. बृ.सं. दकार्गल, श्लो. 123, पृ. 375
14. मु.चि. नक्षत्रप्रकरणम्, श्लो. 25, पृ. 99
15. बृ. वां. मा. दकार्गलाध्याय-117-120

वायव्य	3	शीतलजल
उत्तर	3	मीठाजल
ईशान	3	क्षारजल

2. सूर्यनक्षत्रात् कूपचक्रम्[16]

दिशा	नक्षत्र सं.	फल
मध्य	3	स्वादुजल
पूर्व	3	स्वल्पजल
आग्नेय	3	स्वादुजल
दक्षिण	3	जलक्षय
नैर्ऋत्य	3	स्वादुजल
पश्चिम	3	क्षारजल
वायव्य	3	मिश्रितजलम्
उत्तर	3	मिष्टजलम्
ईशान	3	क्षारजलम्

3. भौमभात्कूपचक्र[17]

मंगल के नक्षत्र से नक्षत्र संख्या	फल
1	जल में वध भय
5	धनाप्ति
4	अभङ्ग या अखण्ड जल
3	रोग
3	असिद्धि
4	यश

16. तत्रैव 116
17. तत्रैव 129

3	अर्थ प्रसिद्धि
4	जलभङ्ग

4. राहुभात्कूपचक्र[18]

दिशा	राहुभात् 27 नक्षत्र संख्या	फल
पूर्व	3	शोक
अग्नेय	3	जललाभ
दक्षिण	3	स्वामी नाश
नेर्ऋत्य	3	दु:खदायक
पश्चिम	3	सुख
वायव्य	3	बहुदु:ख
उत्तर	3	स्वामिमरण
ईशान	3	जलद
मध्य	4	शोक

अतः पूर्वोक्त दकार्गलविवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शुभ-मुहूर्त्त में जलाशयों (कूप-बावडी-तालाब आदि) का निर्माण करवाकर पुण्यार्जन करना चाहिए। वास्तुशास्त्रीय पद्धति के आधार पर निर्मित जलाशय मानव के अभ्युत्थान में सहायक होते हैं।

18. बृ. वा. मा. दकार्गलाध्याय 122-125

भूमि चयन

डॉ. विजयलक्ष्मी महापात्र

'वास्तु' शब्द की व्युत्पत्ति 'वस्' धातु से हुई है। इस धातु का अर्थ है–किसी एक स्थान पर निवास करना। उणादि सूत्र (वसेस्तुन् 1-78) के अनुसार इसमें तुन् प्रत्यय लगाया गया है। इसका अभिप्राय होता है–वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करते हैं। (वसन्ति यत्र मानवाः) इसी प्रकार वास्तु शब्द की उत्पत्ति वस्तु शब्द से हुई है। गृह, राजप्रसाद, क्षेत्र, वाटिका, कूप, सेतु, प्रत्येक प्रकार की इमारत, तडाग आदि सभी वास्तु हैं। उत्कृष्ट भूमि गृहस्वामी को सदा प्रसन्न, सुखी, समृद्धिवान् बनाती है तथा पुत्र-पौत्रादि की अभिवृद्धि करने वाली होती है वहीं अपकृष्ट भूमि गृहस्वामी को सदा-सर्वदा के लिए अपयश, दुःख कष्टादि को देने वाली होती है। तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट-अपकृष्ट भूमि का शुभाशुभ सापेक्ष सम्बन्ध गृहस्वामी के जीवन से रहता है। इसलिए शास्त्रोक्त विधि से परीक्षण करने पर यदि भूमि सही एवं शुभ हो, तभी ऐसे परीक्षित भूखण्ड पर भवन निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

भूमि के चयन के सन्दर्भ में प्राचीन वास्तुसिद्धान्त व आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा में काफी समरूपता है। वास्तु उस भूमि को श्रेष्ठ मानता है जिसमें मिट्टी का घनत्व ज्यादा हो। भूमि पथरीली व कठोर होनी चाहिये। वास्तुशास्त्र के आनुसार भूमि का चयन उसके रंग, गंध, स्वाद, ढलान आदि को देखकर करना चाहिये। प्रशस्त भूमि लक्षण इस प्रकार है–

अनूषरा स्निग्धवर्णा प्रशस्त च़ बहूदका।
तृणोपलान्विता या सा मान्य वास्तुविधौ परा।।[1]

अर्थात् उपजाऊ, चिकनी मिट्टी वाली, पानी वाली, घास तथा पत्थरो वाली भूमि शुभ होती है। भूमि का चयन जाग्रतादि लक्षण देखकर भी करना चाहिएं। जाग्रत, सुप्त मृतादि तीन प्रकार की भूमि देखी जाती है। सुप्त तथा मृत भूमि के ऊपर वास करना अशुभ होता है।

जाग्रतादि भूमि लक्षण–

1. जिस भूमि पर उत्तम औषधियाँ, वृक्ष, लताएँ, घास खूब हरी भरी हो, जहाँ की मिट्टी समतल हो ऐसी भूमि को जाग्रत समझना चाहिए। ऐसी भूमि पर निवास करने वाले मनुष्य की सदा अभ्युन्नति ही होती है। यथा–

1. बृहद्वास्तुमाला – पृ सं.-18, श्लो.सं. 77

यत्र वृक्षाः प्ररोहन्ति शस्यं हर्षात् प्रवर्धते।

सा भूमिर्जीविता ज्ञेया मृता वाच्याऽन्यथा बुधैः।।[2]

जिस भूमि पर पहुँचते ही मन और आँखे प्रसन्न हो उस पर घर बनाकर निवास करना चाहिए। यह गर्ग आदि ऋषियों का मत है। जैसा कि-

मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि।

तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।।[3]

2. जिस भूमि की धूलि को लेकर आकाश (ऊपर) की ओर फेंकने पर यदि धूलिकण ऊपर की ओर उठते चले जाएँ तो उस स्थान पर निवास करने वाले की अभिवृद्धि होती है और यह जाग्रत भूमि का लक्षण होता है। अगर धूलिकण न नीचे और न ऊपर की ओर उठे और मध्य में ही स्थिर रह जाए तो भूमि मध्यम कहलाती है। किन्तु उस धूलि के रेणु (कण) का शीघ्र पतन पुनः उसी मिट्‌टी में हो जाए तो वैसी भूमि पर कदापि निवास नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह भूमि मृत अर्थात् सुप्त होती है। इस भूमि पर घर बनाने से स्वामी की अभिवृद्धि कभी नहीं हो पाती।[4]

जो भूमि ऊसर हो जिसमें प्रायः चूहे के बिल हों, छोटे-छोटे गड्ढे हो, दीमकयुक्त हो, ऊबड-खाबड़ हो, काँटेदार वृक्षों एवं पौधों से युक्त हो, ऐसी भूमि मृत या सुप्त कहलाती है। सुप्तभूमि पर निवास करनेवाला कर्ता कभी खुश नहीं रह पाता और उसे जीवन में दुःखों को आत्मसात् कर जीना पड़ता है।[5]

ब्राह्मणादि भूमि-भूमि के रङ्ग के अनुसार ब्राह्मणादि भूमि के लक्षण लिखे गये हैं। यथा-सफेद वर्ण की मिट्टी वाली भूमि को ब्राह्मणी, लालवर्ण को क्षत्रिया, हरित को वैश्या तथा काले वर्णवाली भूमि को शूद्रा कहा जाता है। ब्राह्मणी भूमि सुखद, क्षत्रिया राज्यप्रद, हरित धनधान्य और शूद्रा भूमि त्याज्य होती है। मतान्तर से ब्राह्मणादि वर्गों के लिये क्रमशः सफेद, लाल, पीली, और काली भूमि विप्रादिकों लिए होती है। साथ ही क्रमशः घृतगन्धा, रक्तगन्धा, अन्नगन्धा और मद्यगन्धा भूमि भी विप्रादिकों के लिए होती है। ब्राह्मणादि वर्णो के लिए क्रम से कुशों से युक्त मुञ्जों से युक्त, दूर्वा से युक्त एवं कासों से युक्त भूमि शुभ होती है। तथा क्रम से मीठी, कषैली खट्टी और कड़वी मिट्टी वाली भूमि शुभ होती है। यथ-

सिता रक्ता पीता कृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते भूमिः।
गन्धश्च भवति यस्या घृतरुधिरान्नामद्यसमः।।

---

2. वास्तुरत्नाकर - 1.63
3. बृ. वा. मा. - पृ.सं. 21, श्लो.सं. 93
4. वास्तुशास्त्रविमर्श - अ. 12, पृ. 57
5. वा. वि. - अ 12, पृ. 57
6. बृहत्संहिता-वास्तुविद्याऽध्यायः -श्लो.सं. 94, 95

कुशयुक्ता शरबहुला दुर्वाकाशाहतक्रमेण मही।
ह्यनुवर्ण वृद्धिकरी मधुरकषायाम्लकटुका च।।[6]

इसी क्रम में अन्य आचार्य का मत प्राप्त होता है कि-

शुभस्य शुभदा ज्ञेया दशा पापस्य चाधमा
शुक्ला मृत्स्ना च या भूमि ब्राह्मणी सा प्रकीर्तिता[7]

और प्रकारान्तर में-

ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला।
कुशाकाशाकुला वैश्या शूद्रा सर्वतृणाकुला।।[8]

ब्राह्मणादि भूमि के फल-

ब्राह्मणी सर्वसुखदा क्षत्रिया राज्यदा भवेत्।
धनधान्यकरी वैश्या शूद्रा तु निन्दिता स्मृता।।[9]

अर्थात् ब्राह्मणी भूमि सुख देने वाली, क्षत्रिया राज्यप्रदा, वैश्या धनधान्य देने वाली और शूद्रा भूमि त्याज्य होती है। प्रशस्त भूमि के अन्य कुछ लक्षण-

शस्तौषधि द्रुमलता मधुरा सुगन्धा।
स्निग्धा समान सुषिरा च मही नराणाम्।।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां
धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।[10]

अर्थात् प्रशस्त औषधि वाली द्रुम (याज्ञिकवृक्ष-पलाश आदि) वाली, लताओं से युत, मधुर मिट्टीवाली, सुगन्धित, निर्मल, समान और छिद्ररहित भूमि मार्ग में गमन से उत्पन्न श्रम को हटाने की इच्छा से वहाँ पर थोड़ी देर के लिये बैठे मनुष्य को भी लक्ष्मी प्रदान करती है। फिर ऐसी भूमि पर सदा भवनाादि में निवास हो तो उसके सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है? अर्थात् उनको तो अवश्य ही लक्ष्मी की प्राप्ति कराती है।

गृह निर्माणस्थल की भूमि परीक्षा-

निर्माणं पत्तनग्रामगृहादीनां समासतः।।
क्षेत्रमादौ परीक्षेत गन्धवर्णरसप्लवैः।।[11]

---

7. बृहत्वास्तुमाला - श्लो.सं. 27, 28, पृ.-8
8. वृ. वा. मा. - पृ.सं.-8, श्लो सं. 29
9. बृ. वा. मा. - पृ.सं -9, श्लो.सं. 32
10. बृहत्संहिता-वास्तुविद्याऽध्यायः-53, श्लो.सं. 86
11. नारदसंहिता-नवदशोऽध्यायः - वास्तुविधानाध्यायः। श्लो.सं.-1

अर्थात् किसी नगर, ग्राम अथवा आवास के निर्माण के पूर्व साररूप में उसके क्षेत्र (निर्माणस्थल) की गन्ध, वर्ण, रस तथा प्लव द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिए।

गन्ध, वर्णादि के ज्ञान के अनन्तर अब प्लव विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है

उत्तर की ओर ढलान वाली भूमि ब्राह्मणों के लिये, पूर्व की ओर ढलान वाली भूमि क्षत्रियों के लिये, दक्षिण की ओर ढलान वाली भूमि वैश्यों के लिये और पश्चिम की ओर ढलान वाली भूमि शूद्रों के लिये शुभ होती है। चारों ओर ढलान वाली भूमि में भी ब्राह्मण गृह का निर्माण करा सकता है लेकिन शेष वर्णो के लिये अपनी दिशा की ढलान वाली भूमि पर ही गृहनिर्माण करना शुभदायक है। यथा-

उदगादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव।
विप्रः सर्वत्र वसेदनुवर्णमथेष्टमन्येषाम्॥[12]

पूर्व दिशा की ओर भूमि ढालदार हो तो धनप्राप्ति, अग्निकोण में दाह, दक्षिण में मृत्यु, नैर्ऋत्य में धननाश, पश्चिम में पुत्रहानि, वायव्य में परदेश में निवास, उत्तर में धनागम, ईशान में विद्यालाभ होता है। बीच में गड्ढ़े वाली भूमि कष्टदायक होती है। यथा-

श्रियं दाहं तथा मृत्युं धनहानिः सुतक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च॥
विदध्यादचिरेणैव पूर्वादिप्लवतो मही।
मध्यप्लवा मही नेष्टा न शुभा प्लवतत्परा॥[13]

मतान्तर में-

शम्भुकोणे प्लवा भूमिः कर्तुः श्रीसुखदायिनी।
पूर्वप्लवा वृद्धिकरी धनदा तूत्तरप्लवा॥
मृत्युशोकप्रदा नित्यमाग्नेयी दक्षिणप्लवा।
गृहक्षयकरी सा च भूमिर्या निर्ऋतिप्लवा।
वायुप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेगकारिणी॥[14]

उत्कृष्ट भूमि गृहस्वामी को सदा प्रसन्न, सुखी, समृद्धिवान् तथा पुत्रपौत्रादि की अभिवृद्धि करने वाली सिद्ध होती है तो वहीं अपकृष्ट भूमि गृहस्वामी को सदा सर्वदा के लिए अपयश, मानसिक तनाव, दुःख कष्टादि को देनेवाली होती है। अतः उत्कृष्ट भूमि पर भवन निर्माण का कार्य

---

12. बृहत्संहिता-वास्तुविद्याऽध्यायः-53, श्लो.सं.-89
13. बृहद्वास्तुमाला-पृ. 10, श्लो.सं-35, 36
14. बृहद्वास्तुमाला-पृ. 10-श्लो सं-37, 38, 39

प्रारम्भ करना चाहिए।

उत्कृष्ट भूमि का परीक्षण-

उत्कृष्ट भूमि का परीक्षण वास्तुशास्त्र की निम्न व्यवस्थानुसार करना चाहिये।

भूमि के परीक्षण के लिये एक हाथ लम्बा-चौड़ा और गहरा गड्ढा खोदकर उसमें पूर्णतया पानी भर दें। पानी भरने के पश्चात् उसी समय देखें कि यदि गड्ढे में पानी जैसा का तैसा है तो यह भूमि उत्तम लक्षण वाली शुभद, यदि पानी सूख जाए तो गृहेश का नाश करने वाली अशुभ, खात में जल स्थिर बना रहे तो गृहेश को स्थिरता प्रदान करनेवाली, पानी दक्षिणावर्त घूमे तो सुख और वामावर्त घूमें तो मृत्यु देने वाली होती है। यथा बृहद्वास्तुमाला में मिलता है-

स्थिरे जले वै स्थिरता गृहस्य, स्याद्दक्षिणावर्त्तजलेन सौख्यम्।
क्षिप्रं जलं शोषयतीह खातो मृत्युर्हि वामेन जलेन मृत्युः॥[15]

इसी सन्दर्भ में और भी

हस्तमात्रं खनेत्सखातं निशादौ जल पूरितम्।
प्रातर्दृष्टे जले वृद्धिः समं पङ्के व्रणं क्षये॥[16]

वास्तुभूमि का शुभाशुभ लक्षण जानने के लिए शास्त्रों में कहा जाता है कि जिस भूखण्ड पर गृह-निर्माण करना हो उसे हल से अच्छी तरह जोतकर उसमें अनाज के बीज बो दें। यदि वे बीज नियत समय में सही-सही अङ्कुरित तीन-पाँच-या सात रातों में हो तो वह भूखण्ड शुभाशुभ समझा जाता है। यदि तीन रातों में ये बीज अङ्कुरित हो तो श्रेष्ठ भूखण्ड पाँच रातों में बीज अङ्कुरित हो तो मध्यम भूखण्ड और यदि सात रातों में बीज अङ्कुरित हो तो वास करने के लिये वह भूमि अधम अर्थात् अशुभ होती हैं।

इस तरह किसी भी नई भूमि पर गृह निर्माण से पूर्व भूमि परीक्षण के तौर पर पहले उस भूमि में सर्वमान्य धान्य-तिल-यव या सरसों को ही बोयें। यथा-

तिलानू वो वापयेतत्र यवांश्चापि सर्वपान॥[17]

'बोये गएै' धान यदि समग्र अङ्कुरित होकर हरे-भरे लहलहाते हुए अधिक अन्न की उपज दें तो गृह-निर्माण हेतु वह भूमि उत्तम होती है। उपजा हुआ अन्न न अधिक हो और न कम अर्थात् सामान्य हो तो वह भूमि बसने हेतु मध्यम और यदि उपज नगण्य हो तो वैसी भूमि निवास हेतु कदापि शुभ नहीं होती। यथा-

यत्र नैव प्ररोहन्ती तां प्रयत्नेन वर्जयेत्॥[18]

15. वास्तुप्रदीप -101
16. नारदसंहिता - 31.5
17. वास्तुशास्त्रविमर्श-पृ. 52, अध्याय-11
18. वास्तुशास्त्रविमर्श-पृ. 52, अध्याय-11

वास्तुशास्त्र के अनुसार अन्य उपायों से भी गृहनिर्माण हेतु भूमि का परीक्षण होता है। यथा-

भूमि खोदने पर यदि पत्थर मिल जाये तो सुवर्णलाभ, धन व आयु की वृद्धि होती है। ईट मिले तो धनागम व समृद्धि एवं ताम्रादि धातु मिलने से सब प्रकार की वृद्धि होतो हैं। यदि कपाल, हड्डी, कोयला, या केश आदि मिले तो रोग व पीड़ा होती है। यथा-

खन्यमाने यदा भूमौ पाषाणं प्राप्यते तदा।
धनायुश्चिरता वै व्यादिष्टकासु धनागमः।
कपालांगारकेशादौ व्याधिना पीडितो भवेत्।।[19]

भूमि खोदने पर दीमक, सर्प निकले तो उस भूमि पर निवास न करे। जली हुई लकड़ी रोगकारक होती है। खप्पर से कलह व लोहे से गृहस्वामी की मृत्यु होती है। अतः गृहनिर्माण से पूर्व इन सबका भली-भांति अध्ययन कर लेना चाहिये।[20]

उपर्युक्त सभी बातों को सब प्रकार से शास्त्रानुरूप जाँच परखकर ही निर्माणार्थ भूखण्ड का चयन करना वाहिए।

---

19. वास्तुप्रबोधिनी - अध्याय-4, पृ. 22
20. वास्तुप्रबोधिनी - अध्याय-4, पृ. 23

गृह-द्वार निर्णय

डॉ. अनिल कुमार

वेदाङ्गों में नेत्र रूपात्मक ज्योतिष शास्त्र के संहिता स्कन्ध के अन्तर्गत वराहमिहिरादि आचार्यों ने वास्तु की सत्ता स्वीकार की है। वास्तु शास्त्र की श्रेष्ठता को सिद्ध करने वाले अनेक प्राचीन भवन, मंदिर आदि हैं, जो युगों से अपने मनोहारी रूप के साथ आज भी स्थिर हैं। केदारनाथ मंदिर के पास आज के आधुनिक विज्ञान के अनुसार बने हुए दृढ भवन वहाँ आए जल त्रासदी से विलीन हो गए किन्तु वास्तु शास्त्र के नियमों से निर्मित केदारनाथ मंदिर सुरक्षित रहा। ऐसी कल्याणकारी और गौरवमयी हमारी प्राचनि वास्तुकला रही है। इस वास्तु विद्या के अठारह उपदेशकों का नामोल्लेख मत्स्यपुराण के अनुसार इस प्रकार है–

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरूद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।[1]

उपर्युक्त सभी आचार्यों का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में घर अवश्य बनाना चाहिए, क्योंकि घर ही स्त्री-पुत्रादि भोगों को, सुख, धर्म, अर्थ, और काम का प्रदाता तथा सर्दी, गर्मी, वायु आदि के कष्टों से रक्षा करने वाला स्थान है। इसी सन्दर्भ में बृहद्वास्तुमाला में उपलब्ध होता है कि–

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदं
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेह पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥[2]

1. मत्स्यपुराण, अध्याय 251, श्लोक 2-3
2. बृहद्वास्तुमाला, पृष्ठ 2, श्लोक 4

घर निर्माण हेतु वास्तुशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त पञ्चमहाभूतों का सन्तुलन बनाना है। जैसे पाञ्चभौतिक शरीर में यदि अग्नि, पृथिवी, वायु, जल एवं आकाश के असन्तुलित होने से मनुष्य के रूप, गन्ध, स्पर्श, रस, शब्द की ग्राहक इन्द्रियों में विकार तथा रोगी शरीर होना निश्चित है, इसी तरह भवनादि में भी पञ्चमहाभूतों के अव्यवस्थित होने से भवन में निवास करने वालों पर निःसन्देह बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि **'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** का नियम सर्वत्र सिद्ध है। वास्तुनिर्माण मुहूर्त से सम्बन्धित विषय शास्त्र पर चर्चा प्रस्तुत है।

द्वार स्थापनविधि-

द्वार स्थापन विधि में द्वार की दिशा तथा द्वार के आकार का विवेचन वास्तु के प्रायशः सभी ग्रन्थों में दिखाई देता है।

द्वार की दिशा-बृहद्वास्तुमाला नामक ग्रन्थ के अनुसार ब्राह्मण राशि (कर्क, वृश्चिक, मीन) वालों के लिये पूर्व द्वार, क्षत्रिय राशि (मेष, सिंह, धनु) के लोगों के लिये उत्तर द्वार, वैश्य राशि (वृष, कन्या, मकर) वालों के लिये दक्षिण द्वार तथा शूद्र राशि (मिथुन, तुला, कुम्भ) के मनुष्यों के लिये पश्चिम द्वार भी शुभ होता है।[3] यहाँ राशियों के वर्ण के अनुगुण विवेचन करने के बाद आचार्यों ने सामाजिक जातियों के अनुसार भी द्वार स्थापन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ब्राह्मणों को ध्वज आय तथा पश्चिम में द्वार बनाना श्रेष्ठ है, क्षत्रियों को सिंह आय का उत्तर द्वार वाला घर बनाना उत्तम है, वैश्यों को वृष आय वाला पूर्व द्वार युक्त गृह निर्माण करना चाहिए और शूद्रों को गज आय से युक्त दक्षिणमुखी घर बनाना चाहिए। आचार्य रामदैवज्ञ का मत है कि ध्वज आय को सभी दिशाओं में, सिंह आय को पश्चिम को छोड़कर अन्य दिशाओं में, गज आय को दक्षिण तथा पूर्व दिशा में और वृष आय को पूर्व दिशा में द्वार शुभ रहता है। यथा–

ध्वजादिकाः सर्वदिशि ध्वजे मुखं कार्यं हरौ पूर्वयमोत्तरे तथा।
प्राच्यां वृषे प्राग्यमयोर्गजेऽथवा पश्चादुदक्पूर्वयमे द्विजादितः॥[4]

गृह के द्वार निर्माणार्थ गृहखण्ड का निर्धारण करते हुए बृहद्वास्तुमालाकार लिखते हैं कि–

नवभागं गृहं कृत्वा पञ्चभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कार्यं शेषं द्वारं प्रकीर्तितम्॥[5]

घर की चौड़ाई को 9 से भाग दें, उन 9 खण्डों से पाँच भाग दक्षिण की तरफ और तीन भाग उत्तर की ओर छोड़कर शेष भाग में द्वार बनाना चाहिए। घर से बाहर निकलते हुए जो वाम पडे उसे उत्तर तथा दक्षिण दिशा में पड़ने वाले भाग को दक्षिण समझना चाहिए ऐसा वास्तुरत्नावलीकार का मत है।

---

3. बृहद्वास्तुमाला, पृष्ठसंख्या-91, श्लोक-149
4. मुहूर्तचिन्तामणि, अध्याय-12, श्लोक-5
5. बृहद्वास्तुमाला, पृष्ठ 2, श्लोक 4

आचार्य वराहमिहिर ने नगर, ग्राम, गृह आदि के इक्यासी पद, चौंसठ पद आदि जो भेद वर्णित किये हैं, उन भेदों में वास्तु नर के सभी अंगों को कल्पित कर द्वार स्थापन हेतु शुभाशुभ स्थानों को निश्चित किया है। इक्यासी पद में नवगुणित सूत्र से और चौंसठ पद में अष्टगुणित सूत्र से विभक्त होकर जो अनल आदि बत्तीस द्वार बनते हैं, उनके फल इस प्रकार हैं–

पूर्व दिशा में द्वार के फल–पूर्व दिशा में शिखी, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश और अन्तरिक्ष नामक आठ देवता स्थित रहते हैं, उनमें से शिखी के ऊपर द्वार बनाने से गृहस्वामी को अग्नि भय, पर्जन्य पर कन्या जन्म, जयन्त पर अत्यधिक धन प्राप्ति, इन्द्र पर राजा की प्रसन्नता, सूर्य पर अधिक क्रोध, सत्य पर असत्य भाषण, भृश पर क्रूरता तथा अन्तरिक्ष के ऊपर द्वार बनाने से तस्करता आती है।

दक्षिण दिशा में द्वार के फल–अनिल, पूषा, वितथ, बृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज और मृग ये आठ देवता दक्षिण दिशा में स्थित हैं। इन आठ देवताओं में से अनिल के पद पर द्वार बनाने से गृहपति को अल्पपुत्रता, पौष्ण पर दासता, वितथ पर नीचता, बृहत्क्षत पर भोजन, पेय पदार्थों तथा पुत्रों की वृद्धि, यम पर अशुभता, गन्धर्व पर कृतघ्नता, भृङ्गराज पर निर्धनता और मृग के ऊपर स्थित द्वार पुत्र के बल का विनाशक होता है।

पश्चिम दिशा में द्वार के फल–पश्चिम दिशा में पितर, दौवारिक, सुग्रीव, कुसुमदन्त, वरुण, असुर, शोष और पापयक्ष्मा क्रम से ये आठ देवता अवस्थित हैं, द्वार पितर पर बनाने से गृहेश के पुत्रों को कष्ट दौवारिक पर शत्रुओं की वृद्धि, सुग्रीव पर पुत्र और धन का लाभ, कुसुमदन्त पर पुत्र और धन सम्पत्ति का लाभ, वरुण पर धन सम्पत्ति की प्राप्ति, असुर पर राजभय, शोष पर धननाश तथा पापयक्ष्मा पर द्वार होने से रोगों से पीडा प्राप्त होती है

उत्तर दिशा में द्वार के फल–रोग, सर्प, मुख्य, भल्लाट, सोम, भुजग, अदिति और दिति ये आठ देवता उत्तर दिशा में स्थित हैं। इनमें से रोग के ऊपर द्वार निर्माण करने से घर के स्वामी की मृत्यु या बन्धन सर्प पर शत्रुओं की वृद्धि, मुख्य पर पुत्र और धन का लाभ, भल्लाट पर शौर्यादि गुणों की सम्पत्ति, सोम पर पुत्र और धन की प्राप्ति, भुजंग पर पुत्र से द्वेव अदिति पर स्त्री के द्वारा दोष तथा दिति पर द्वार स्थापन करने से निर्धनता मिलती है।

चौसठ पद वास्तु में पर्जन्यादि देवों के 32 द्वार की सारणी[6]

पूर्व

	शिखी पर्जन्य जयन्त इन्द्र सूर्य सत्य भृश अन्तरिक्षअनिल	
	दिति	पूषा
	अदिति	वितथ
	भुजग	बृहक्षत
उत्तर	सोम	यम **दक्षिण**
	भल्लाट	गन्धर्व
	मुख्य	भृङ्गराज
	नाग	मृग
	रोग पापयक्ष्मा शोष असुर वरुण कुसमदन्त सुग्रीव दौवारिक पिता	

पश्चिम

द्वार परिमाण–मत्स्यपुराण के अनुसार 150, 140, 130, 120, 110, 180, 190, 116, 109 तथा 80 अङ्गुलात्मक दस भेद द्वार की ऊँचाई के उत्तम रहते हैं। इन उक्त ऊँचाईयों को छोडकर द्वारों की अन्य प्रकार की ऊँचाईयां उन्माद रूपी अशुभ फल देने वाली होती हैं। इस सन्दर्भ में शिल्पदीपक में कहा गया है कि–

दैर्घ्ये सार्धशताङ्गुलं च दशभिर्हीनं चतुर्धाः विधिः
प्रोक्तं वाऽथ शतं त्वशीतिसहितं युग्मं नवत्या शतम्।
तद्वत् षोडशभिः शतं च नवभिर्युक्तं तथाशीतिकं
द्वारं मत्स्यमतानुसारि दशकं योग्यं विधेयं बुधैः।।[7]

इसी प्रकार द्वार के उत्तम, मध्यम, व कनिष्ठ संज्ञक तीन भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है यदि गृहविस्तार (चौडाई) जितने हाथ का हो उतने अङ्गुल में 70 अथवा 60 अथवा 50 अङ्गुल और जोडने से जो नाप मिले उतना ही ऊँचा द्वार हो तो द्वार क्रम से उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ होता है। द्वार की ऊँचाई का आधा और सोलहवें भाग को मिलाने से जो नाप आए उतना ही चौडा द्वार बनाना श्रेष्ठ होता है। द्वार की ऊँचाई के तीन भागों में से दो भाग जितना चौडा द्वार मध्यम तथा द्वार की ऊँचाई के आधे भाग बराबर चौड़ाई वाला द्वार कनिष्ठ माना जाता है।[8] जिस द्वार की ऊँचाई

---

6. बृहत्संहिता, अध्याय-53, श्लोक- 69-73
7. शिल्पदीपकम्, तृतीयप्रकरण, श्लोक-36
8. शिल्पदीपकम्, पञ्चमप्रकरण, श्लोक-13

15 हाथ हो वह श्रेष्ठ, 13 हाथ ऊँचा द्वार मध्यम और 11 हाथ ऊँचा द्वार कनिष्ठ द्वार कहलाता है।

आचार्यों का मानना है कि द्वार परिमाण व्यवस्थित न करने से अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है नियम से अधिक प्रमाण वाले द्वार का उपयोग करने वाले के परिजनों को बिमारियाँ घेर लेती हैं। परिमाण से हीन द्वार धननाशक होते हैं। अतः कल्याण प्राप्ति हेतु द्वार का प्रमाण सही होना चाहिए।

द्वार वेध–

द्वार वेध से अभिप्राय है द्वार के सम्मुख किसी स्थिर वस्तु का स्थित रहना। जो गृह निवासियों के लिए कष्ट प्रद हो वास्तु शास्त्र में द्वार वेध का अत्यधिक अनिष्ट फल माना गया है। गृह द्वार, यदि मार्ग वृक्ष, कोण (दूसरे घर का कोना), कूप, स्तम्भ, परनाला (जल निकलने का स्थान) आदि से विद्ध हो तो अशुभ माना जाता है। द्वार वेध जनित अशुभ फलों के बारे में आचार्य वराहमिहिर का मत है कि यदि गृह द्वार मार्ग विद्ध हो तो गृहस्वामी की मृत्यु, वृक्ष से वेधित हो तो बालकों में दोष, कीचड़ से विद्ध हो तो शोक, परनाला से वेध हो तो व्यर्थ खर्च, कूप से विद्ध होने पर मिरगी रोग से पीडा, देवता की प्रतिमा से वेध होने पर विनाश स्तम्भ से विद्ध होने से स्त्रियों में दोष तथा ब्राह्मण के गृह से विद्ध गृहद्वार होने से सम्पूर्ण वंश का ही नाश हो जाता है। जैसा कि बृहत्सहिता में मिलता है–

रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषद तरुणा।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्राविणि प्रोक्तः॥
कूपनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे॥
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्राह्मणाभिमुखे।[9]

वेध फल सारणी

वेध कारक	मार्ग	वृक्ष	कीचड़	परनाला	कूप	देवता की प्रतिमा	स्तम्भ	ब्रह्म
फल	गृहस्वामी की मृत्यु	बालकों का नाश	शोक	व्यर्थ व्यय	मिर्गी रोग	गृहेश की मृत्यु	स्त्रियों में दोष	सम्पूर्ण वंश का नाश

द्वार वेध के साथ-साथ वास्तुविद् पूर्वाचार्यों ने उसके परिहारों की भी विस्तृत चर्चा की है। शिल्पदीपक ग्रन्थ में उल्लिखित है कि द्वार निर्माण करते समय यदि द्वार वेध हो रहा हो किन्तु वेध करने वाली वस्तु घर की ऊँचाई से दोगुनी दूरी पर स्थित हो तो वेध का दोष नहीं लगता। इसी प्रकार यदि वेध करने वाली वस्तु और द्वार के बीच में कोई दीवार, किला, परकोटा, राजमार्ग अथवा सामने स्थित मकान के दो कोने हों तो वेध का अशुभ दोष नहीं रहता।

---

9. बृहत्संहिता, अध्याय-53, श्लोक- 75-76

द्वार विद्धमशोभनं च तरुणा कोणभ्रमस्तम्भकैः
कूपेनापि च मार्गदेवभवनैर्विद्धं तथा कीलकैः।
उच्छ्रायाद् द्विगुणां विहाय पृथिवीं वेधो न भित्त्यन्तरे
प्राकारान्तर-राजमार्गपरितो वेधो न कोणद्वये।।[10]

द्वार स्थापन के विशेष नियम—द्वार निर्माण के समय द्वार की दिशा, ऊँचाई-चौडाई, वेध के अतिरिक्त कुछ विशेष ध्यातव्य नियमों को भी आचार्यो ने प्रतिपादित किया है जो इस प्रकार हैं—

1. जिस घर का दरवाजा बिना खोले स्वयं ही खुल जाय उस घर में रहने वाले को उन्माद होता है।

2. यदि किवाड स्वतः बन्द हो तो कुल नाश होता है।

3. एक घर के द्वार पर दूसरे खण्ड का द्वार पडे तो शुभ नहीं होता।

4. जिस द्वार की मोटाई कम हो वह अशुभ माना जाता है।

5. मृदङ्ग की आकृति वाला बहुत बडा द्वार क्षुधा भय देता है।

6. कुबडा द्वार वंश का नाशक होता है।

7. ऊपर के काष्ठादि के भार से दबा हुआ द्वार गृहस्वामी को कष्ट देता है।

8. अन्दर की तरफ झुका हुआ द्वार गृहेश के लिये मृत्यु कारक होता है।

9. बाहर की तरफ झुका हुआ गृह द्वार घर के मालिक को प्रवासी बनाता है।

10. द्वार पर यदि गूलर का पेड लगा हो तो गृहपति के लिये कष्टकारक सिद्ध होता है।

11. दिग्भ्रान्त द्वार गृहस्वामी को चोरों से पीडा पहुँचाता है।

12. मुख्य द्वार की सुन्दरता बढ़ाने के लिए जितनी वस्तुओं का प्रयोग किया गया हो उससे कम वस्तुओं का अन्य द्वारों की शोभा हेतु उपयोग करना चाहिए।

13. कलश, श्रीफल, पत्र, पुष्पादि से प्रमुख द्वार की सुन्दरता बढ़ानी चाहिए।[11]

14. यदि दरवाजा खुलते समय अश्व जैसा नाद करे तो गृह स्वामी की मृत्यु होती है।

15. दरवाजा कम्पन युक्त हो तो महारोग कारक होता है।

16. जिस घर के किवाड के खुलते समय कठिनाई हो वहाँ रहने वाले मनुष्य के वंश का नाश होता है।[12]

---

10. शिल्पदीपकम्, तृतीयप्रकरण, श्लोक-35
11. बृहत्संहिता, अध्याय-53, श्लोक-77-80
12. शिल्पदीपकम्, चतुर्थप्रकरण, श्लोक-19

द्वार स्थापन मुहूर्त-

गृह निर्माण का कार्य सम्पादित करने के लिए भी उचित शुभ काल अर्थात् शुभ मुहूर्त की आवश्यकता होती है, तो गृहनिर्माणारम्भ, द्वार स्थापनादि कार्यों में शुभ मुहूर्तों की परमावश्यकता का ही नहीं अपितु अनिवार्यता का अनुमान किया जा सकता है। **'द्वारशुद्धिं निरीक्ष्यादौ'**[13] वाक्य से गृहारम्भ विधि में द्वार के मुहूर्त का विचार सबसे पहले करने का निर्देश बृहद्वास्तुमाला नामक ग्रन्थ में मिलता है, पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित द्वार स्थापन के तिथि, नक्षत्रादि इस प्रकार हैं-

द्वार स्थापन हेतु तिथियां-द्वार स्थापन के लिये सप्तमी, अष्टमी, नवमी तिथियां शुभ मानी जाती हैं, पञ्चमी तिथि में द्वार स्थापन करने से धन लाभ होता है, अतः द्वार स्थापन में पञ्चमी, सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी शुभ मानी जाती हैं।

प्रतिपदा में द्वार स्थान से दुःख प्राप्ति, द्वितीया में धन हानि तथा पुत्र- पशु आदि का विनाश, तृतीया में रोग, चतुर्थी में भंग, षष्ठी में कुल नाश, दशमी में धन नाश तथा पूर्णिमा और अमावस्या में द्वार स्थापन करने से शत्रुता रूपी अशुभ फल मिलते हैं।

पञ्चमी धनदा चैव मुनिनन्दवसौ शुभम्।
प्रतिपत्सु न कर्त्तव्यं कृते दुःखमवाप्नुयात्॥
द्वितीयायां द्रव्यहानिः पशुपुत्रविनाशनम्।
तृतीया रोगदा ज्ञेया चतुर्थी भङ्गकारिणी॥
कुलक्षयं तथा षष्ठी दशमी धननाशिनी॥
विरोधकृदमा पूर्णा न स्याच्छाखावरोपणम्॥[14]

नक्षत्र तथा वार-द्वार स्थापन के नक्षत्रों के विषय में आचार्यों ने मतान्तर हैं। मुहूर्तमुक्तावलीकार के अनुसार रेवती अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, हस्त, अश्विनी, चित्रा, स्वाती और पुनर्वसु नक्षत्र द्वार स्थापन में शुभ हैं। वहीं कुछ विद्वानों ने अश्विनी, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरभाद्रपदा, स्वाती, रेवती और रोहिणी नक्षत्रों को शुभ माना है। गुरु के मत में चर नक्षत्र (स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा) तथा ध्रुव संज्ञक (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, रोहिणी) शुभ रहते हैं।

मुहूर्तमुक्तावली में द्वार स्थापन हेतु रविवार, सोमवार, बुधवार गुरुवार तथा शुक्रवार को शुभ बताया है। गुरु ने बुधवार तथा शुक्रवार को विशेष शुभ कहा हैं। इसी क्रम में आचार्यों ने स्थिर तथा द्विस्वभाव लग्नों को उत्तम माना है।[15]

---

13. बृहद्वास्तुमाला, पृष्ठसंख्या-3, श्लोक-8
14. बृहद्वास्तुमाला, पृष्ठ-98, श्लोक-169-171
15. बृहद्वास्तुमाला, पृष्ठ- 98, श्लोक-173-174

द्वार चक्र-द्वार स्थापन के मुहूर्त का विचार करते हुए वास्तुशास्त्र के मर्मज्ञों ने द्वार चक्र नामक शुद्धि का विचार किया है। इस द्वार चक्र के सन्दर्भ राम दैवज्ञ ने लिखा है कि जिस दिन द्वार स्थापित करना हो उस दिन सूर्य के नक्षत्र से वर्तमान नक्षत्र (चान्द्र नक्षत्र) तक गिन कर प्रथम 4 नक्षत्र सिर में (दरवाजा के शिर में) रखें, उनमें द्वार स्थापन करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। उसके अनन्तर अग्रिम 8 नक्षत्र चारों कोणों में लिखें इनमें कपाट लगाने से गृहेश को उद्वेग होता है। फिर उसके बाद के 8 नक्षत्रों को दोनों भुजाओं (शाखाओं) में रखें, इनमें दरवाजा लगाने से उस घर में रहने वाले लोगों को सर्वदा सुख प्राप्त होता रहता है। उसके अनन्तर 3 नक्षत्र देहली में स्थापित करें, इनमें दरवाजा लगवाया जाए तो घर के मालिक की मृत्यु हो जाती है तथा अन्तिम के 4 नक्षत्र मध्य के हैं इन नक्षत्रों में यदि दरवाजा लगाया जाए तो सुख मिलता है।

द्वार स्थापन के नक्षत्र तथा उनके फल[16]

स्थान	सिर	कोण	शाखा	देहली	मध्य
नक्षत्र	4	8	8	3	4
फल	लक्ष्मी	उद्वेग	सुख	मृत्यु	सुख

जो लोग घर बनाते समय द्वार की दिशा, द्वार की लम्बाई-चौडाई, द्वार के वेध, द्वार स्थापन के मुहूर्त आदि के नियमों का पालन नहीं करते निश्चित ही उन्हें अनेक कष्टों का अनुभव करना पड़ता है, क्योंकि ये सारे नियम घर की ऊर्जा से सन्दर्भित हैं। अतः घर से प्राप्त होने वाले सभी अभीष्ट सुखों को पाने के लिये मनुष्यों को वास्तुशास्त्रोक्त विधि से द्वार स्थापन का भली-भाति निर्णय करना चाहिए।

---

16. मुहूर्तचिन्तामणि, अध्याय-12, श्लोक-29

जयपुर का हवामहल

डॉ॰ रीतिका जैन

जयपुर नगर जिसे गुलाबी नगर के नाम से भी जाना जाता है, राजस्थान राज्य की राजधानी है। आमेर के तौर पर यह प्राचीन रजवाड़े की भी राजधानी रही है। जयपुर अपनी समृद्ध भवन निर्माण-परंपरा, सरस-संस्कृति और ऐतिहासिक महत्त्व के लिये प्रसिद्ध है। जयपुर शहर की पहचान यहाँ के महलों और पुराने घरों में लगे गुलाबी धौलपुरी पत्थरों से होती है, जो गुलाबी नगरी के स्थापत्य की खूबी है। 1876 में तत्कालीन महाराज सवाई रामसिंह ने इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रिंस ऑफ वेल्स युवराज अलबर्ट के स्वागत में पूरे शहर को गुलाबी रंग से आच्छादित करवा दिया था। तभी से शहर का नाम गुलाबी नगरी पड़ा है।[1]

भारत के गुलाबी नगर के नाम से प्रसिद्ध जयपुर अपने बेजोड़ नगर नियोजन के लिये विश्व विख्यात है। इस शहर का शिलान्यास कछवाहा वंश के महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय ने 18 नवम्बर 1727 में किया था। नगर के प्रमुख महलों, सड़कों और वर्ग को पूरा करने में लगभग 4 साल लगे थे। भारतीय वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन करते हुये गुलाबी नगरी का नियोजन किया गया था। इस शहर का नियोजन पं. विद्याधर चक्रवर्ती ने किया था। उन्होंने शहर को 9 वर्गों के सिद्धान्त के आधार पर विभाजित किया था। जयपुर के राजमार्ग ज्यामितिक सूत्रों और गणितीय सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर बनाये गये थे। इन राजमार्गों के संगम, एक नाम और आकार के चौराहों या चौपड़ों पर होते हैं, जिनके बीच में फव्वारे लगे हुये हैं जो इन चौराहों को अनोखी सुन्दरता प्रदान करते हैं। शहर की मुख्य सड़क 111 फीट चौड़ी व अन्य सड़कें 54‘26‘, 13‘-6’ फीट चौड़ी हैं। 111 अंक हिन्दू धर्म में पवित्र संख्या मानी जाती है इसलिये भी इन सड़कों को भाग्यशाली और उन्नति प्रदायक माना जाता है। प्रत्येक गली को एक ग्रह मानते हुये दुकानों को 9 के गुणांक में बनाया गया था। दुकानों पर पुता हुआ गाढ़ा गुलाबी रंग सारे नगर को सूर्योदय और सूर्यास्त के समय एक अनुपम गुलाबी आभा से भर देता है। प्रत्येक सड़क पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर निर्देशित की हुई है। नगर को सुरक्षित रखने के लिये इस नगर के चारों ओर एक परकोटा बनवाया गया। जिसमें प्रवेश के लिये 7 दरवाज़े बनाये गये-

1. पूर्व दिशा के द्वार (दरवाजा) को सूरज पोल द्वार कहा जाता है। पूर्व दिशा में सूर्योदय होने से इस द्वार का नाम सूरज पोल रखा गया।

---

1. सुब्रह्मणियम, पा.ना. ‘गुलाबी नगरी-जयपुर’ मल्हार-वर्ल्डप्रेस, PP.03
2. सुब्रह्मणियम, पा.ना. ‘गुलाबी नगरी-जयपुर’ मल्हार-वर्ल्डप्रेस, PP.3

2. पश्चिम दिशा में चन्द्रदर्शन होने से इस दिशा का द्वार चाँद पोल (चन्द्र द्वार) कहा जाता है।

3. ध्रुव तारे की उत्तर दिशा में स्थिति होने के कारण उत्तरी द्वार, ध्रुव पोल कहा जाता है। वर्तमान में यह जोरावर सिंह द्वार के नाम से भी जाना जाता है।

4. दक्षिण दिशा का प्रथम द्वार अजमेरी द्वार कहलाता है। अजमेर नगर की दिशा को इंगित करने के कारण इसका नाम अजमेरी द्वार रखा गया।

5. दक्षिणी दिशा का दूसरा द्वार सांगानेरी द्वार कहलाता है।

6. दक्षिणी दिशा का तीसरा द्वार घाट द्वार कहलाता है।

7. उत्तर-पश्चिमी दिशा का द्वार सम्राट द्वार कहा जाता है। प्राचीन काल में इसे ब्रह्म पोल भी कहा जाता था।

बाद में एक और द्वार बना जो न्यू द्वार कहलाया।[3]

भट्ट मथुरानाथ शास्त्रीजी भी जयपुर के परकोटे, बाजारों आदि की प्रशंसा करते हुये लिखते हैं -

सुदृढ़-सुदृश्य-सुविशाल-सालसंवलिता
गोपुर-पिनद्धपुरमहिम-महीयसी।
रुचिरचतुष्पटी विभागभिन्नराजपथा
राजति समन्तात्सौधराजिरतनीयसी॥

मंज तुंगतमदेवालयन्तुरिता
शोभावैभवेणास्या: पुनरलका कनीयसी
मानमेदिनीन्द्रमणि शासन-समृद्ध सुखा
जय नगरीयं सर्वनगरी गरीयसी॥[4]

अथार्त् सुदृढ़, सुदृश्य और सुविशाल परकोटे से घिरी, सुन्दर दरवाजों से जिस नगरी का गौरव दूना हो गया हैं सुन्दर-चौपड़ों (चौराहे) से जिसके बाजार सुशोभित है। जहाँ दुतरफा एक से आकार के बड़े-बड़े महल सुशोभित हैं। जो गगनचुम्बी देवमन्दिरों से मण्डित है, शोभा और वैभव मे [illegible]के आगे अलका (कुबेर की नगरी) भी छोटी बहन मालूम होती है। राजमणि श्रीमान् माननरेश के शासन से सुखी यह जयनगरी सब नगरियों से बढ़कर है।

---

3. सिंहरणधीर 'परकोटे के पर कटे' (हिन्दी में) भास्कर. काम. PP.103.
4. जयपुरवैभवम् - नगरवीथी / श्लोक-2/पृष्ठ-29-30

महाराजा जयसिंह जी ने पश्चिमी पहाड़ी पर परकोटे की सुरक्षा हेतु नाहरगढ़ का किला बनवाया व पुराने दुर्ग जयगढ़ में हथियार बनाने का कारखाना बनवाया। जिसे देख कर आज भी वैज्ञानिक चकित हो जाते हैं, इस कारखाने और जयपुर शहर के निर्माता सवाई जयसिंह की स्मृतियों को संजोये विशालकाय जयबाण तोप आज भी सीना ताने इस नगर की सुरक्षा करती हुई सी महसूस होती है। विशाल दुर्ग की दीवारों पर शहर की सुरक्षा के लिये सात मजबूत दरवाजों के साथ किलाबंदी की गई थी।

महाराजा सवाई जयसिंह ने जयपुर को 9 आवासीय खण्ड़ों में बसाया था, जिन्हें चौकड़ी कहा जाता है। इनमें सबसे बड़ी चौकड़ी सरहद में राजमहल, रनिवास, जंतर-मंतर, गोविन्द देवजी का मंदिर आदि हैं। शेष चौकड़ियों में नागरिक आवास, हवेलियां और कारखाने आदि बनवाये गये। प्रजा को अपना परिवार समझने वाले सवाई जयसिंह ने सुन्दर शहर को इस तरह से बसाया कि यहां पर नागरिकों को मूलभूत आवश्यकताओं के साथ अन्य किसी प्रकार की कमी न हो। सुचारू पेयजय व्यवस्था, बाग-बगीचे, कल-कारखाने आदि के साथ वर्षा जल का संरक्षण और निकासी का प्रबंध भी करवाया। इस शहर में हस्तकला, गीत-संगीत, शिक्षा और रोजगार आदि को उन्होंने खूब प्रोत्साहित किया। इस प्रकार के सुन्दर नियोजन और खूबसूरती के क़ारण ही यह नगर पर्यटकों का पसंदीदा शहर बन गया। इसीलिये एक प्रमुख ब्रिटिश वास्तुविद् सर ह्यूज कासन ने पीकिंग और वेनिस के साथ जयपुर को विश्व के तीन सबसे सुंदर नगरों में स्थान दिया। भट्टमथुरा नाथ शास्त्री जी जयपुर की अद्वितीय शोभा की प्रशंसा करते हुये लिखते हैं कि-

अनुपमशोभावैभवाद्वर्णनपथमतियाति।
सा सुरनगरी जयकरी, जयपुरनगरी भाति॥[5]

अनुपम शोभा के कारण जो वर्णन करने में नहीं आ सकती, अमरावती को भी जीतने वाली है, वह जयनगरी सुशोभित है।

जयपुर नगर में बहुत से पर्यटकों के आकर्षण केन्द्र हैं, जैसे-हवामहल, सिटी पैलेस, जंतर-मंतर, गोविंद देवजी का मंदिर, श्री लक्ष्मी जगदीश महाराज मंदिर इत्यादि।

शहर के सभी पर्यटन स्थलों का निर्माण धार्मिक, ज्योतिषीय व वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। जिसमें हवामहल को विश्वस्तरीय ख्याति प्राप्त हुई है। जिस प्रकार कुतुबमीनार दिल्ली की पहचान बना है, वैसे ही गुलाबी नगर (जयपुर) की पहचान हवामहल है।

हवामहल

हवामहल भारत के गुलाबी शहर में स्थित एक राजसी महल है। हवामहल का मतलब है कि हवाओं की एक जगह, अर्थात् यह एक ऐसी जगह है, जो पूरी तरह से हवादार रहती है।

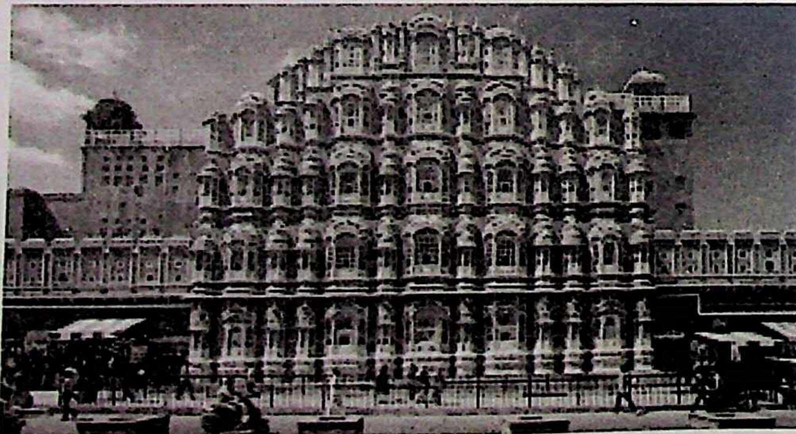
5. जयपुरवैभवम् - नगरवीथी / श्लोक-5/पृष्ठ-31

हवामहल को 1799 में महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने बनवाया था। यह पाँच मंजिला इमारत बहुत सुन्दर तरीके से बनायी गई है। यह ऊपर से तो केवल डेढ़ फुट चौड़ी है ओर बाहर से देखने में किसी मधुमक्खी के छत्ते की समान दिखती है। इसका आकार पिरामिड के समान कहा जा सकता है। हवामहल में 953 छोटी खिड़कियाँ (झरोखे) हैं जिससे ठंडी व ताजा हवा आती रहती है। जिसके कारण यह जगह बिल्कुल ठंडी रहती है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जी हवामहल की प्रशंसा करते हुये लिखते हैं-

गगनविचुम्बि-चित्तहारि-चारुचूडायतं
मौलिविनिरूढानेककेतनमुदीक्ष्यताम्
रुचिरकपाटपरियातातुलशोभाशालि-
वातायनजालमहो सस्पृहं समीक्ष्यताम्।

मंजुनाथ पाटलसुरंगसप्तखण्डमिदं
तुंगतया मन्ये मेरुखण्डमिवोत्प्रेक्ष्यतां
सततमवारितसमीरणप्रवाहवहं
नृपतिनिवास-हवामहलवेक्ष्यताम्।।[6]

अर्थात् गगनचुम्बी, कारीगरी के कारण परम मनोहर-सुन्दर शिखरयुक्त (जिसके सिर पर चमचमाती अनेक ध्वजायें लगी हैं।) इस महल को देखिये। सुन्दर किवाड़ों से युक्त अनुपम शोभाशाली, इसमें अनेक झरोखे और खिड़कियाँ है। गुलाबी रंग के सात खण्डवाले इसकी ऊँचाई के कारण सुमेरू के शिखर से उत्प्रेक्षा करिये। सर्वदा बेरोक-टोक हवा के प्रवाह वाले, बड़े-बड़े राजाओं के निवास योग्य इस 'हवामहल' को देखिये।



6. जयपुरवैभवम् - नगरवीथी / पृष्ठ-37-38

महल कई स्तरों पर बना हुआ महल है। इसका निर्माण सवाई प्रताप सिंह (सवाई जयसिंह के पौत्र और सवाई माधोसिंह के पुत्र) ने 1799 में करवाया था। लाल चंद उस्ताद इस अनूठे महल के वास्तुकार थे। जिसने जयपुर शहर की भी शिल्प तथा वास्तु योजना तैयार करने में सहयोग दिया था। महल का निर्माण महाराजा सवाई प्रताप सिंह के द्वारा करवाने का कारण सिर्फ यह था ताकि रानियाँ व राजकुमारियां विशेष मौकों पर निकलने वाले जुलूस व शहर आदि को देख सकें। शहर की चारदीवारी के बीच स्थित इस खूबसूरत भवन में 152 खिड़कियाँ व जालीदार छज्जे (झरोखे) हैं। यह भवन राजपूत व मुगल कला का शानदार नमूना है। हवामहल में फूल-पत्तियों का आकर्षक काम, गुम्बद और विशाल खम्भे राजपूत शिल्प कला का बेजोड़ उदाहरण हैं, तो साथ ही साथ पत्थर पर की गयी मुगल शैली की नक्काशी, सुन्दर मेहराब आदि मुगल शिल्प के नायाब उदाहरण हैं। इसमें बनाये गये अनगिनत हवादार झरोखों के कारण इसका नाम 'हवामहल' पड़ा।

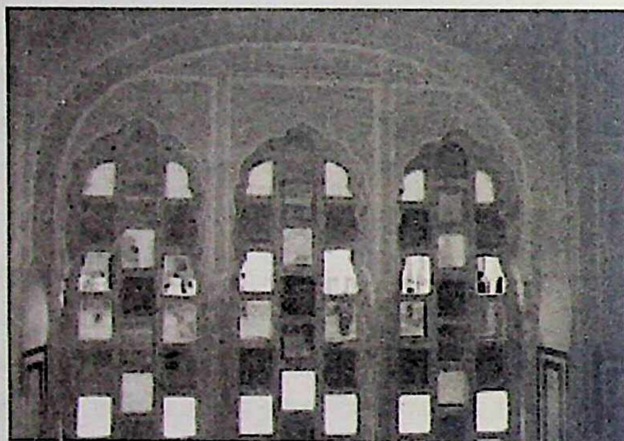
उस समय महिलायें चेहरे पर जाली ढककर ही बाहर निकला करती थी और दैनिक जीवन का अवलोकन करती थी, उस समय महिलाओं को चेहरे पर 'परदा' ढकना अनिवार्य था। कहा जाता है कि इन झरोखों की मदद से उन्हें चेहरे को ठंडी हवा भी लगती थी और तपती धूप में भी उनका चेहरा ठंडा रहता था।

हवामहल पाँच मंजिला स्मारक है जिसकी अपने मुख्य आधार से ऊँचाई 50 फीट (15 मी) है। महल की सबसे ऊपरी तीन मंजिलों की चौड़ाई का आयाम एक कमरे जितना है, जबकि नीचे की दो मंजिलों के सामने खुला आँगन भी है जो कि महल के पिछले हिस्से में बना हुआ है। महल का सामने का हिस्सा, जो हवा महल के सामने की मुख्य सड़क से देखा जाता है। इसकी प्रत्येक छोटी खिड़की पर बलुआ पत्थर की बेहद आकर्षक और खूबसूरत नक्काशीदार जालियाँ, कंगूरे और गुम्बद बने हुये हैं। यह बेजोड़ संरचना अपने-आप में अनेकों अर्द्ध अष्ट भुजाकार झरोखों को समेटे हुये है जो इसे विश्व में बेमिसाल बनाते हैं। इमारत के पीछे की ओर के भीतरी भाग में अलग-अलग आवश्यकताओं के अनुसार कक्ष बने हुये हैं जिनका निर्माण बहुत कम अलंकरण वाले खम्भों व गलियारों के साथ किया गया है और ये भवन की शीर्ष मंजिल तक इसी प्रकार हैं। इस पाँच मंजिला बनी इमारत को इस तरह डिजायन किया गया है कि इसमें ऊपरी दो मंजिलों में जाने के लिये एक भी सीढ़ी नहीं बनी हुई हैं केवल खुर्रों की व्यवस्था है। ऐसा कहा जाता है कि रानियों को लम्बे घेरदार घाघरे पहन कर सीढ़ियाँ चढ़ने में होने वाली असुविधा को ध्यान में रखकर इसकी ऊपरी दो मंजिलों में प्रवेश के लिये सीढ़ियों की जगह, खुर्रेदारढालू रास्तों खुर्रों का प्रावधान किया गया था।

जब महाराज सवाई प्रताप सिंह का इस हवामहल को बनवाने का मन हुआ तो उन्होंने वास्तुकार लालचंद उस्ताद को बुलाया और उन्होंने इस महल की **रचना** इस तरह बनाई जो कभी सोची भी नहीं जा सकती थी। इसकी **रचना** हिन्दूधर्म के भगवान श्री कृष्ण के राजमुकुट जैसी

बनी थी। ऐसा बाहर से देखने में लगता है।

हवामहल की इमारत बिना किसी नींव के बनी हुई है जो अपने आप में एक आश्चर्य है। यह दुनिया की सबसे बड़ी बिना नींव की इमारत मानी जाती है। हवामहल पाँच मंजिला होने के कारण यह 87 डिग्री कोण में बना हुआ है यह भी एक आश्चर्य है। चूने, लाल और गुलाबी बलुआ पत्थर से निर्मित यह महल जयपुर के व्यापारिक केन्द्र के हृदयस्थल में मुख्य मार्ग पर स्थित है। यह सिटी पैलेस का ही हिस्सा है और जनाना कक्ष या महिला कक्ष तक फैला हुआ है। सुवह-सुबह सूर्य की सुनहरी रोशनी जब हवामहल के रंगीन शीशों से होकर हवामहल के कमरों में प्रवेश करती है तो पूरा कक्ष इन्द्रधनुषी आभा से भर जाता है।



हवामहल महाराजा जय सिंह का विश्राम करने का पसंदीदा स्थान था क्योंकि इसकी आंतरिक साज-सज्जा बेहद खूबसूरत है। इसके सभी कक्षों में, सामने के हिस्से में 953 झरोखों से सदा ठंडी हवा बहती रहती है, जिसकी ठंडक का प्रभाव गर्मियों में बढ़ता है और सभी कक्षों में सामने के दालान में फव्वारों की व्यवस्था भी है।

हवामहल की देखरेख राजस्थान सरकार का पुरातात्विक विभाग करता है। वर्ष 2005 में, लगभग 50 वर्षों के लंबे अन्तराल के बाद बड़े स्तर पर महल की मरम्मत और नवीनीकरण का कार्य किया गया था, **कॉर्पोरेट** घराने भी अब जयपुर के पुरातात्विक स्मारकों के रखरखाव के लिये आगे आ रहे हैं। जिसका एक उदाहरण 'यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया' है जिसने हवामहल की सार-संभाल का बीड़ा उठाया है।

पर्यटन सम्बन्धी जानकारी -

हवामहल जयपुर शहर के दक्षिणी हिस्से में बड़ी चौपड़ पर स्थित है। जयपुर शहर भारत के समस्त प्रमुख शहरों से सड़क मार्ग, रेल मार्ग व हवाई मार्ग से सीधा जुड़ा हुआ है।

हवामहल में सीधे सामने की ओर से प्रवेश की व्यवस्था नहीं है। हवामहल में प्रवेश के लिये महल के दायीं व बायीं ओर से बने मार्गों से प्रवेश की व्यवस्था है, जहाँ से महल के पिछले हिस्से से महल में प्रवेश पाते हैं।

हवा महल की रोचक बातें -

1. बिना किसी आधार पर बना यह महल विश्व का सबसे ऊँचा महल है।
2. हवामहल के सामने कोई प्रवेश द्वार नहीं हैं। अन्दर जाने के लिये पिछले भाग से जाना पड़ता है।
3. हवामहल में कुल पाँच मंजिले हैं और आज भी यह महल सहजता से अपनी जगह 87^0 कोण पर खड़ा है।
4. हवामहल की पाँच मंजिली इमारत के प्रथम तल पर शरद् ऋतु के उत्सव मनाये जाते थे।
5. दूसरी मंजिल जड़ाई के काम से सजी है इसलिये इसे रतन मंदिर कहते हैं।
6. तीसरी मंजिल विचित्र मंदिर में महाराजा अपने आराध्य श्रीकृष्ण की पूजा/आराधना करते थे।
7. चौथी मंजिल प्रकाश मंदिर है।
8. पाँचवी मंजिल हवा मन्दिर है, जिसके कारण यह भवन हवामहल कहलाता है।
9. हवामहल 'पैलेस ऑफ विंड्स' के नाम से जाना जाता है।
10. हवामहल में कुल 953 छोटी खिड़कियाँ हैं जो महल को ठंडा रखती हैं।
11. जयपुर के सभी शाही लोग इस महल का उपयोग गर्मियों में आश्रयस्थल की तरह करते हैं।
12. यह महल विशेषतः जयपुर की शाही महिलाओं के लिये बनवाया गया था।
13. इस महल को बनाने का उद्देश्य शाही महिलाओं को बाजार और महल के बाहर हो रहे उत्सवों को दिखाना था।
14. यह एक एकमात्र ऐसा महल है जो मुगल और राजपूत कला का संगम है।
15. यह महल बहुत से भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय फिल्मों की पसंदीदा जगह रहा है।
16. हवामहल में ऊपर जाने के लिये सीढ़ियां नहीं है केवल ढालू रास्ता है।
17. महाराजा सवाई प्रताप सिंह ने 1799 में हवामहल को बनवाया था।
18. इसकी पाँच मंजिलें पिरामिड के आकार में बनी हुई है। यह आधार से 50 फीट ऊँची है।
19. यदि सिरहड्योढी बाजार में खड़े होकर देखें तो हवामहल की आकृति श्री कृष्ण के मुकुट के समान दिखती है, जैसा कि महाराजा प्रताप सिंह इसे बनवाना चाहते थे।

20. हवामहल के खिड़कियों की जाली चेहरे पर लगे परदे का काम करती थी।

21. हवामहल गुलाबी और लाल रंग के पत्थरों से बनाया गया है।

22. हवामहल को लाल चंद उस्ताद की वास्तु योजना पर बनाया गया था।

हवामहल का वास्तु -

प्रसिद्ध हवामहल पिंक सिटी/पुराना जयपुर के ईशान कोण के भाग में स्थित है। गुलाबी बलुआ पत्थरों से निर्मित्त पाँच मंजिलों वाला हवामहल देखने में पिरामिड जैसा लगता है जिसमें हवा का आदान-प्रदान करने के लिये 953 झरोखें एवं 152 खिड़कियां बनी हुई हैं। इसका निर्माण महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने 1799 में राजघराने की महिलाओं के लिये राजपथ, विजय परेड जुलूस आदि देखने के लिये करवाया गया था। हवामहल की इस प्रसिद्धि में इसकी वास्तुनुकूलता सुन्दर बनावट के साथ-साथ उसकी भौगोलिक स्थिति की भी अहम् भूमिका है।

हवामहल में बाहर देखने के लिये जहाँ खिड़कियाँ बनी हुई हैं वह पूर्व दिशा है। वास्तुशास्त्र भी इस बात का समर्थन करता है कि पूर्व में अधिक से अधिक खुला स्थान हो। क्योंकि पूर्व ही वह दिशा है जहाँ से हमें भरपूर रोशनी मिलती है। पूर्व की ओर अधिक खुला रहने से शुद्ध और ताजी सूर्य की किरणों का लाभ प्राप्त होता है। जिससे मानव को जीवनदायक तत्व एवं ऊर्जा की प्राप्ति होती है।[7] इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुये वास्तुकार ने खिड़कियों का नियोजन पूर्व दिशा में रखा।

हवामहल के सामने पूर्व दिशा वाले भाग में दो फीट ऊँचा और लगभग छः फीट चौड़ा और हवामहल के समान्तर लम्बा फुटपाथ हैं जिस पर लोहे की रैलिंग लगी हैं इस रैलिंग के बाद पुनः लगभग सोलह फीट चौड़ा एक प्लेटफार्म (फुटपाथ) है जो कि ऊपर के प्लेटफार्म से दो फीट नीचा और इसके सामने वाली सड़क से लगभग एक से डेढ़ फीट ऊँचा हैं। इस प्रकार हवामहल के सामने पूर्व का भाग नीचा है। वास्तु सिद्धान्त के अनुसार पूर्व दिशा का ढलान शौर्य, शक्ति, मान, मर्यादा, अधिकार और आनन्द का अनुभव कराता है–

'पूर्वप्लवा वृद्धिकरी।'[8]

अर्थात् पूर्व दिशा में ढलान वृद्धि प्रदान करती है। हवामहल के सामने पूर्व-दिशा में जहाँ त्रिपोलिया बाजार की सड़क है। इस सड़क के दक्षिण दिशा स्थित चौराहे का नाम बड़ी चौपड़ है और यह सड़क दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर काफी ढलान लिये हुये है। उत्तर दिशा में चाँदी की टकसाल है जहाँ से यह सड़क पूर्व दिशा की ओर मुड़कर सुभाष चौक की ओर जाती

---

7. वास्तु/डॉ. रनजीत मेहता/पेज नं. 60

8. बृहद्वास्तुमाला/श्लोक 41

है। यहां सड़क पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर ढलान पर है।

पूर्व दिशा में हवामहल के दोनों ओर दुकानें बनी हैं और यह दुकानें भी दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर ढलान लिये हुये हैं। इससे दक्षिण दिशा की दुकानें ऊँचाई पर हैं और उत्तर दिशा की दुकानें क्रमशः नीची हैं। वास्तु के अनुसार उत्तर दिशा में ढलान सदैव लाभदायक एवं ऐश्वर्यशाली जीवन प्रदायक होता है।

'उत्तरा धनदा स्मृता।'[9]

अर्थात् उत्तर में ढालू भूमि धन देने वाली होती हैं। इसी प्रकार हवामहल के पश्चिम दिशा वाले भाग में जहाँ राजस्थान पुलिस मुख्यालय है वहाँ की सड़क में भी दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर ढलान है। हवामहल परिसर में जाने का रास्ता हवामहल के पिछले भाग से है। जहां दक्षिण दिशा से अन्दर जाया जाता हैं यहाँ पर लकड़ी का बहुत बड़ा दरवाजा है। जो वास्तू के अनुकूल है। हवामहल के अन्दर जाने का रास्ता पश्चिममुखी होकर वास्तु के अनुकूल स्थान पर है।

हवामहल की बनावट संतुलित और एक समान है। इसके अन्दर दो खुले बरामदे हैं जिसमें एक का नाम चंद्रपोली और दूसरे का आनन्दपोली है। आनन्दपोली बरामदे के मध्य में एक लगभग छः फीट गहरा आठ फीट लम्बा एवं चौड़ा फव्वारा है जो कि हवामहल का भी मध्य भाग है। वास्तु सिद्धान्त के अनुसार निश्चित ही इस फव्वारे के लिये बने गड्ढे के कारण जहाँ आने वाली राजघराने की महिलाओं की सुख सुविधाओं पर काफी धन व्यय किया जाता रहा होगा। हवामहल के आनन्दपोली के दक्षिण में स्थित कमरे कुछ ऊँचे हैं। इस कारण आनन्दपोली के बरामदे के पूर्व आग्नेय और पश्चिम नैऋत्य की गैलरी के दोनों ओर से दक्षिण स्थित कमरों की छत पर जाने के लिये लगभग चार फीट की रैंप बनी हैं हवामहल की दक्षिण दिशा में बनी एक बहुत बड़ी दीवार लगभग 30 फीट ऊँची है। जबकि उत्तर दिशा में इस प्रकार की कोई दीवार नहीं है। वास्तुशास्त्र के अनुसार भी दक्षिण से ऊँचा रखना सुख-सौभाग्य एवं आरोग्य देने वाला होता है।

इस प्रकार हवामहल का भवन दक्षिण दिशा में ऊँचा और उत्तर दिशा में नीचा है और इसके आगे व पीछे की सड़क वाला भाग भी दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में ढलान लेते हुये बहुत नीचा है। इस प्रकार वास्तु सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिशा में ढलान वहाँ बने भवन को समृद्धि एवं वैभव दिलाता है। हवामहल की प्रसिद्धि एवं ख्याति का कारण वास्तुकार लाल चंद उस्ताद के द्वारा वास्तु सिद्धान्तों के अनुरूप हवामहल का निर्माण करना रहा है।

---

9. बृहद्वास्तुमाला/श्लोक 41

20. हवामहल के खिड़कियों की जाली चेहरे पर लगे परदे का काम करती थी।

21. हवामहल गुलाबी और लाल रंग के पत्थरों से बनाया गया है।

22. हवामहल को लाल चंद उस्ताद की वास्तु योजना पर बनाया गया था।

हवामहल का वास्तु -

प्रसिद्ध हवामहल पिंक सिटी/पुराना जयपुर के ईशान कोण के भाग में स्थित है। गुलाबी बलुआ पत्थरों से निर्मित्त पाँच मंजिलों वाला हवामहल देखने में पिरामिड जैसा लगता है जिसमें हवा का आदान-प्रदान करने के लिये 953 झरोखें एवं 152 खिड़कियां बनी हुई हैं। इसका निर्माण महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने 1799 में राजघराने की महिलाओं के लिये राजपथ, विजय परेड जुलूस आदि देखने के लिये करवाया गया था। हवामहल की इस प्रसिद्धि में इसकी वास्तुनुकूलता सुन्दर बनावट के साथ-साथ उसकी भौगोलिक स्थिति की भी अहम् भूमिका है।

हवामहल में बाहर देखने के लिये जहाँ खिड़कियाँ बनी हुई हैं वह पूर्व दिशा है। वास्तुशास्त्र भी इस बात का समर्थन करता है कि पूर्व में अधिक से अधिक खुला स्थान हो। क्योंकि पूर्व ही वह दिशा है जहाँ से हमें भरपूर रोशनी मिलती है। पूर्व की ओर अधिक खुला रहने से शुद्ध और ताजी सूर्य की किरणों का लाभ प्राप्त होता है। जिससे मानव को जीवनदायक तत्व एवं ऊर्जा की प्राप्ति होती है।[7] इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुये वास्तुकार ने खिड़कियों का नियोजन पूर्व दिशा में रखा।

हवामहल के सामने पूर्व दिशा वाले भाग में दो फीट ऊँचा और लगभग छः फीट चौड़ा और हवामहल के समान्तर लम्बा फुटपाथ हैं जिस पर लोहे की रैलिंग लगी हैं इस रैलिंग के बाद पुनः लगभग सोलह फीट चौड़ा एक प्लेटफार्म (फुटपाथ) है जो कि ऊपर के प्लेटफार्म से दो फीट नीचा और इसके सामने वाली सड़क से लगभग एक से डेढ़ फीट ऊँचा हैं। इस प्रकार हवामहल के सामने पूर्व का भाग नीचा है। वास्तु सिद्धान्त के अनुसार पूर्व दिशा का ढलान शौर्य, शक्ति, मान, मर्यादा, अधिकार और आनन्द का अनुभव कराता है-

'पूर्वप्लवा वृद्धिकरी।'[8]

अर्थात् पूर्व दिशा में ढलान वृद्धि प्रदान करती है। हवामहल के सामने पूर्व-दिशा में जहाँ त्रिपोलिया बाजार की सड़क है। इस सड़क के दक्षिण दिशा स्थित चौराहे का नाम बड़ी चौपड़ है और यह सड़क दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर काफी ढलान लिये हुये है। उत्तर दिशा में चाँदी की टकसाल है जहाँ से यह सड़क पूर्व दिशा की ओर मुड़कर सुभाष चौक की ओर जाती

---

7. वास्तु/डॉ. रनजीत मेहता/पेज नं. 60

8. बृहद्वास्तुमाला/श्लोक 41

है। यहां सड़क पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा की ओर ढलान पर है।

पूर्व दिशा में हवामहल के दोनों ओर दुकानें बनी हैं और यह दुकानें भी दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर ढलान लिये हुये हैं। इससे दक्षिण दिशा की दुकानें ऊँचाई पर हैं और उत्तर दिशा की दुकानें क्रमशः नीची हैं। वास्तु के अनुसार उत्तर दिशा में ढलान सदैव लाभदायक एवं ऐश्वर्यशाली जीवन प्रदायक होता है।

'उत्तरा धनदा स्मृता।'[9]

अर्थात् उत्तर में ढालू भूमि धन देने वाली होती हैं। इसी प्रकार हवामहल के पश्चिम दिशा वाले भाग में जहाँ राजस्थान पुलिस मुख्यालय है वहाँ की सड़क में भी दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा की ओर ढलान है। हवामहल परिसर में जाने का रास्ता हवामहल के पिछले भाग से है। जहां दक्षिण दिशा से अन्दर जाया जाता हैं यहाँ पर लकड़ी का बहुत बड़ा दरवाजा है। जो वास्तू के अनुकूल है। हवामहल के अन्दर जाने का रास्ता पश्चिममुखी होकर वास्तु के अनुकूल स्थान पर है।

हवामहल की बनावट संतुलित और एक समान है। इसके अन्दर दो खुले बरामदे हैं जिसमें एक का नाम चंद्रपोली और दूसरे का आनन्दपोली है। आनन्दपोली बरामदे के मध्य में एक लगभग छः फीट गहरा आठ फीट लम्बा एवं चौड़ा फव्वारा है जो कि हवामहल का भी मध्य भाग है। वास्तु सिद्धान्त के अनुसार निश्चित ही इस फव्वारे के लिये बने गड्ढे के कारण जहाँ आने वाली राजघराने की महिलाओं की सुख सुविधाओं पर काफी धन व्यय किया जाता रहा होगा। हवामहल के आनन्दपोली के दक्षिण में स्थित कमरे कुछ ऊँचे हैं। इस कारण आनन्दपोली के बरामदे के पूर्व आग्नेय और पश्चिम नैऋत्य की गैलरी के दोनों ओर से दक्षिण स्थित कमरों की छत पर जाने के लिये लगभग चार फीट की रैंप बनी हैं हवामहल की दक्षिण दिशा में बनी एक बहुत बड़ी दीवार लगभग 30 फीट ऊँची है। जबकि उत्तर दिशा में इस प्रकार की कोई दीवार नहीं है। वास्तुशास्त्र के अनुसार भी दक्षिण से ऊँचा रखना सुख-सौभाग्य एवं आरोग्य देने वाला होता है।

इस प्रकार हवामहल का भवन दक्षिण दिशा में ऊँचा और उत्तर दिशा में नीचा है और इसके आगे व पीछे की सड़क वाला भाग भी दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में ढलान लेते हुये बहुत नीचा है। इस प्रकार वास्तु सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिशा में ढलान वहाँ बने भवन को समृद्धि एवं वैभव दिलाता है। हवामहल की प्रसिद्धि एवं ख्याति का कारण वास्तुकार लाल चंद उस्ताद के द्वारा वास्तु सिद्धान्तों के अनुरूप हवामहल का निर्माण करना रहा है।

---

9. बृहद्वास्तुमाला/श्लोक 41

सूर्यसिद्धान्त का प्रथम जिज्ञासु मयासुर

यश शर्मा

भारतीय पारम्परिक ज्ञान परम्परा में वेदों को ज्ञान का मूल स्रोत माना गया है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा द्वारा ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया गया था। द्वापरयुग में वेदव्यास द्वारा वेदों के लेखन से पूर्व वेदों की श्रवण-मनन-निदिध्यासन की परम्परा थी। कालान्तर में सामाजिक स्थिति के विकास के साथ वेदों के मूल स्वरूप में भी परिवर्तन आया। सर्वप्रथम वेद का चार संहिताओं में वर्गीकरण हुआ- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद। पुनः विभिन्न आचार्य परम्परा के कारण संहिताओं का वर्गीकरण हुआ। कालान्तर में संहिताओं से ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों का विकास हुआ। बाद में वेदों के अध्ययनाध्यापन को पुष्ट करने के लिए षड्वेदांगों का विकास हुआ- व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्द शिक्षा एवं ज्योतिष। प्रारम्भ में प्रत्येक वेदांग का प्रयोजन वेदों के अध्ययनाध्यापन को नियमबद्ध करना तथा वेदों में पठित क्रियाओं के सम्पादन में सहायक होना था[1], परन्तु वेदांग अपने प्रारम्भिक प्रयोजन से कहीं अधिक विस्तृत हो गये, जैसे- ज्योषिशास्त्र का प्रयोजन वेद विहित यज्ञों के सम्पादन के लिए विहित समय का ज्ञान करना था, परन्तु जिस तरह आचार्यों ने पृथ्वी और अंतरिक्ष संबंधी विषयों का वर्णन किया है तथा जातकग्रन्थ, संहिताग्रन्थ, शकुनशास्त्र, हस्तरेखाशास्त्र, अंकज्योतिष आदि का प्रणयन किया यह इस बात का प्रमाण है कि ज्योतिष केवल काल विधान शास्त्र नहीं है। इसी कारण भास्कराचार्य के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तज्योतिष की परिभाषा सर्वमान्य है कि जो त्रुटि (समय की इकाई) से प्रलय तक के समय की गणना व नवविध मानों प्रभेदों को जानता हो, अव्यक्त (बीजगणित) व व्यक्त (अंकगणित) जानता हो, सूर्य व पृथ्वी सहित अन्य ग्रहों की स्थिति तथा गति के विषय में जानता हो वही सिद्धान्त ज्योतिष को जानने वाला होता है[2]। सूर्यसिद्धान्त सिद्धान्त ज्योतिष का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यह मयासुर व सूर्यांश पुरुष के बीच संवाद रूप में वर्णित आर्ष ग्रन्थ है परन्तु महावीर प्रसाद जी द्वारा लिखे गये सूर्यसिद्धान्त-विज्ञानभाष्य में स्पष्ट किया गया है कि सूर्यसिद्धान्त एक संकलन ग्रन्थ है जिसमें समय-समय पर कई विषयों को जोड़ा गया है, जैसे कि वराहमिहिर रचित पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित सूर्यसिद्धान्त व आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में पर्याप्त भिन्नता मिलती है।

वाराही सूर्यसिद्धान्त में अयनांश साधन का वर्णन नहीं मिलता, जबकि आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में अयनांश साधन[3] का वर्णन मिलता है। महावीरप्रसाद जी ने अपने सूर्यसिद्धान्त-विज्ञानभाष्य

---

1. सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय, श्लो.स. 9
2. सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय, श्लो.स. 6
3. सूर्यसिद्धान्त त्रिप्रश्नाधिकार, श्लो.स. 9-11

में आधुनिक सूर्यसिद्धान्त की श्रेष्ठता सिद्ध की है कि सूर्यसिद्धान्त द्वारा साधित ग्रहस्पष्ट वेबरादि पाश्चात्य विद्वानों से अधिक स्पष्ट हैं। सूर्यसिद्धान्त के भूगोलाध्याय में वर्णित गोलमीमांसा प्रशंसनीय है जो सिद्ध करती है कि सिद्धान्तज्योतिष केवल यज्ञादि के लिये कालनिर्धारण नहीं करती है। इस अध्याय में पूर्व के अध्यायों के विषयों के गोल से संबंधित विषयों का वर्णन है, जो मयासुर व सूर्यांशपुरुष के मध्य प्रश्नोत्तरीय संवाद के रूप में प्रस्तुत है। अध्याय के आरम्भ में मयासुर पृथ्वी संबंधी प्रश्नों को पूछता है कि पृथ्वी कैसी है? किस पर टिकी हुई है? सप्ततल (पातालादि) कहाँ स्थित है?[4] इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में सूर्यांश पुरुष कहते हैं कि पृथिवी गोलाकार रूप में ईश्वर की निराधारावस्थानरूपा शक्ति द्वारा अंतरिक्ष में निराधार स्थित है[5] तथा पातालादि सप्ततल स्वप्रकाशित होने वाली औषधियों से प्रकाशित नागों व असुरों के निवास स्थान पृथिवी के भीतर गुफा रूप में स्थित हैं[6]।

मयासुर आगे पूछता है कि सूर्य के पृथिवी के चारों ओर घूमने से दिन-रात कैसे होते हैं? तथा देवताओं के, असुरों के, पितरों के व मनुष्य के दिन-रात में अंतर का क्या कारण है? इस पर सूर्यांश पुरुष उत्तर देते हैं कि निश्चित एक समान गति वाली वायु के कारण दोनों ध्रुवों से कीलित समस्त ब्रह्माण्ड ग्रह, नक्षत्रादि के साथ पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है, अतः हमें सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता दिखाई देता है। पृथिवी के पृष्ठ पर दो पर्वत सुमेरु (उत्तरी ध्रुव) व कुमेरु (दक्षिणी ध्रुव) स्थित है, सुमेरु, देवताओं व महर्षियों का वास स्थान है तथा कुमेरु असुरों का वास स्थान है। निरक्षवृत (नाडीवृत, भूमध्यवृत्त) दोनों के ठीक बीच में स्थित है अतः भूमध्यरेखा (नाडीवृत्त) देवताओं और असुरों का क्षितिजवृत होती है[8] तथा सूर्यसायन मेष व तुला में प्रवेश करते समय भूमध्यरेखा के ठीक ऊपर से गुजरता है । इस कारण से सूर्यसायन के मेष संक्रान्ति से कन्या राशि के अन्त तक के भोग काल (6 माह)[9] में सूर्य उत्तरी गोलार्ध में रहता है, जिसके कारण उत्तरी ध्रुवस्थ देवताओं के लिये दृश्य होगा और उनके लिये दिन होगा जबकि दक्षिणी ध्रुवस्थ असुरों के लिये रात्रि होता है। इसके ठीक विपरीत सूर्यसायन के तुला संक्रान्ति से मीन राशि के अन्त तक के भोग काल (6 माह) में दक्षिणी गोलार्ध में रहता है जिसके कारण असुरों के लिये दृश्य होगा और उनके लिये दिन होगा तथा देवताओं के लिये रात्रि होती है। इसी तरह सायन कर्क संक्रान्ति को देवताओं का मध्याह्न होगा तथा असुरों की मध्यरात्रि होगी और इसके ठीक विपरीत जब मकर संक्रान्ति के समय असुरों का मध्याह्न होगा, तब देवताओं की मध्यरात्रि

---

4 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 1
5 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 32
6 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 33
7 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 73
8 गोलपरिभाषा, सीताराम झा, श्लो.सं. 38, 44-45
9 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 67
10 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो. ल. 47-51

होगी[10]। पितरों का निवास स्थान चन्द्रमा के ऊपरी भाग पर स्थिति होने के कारण उनके दिन-रात्रि का मान 30 तिथियों के बराबर होता है। कृष्णपक्ष की सप्तम्यर्ध को उनका सूर्योदय, अमावस्या को मध्याह्न, शुक्लपक्ष की सप्तमी को सूर्यास्त तथा पूर्णिमा को मध्यरात्रि होती है[11]। मनुष्य के अहोरात्र में स्थान भेद के कारण प्रचुर विविधता होती है जैसे- निरक्षदेशवासियों के लिए दिन-रात मान सदैव बराबर होता है, परमक्रान्ति[12] (23:26) के बराबर अक्षांश[13] पर स्थिति मनुष्य (दोनो गोलार्धों में) के लिये वर्ष में एक बार मध्याह्न के समय खमध्य[14] पर सूर्य उत्तरी गोलार्ध में सायनकर्क संक्रान्ति पर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में सायनमकर संक्रान्ति पर अवश्य आयेगा[15]। उसी तरह परमक्रान्ति तुल्य लम्बांश[16] पर सूर्य (उत्तरी गोलार्ध में मिथुनान्त पर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में सायनमकरारम्भ पर) क्षितिज को स्पर्श करके पुनः उदय हो जायेगा, जिसके कारण उस स्थान पर उस दिन 24 घण्टे का दिनमान होगा किन्तु रात्रि नहीं होगी[17]। भूमध्यरेखा से लगभग 66:30 अक्षांश के मध्य स्थित देशों के दिन-रात का कुल योग 24 घण्टे का होगा तथा उससे ज्यादा अक्षांश पर स्थित प्रदेशों का दिन-रात का कुल योग 24 घण्टे से ज्यादा भी हो सकता है[18]। सूर्य की किरणों के द्वारा उत्पन्न गर्मी एवं शैत्य के कारण की जिज्ञासा के विषय में कहा है कि सूर्य की किरणों से उत्पन्न ऊष्मा की तीव्रता उनकी तिर्यक्ता पर निर्भर करती है। सायनमेष से कन्या राशि तक सूर्य उत्तरी गोलार्ध में रहता है जिसके कारण वहाँ पर तिर्यक्ता कम होने के कारण ऊष्मा अधिक प्राप्त होती है तथा उसी समय दक्षिणी गोलार्द्ध में तिर्यक्ता कम होने के कारण शीतलता अधिक होती है। पुनः सायनतुला से मीन राशि तक सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में रहने के कारण वहाँ तिर्यक्ता अधिक होने के फलस्वरूप ऊष्मा अधिक होती है तथा उत्तरी गोलार्द्ध में शीतलता अधिक होती है[19]। मयासुर के ऐसी शंका करने पर कि यदि पृथिवी गोलाकार है तो हमें सरल (सपाट) क्यों दिखाई देती है? इस पर सूर्यांश पुरुष कहते हैं कि पृथिवी के पृष्ठ पर खड़े हुये व्यक्ति की ऊँचाई कम होने के कारण गोलाकार पृथिवी भी मनुष्य को सरल दिखाई देती है[20]। सूर्यांश पुरुष सृष्टि की उत्त्पति के क्रम को भी व्यक्त करते हैं। परम ब्रह्म भगवान वासुदेव से उनके अंशरूप प्रधान पुरुष की उत्पत्ति हुई, जो निर्गुण, शान्त, नित्य तथा सभी तत्त्वों से परे थे। उन्होंने सर्वप्रथम जल उत्पन्न किया और

---

11 सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, त्रिप्रश्नवासना श्लो.सं. 13-14

12 गोलपरिभाषा, सिताराम झा, श्लो.सं. 61-69

13 गोलपरिभाषा, सिताराम झा, श्लो.सं.77

14 गोलपरिभाषा, सिताराम झा, श्लो.सं. 30

15 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 59

16 गोलपरिभाषा, सीताराम झा, श्लो.सं. 31

17 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 60-61

18 सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 62

19. सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो.सं. 46

20. सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय, श्लो. सं. 54

उस जल में शक्ति विशेष को छोड़ दिया उस शक्ति विशेष के जल से संयोग होने पर अंधकार से आवृत एक सोने का गोलाकार पिण्ड उत्पन्न हुआ। उस पिण्ड से छह गुणों व ऐश्वर्य से सम्पन्न नित्य ''अनिरुद्ध'' उत्पन्न हुए, जिन्हें वेदों में हिरण्यगर्भ के नाम से जाता है। इन्हें आदित्य और सूर्य के नाम से भी जाना जाता है। यही है जो गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती इन सात छन्दरूपी अश्वों को ब्रह्माण्डरूपी रथ से जोडकर 12 माह में 12 राशियों में नित्य भ्रमण करते हैं। फिर भगवान अनिरुद्ध ने संसार की उत्पत्ति करने के लिये सर्वशक्तिशाली अहंकार तत्त्व रूप ब्रह्मा को जन्म दिया और उन्हें वेद सौंप कर सुवर्ण पिण्ड में स्थापित किया और स्वयं रथ पर बैठकर घूमना प्रारम्भ किया। तब उन अहंकार स्वरूप ब्रह्मा की इच्छा मात्र से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। मन से चन्द्रमा की और दोनो नेत्रों से सूर्य की उत्पत्ति हुई। फिर मन से पुनः आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से भूमि की उत्पत्ति हुई। फिर आकाशादि पांच तत्त्वों (महाभूतों) से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन पाँच गुणों की उत्पत्ति हुई। आकाश से शब्द गुण की उत्पत्ति हुई। वायु से स्पर्श गुण की उत्पत्ति हुई परन्तु वायु की उत्पत्ति आकाश से होने के कारण आकाश का गुण शब्द भी वायु का गुण हुआ। अतः इस तरह वायु के गुण स्पर्श व शब्द होते है। अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श और रूप होंगे। जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस होंगे। भूमि के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध होंगे। इसके बाद उन्होंने पांच तारा ग्रहों की रचना पांच महाभूतों से की। तेज जो अग्नि का तत्त्व है उससे मंगल की, भूमि से बुध की, आकाश से बृहस्पति की, जल से शुक्र की, वायु से शनि की उत्पत्ति की। इसके बाद ब्रह्माण्ड स्वरूप ब्रह्मा ने स्वयं को 12 व 27 भागों में बांटकर 12 राशियों व 27 नक्षत्रों की सृष्टि की। इसके बाद सत्व, रज और तम इन गुणों से क्रमशः देवताओं, मनुष्यों तथा असुरों की उत्पत्ति हुई। और इस प्रकार सृष्टि की रचना हुई[21]। ग्रहों की गति की विषमता के विषय में कहा है कि उनकी दैनिक योजनत्मिका गति समान होती है, परन्तु ग्रहों की कक्षा ऊर्ध्वाधर स्थित होने के कारण कक्षा के योजनात्मिक आकार में अन्तर आ जाता है जिससे नीचे स्थित ग्रह की कक्षा का योजनात्मक मान ऊपर स्थित ग्रह की कक्षा के योजनात्मक मान से कम होगा, इस कारण नीचे स्थित ग्रह अपनी कक्षा का एक चक्र ऊपर स्थित ग्रह से जल्दी पूरा करता है। परन्तु हम ग्रह गति की गणना कोणात्मक रूप में करते हैं इसके कारण ही ग्रहों की दैनिक गति में अंतर मिलता है[22]। अध्याय के अंत में खगोल संबंधी विषयों का वर्णन है, जैसे- खकक्षा, नक्षत्रकक्षा, ग्रहों की कक्षाओं का मान, पृथ्वी के पृष्ठस्थान से प्रत्येक ग्रह की कक्षा की दूरी, ग्रहों की दैनिक योजनात्मिका दैनिक गति, योजनात्मिका दैनिक गति को कोणात्मिका गति में बदलना आदि। इन सभी विषयों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्योतिष एक अत्यन्त व्यापक विषय है जिसमें खगोलविज्ञान, भौतिकविज्ञान, पृथिवी की आंतरिक संरचना से संबंधित अध्ययन, सृष्टि की उत्पत्ति से संबंधित चिन्तन आदि सम्मिलित हैं।

---

21. सूर्यसिद्धान्त, त्रिप्रश्नाध्याय, श्लो.सं. 12-31
22. सूर्यसिद्धान्त, त्रिप्रश्नाध्याय, श्लो.सं. 75-77

भूमि परीक्षण : एक सर्वेक्षण

सतीश कुमार सुयाल

वास्तुशास्त्र में भूमि परीक्षण का महत्त्व

गृह, भवन और देवालय आदि का मूलाधार 'भूमि' है। यह सर्वविदित है कि अखिल ब्रह्माण्ड में पञ्चमहाभूतों की सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के बिना चराचर जगत् की कल्पना असंभव है। इन पञ्चमहाभूतों का मनुष्यों में आनुपातिक सम्मिश्रण है। उसी प्रकार वास्तुशास्त्र में उक्त पञ्चमहाभूतों के गुण-धर्म का भली प्रकार तार्किकबुद्धि से विचार कर आवासीय व्यासायिक एवं धार्मिक वास्तु निर्माण कर एक आदर्श वास्तु को प्रदर्शित किया जा सकता है।

अखिल ब्रह्माण्ड के विश्लेषण में विश्व में प्रयासरत विद्वानों ने अंततः त्रिगुण की सर्वव्यापकता को स्वीकारा है और यह एक स्थापित तथ्य है समस्त भारतीय ज्ञान की पृष्ठभूमि दर्शनशास्त्र है, यही कारण है कि भारत अन्य प्रकार के ज्ञान को दार्शनिक मापदण्ड द्वारा मापता है। भारत में हमें शास्त्रीय परम्परा के छः दर्शन मिले हैं। इन छः दार्शनिक सिद्धान्तों में सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण सर्वाधिक वैज्ञानिक है। यह गुणों अर्थात् स्वभाव व तत्त्वों की भाषा में बात करता है। इस दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति तीन तत्त्वों या गुणों यानि सत्व रजस, और तमस का तालमेल है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अस्तित्व और कार्य प्रणाली में इन त्रिगुणों का सही अनुपात ही मूलाधार कारण है। भारतीय प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इन त्रिगुणों को विभिन्न दिशाओं से जोड़ा। उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में रेखाएँ खीचकर चार भागों में वर्गाकार वास्तु को निर्मित करके इस निर्मित क्षेत्र में त्रिगुणों को विभिन्न अनुपातों में स्थान दिया।

अखिल ब्रह्माण्ड में असीमित व अनन्त शक्तियों का भण्डार है, जिसके माध्यम से सृष्टि, विकास एवं प्रलय की प्रक्रिया चलती रहती है। इन असीमित एवं अनन्त शक्तियों में से वास्तुशास्त्र मुख्य रूप से प्रकृति की तीन शक्तियों गुरुत्व-शक्ति, चुम्बकीय शक्ति एवं सौर ऊर्जा का भवन निर्माण और उसमें रहने वाले प्राणियों पर प्रभाव तक ही सीमित है। अतः यह भूमि एवं उसके आस पास में विद्यमान उक्त तीन शक्तियों का ही विचार करता है।

वास्तुशास्त्रानुसार किसी भी निर्माण में आधारभूत तत्त्व पृथिवी ही है, पञ्चमहाभूतों में पृथ्वी तत्त्व का अन्य महाभूतों, त्रिगुणों एवं प्राकृतिक शक्तियों का सम्यक् सामञ्जस्य के ज्ञान के द्वारा ही निर्माण स्थल की भूमि का वास्तुसम्मत परीक्षण किया जा सकता है।

परीक्षण का अर्थ है जाँच-पड़ताल करना, परखना, परीक्षा लेना इत्यादि। वास्तु निर्माण योजना में सर्वप्रथम भूमि चयन के महत्त्वपूर्ण कार्य के पश्चात् मनुष्य के जीवन को सुखी, समृद्ध, मान-सम्मानयुक्त, सुरक्षित एवं शान्तिमय बनाने के लिए उस भूमि, जिसमें वह निर्माण करवाना चाहता है, उस भूमि का परीक्षण करके ही उसे ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तुशास्त्र के प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में भूमि परीक्षण के लिए वैदिक ऋषियों-मुनियों, आचार्यों एवं विद्वानों ने इस शास्त्र के नियमों, विधियों एवं प्रविधियों का गम्भीरता पूर्वक चिन्तन कर इसके आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

वास्तुशास्त्र में भूमि परीक्षण के महत्त्व को देखते हुए भूमि के शुभाशुभत्व ज्ञान के लिए वास्तु ग्रन्थों में भूमि के परीक्षण हेतु विभिन्न विधियाँ वर्णित हैं। यथा-

भूमि की गुणवत्ता (द्विजादिवर्ण द्वारा भूमि परीक्षण) :

सफेद वर्ण की मिट्टी वाली भूमि ब्राह्मणी, लाल वर्ण वाली क्षत्रिया, हरित (पीली) वर्ण वाली वैश्या और काले वर्ण वाली शूद्रा कही जाती है।[1] कुशायुक्त भूमि ब्राह्मणी, शर (मंजू) वाली क्षत्रिया, कुश-काश मिश्रित वैश्या और सब प्रकार के तृणों से युक्त भूमि को शूद्रा कहा गया है।[2] सुगन्ध युक्त ब्राह्मणी रक्त गन्धा वाली क्षत्रिया, मधु (शहद) गन्ध वैश्या और मद्य गन्ध सम्पन्ना भूमि शूद्रा कही जाती है और अम्ल रस युक्त वैश्या, तिक्त रस युक्त शूद्रा, मधुर रस युक्त ब्राह्मणी और कषाय रस युक्त क्षत्रिया भूमि होती है।[3] ब्राह्मणी भूमि सुखदा, क्षत्रिया राज्यप्रद, वैश्या धन-धान्य देने वाली और शूद्रा भूमि त्याज्य होती है।[4] वसिष्ठ के मतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को क्रमशः सफेद, लाल, पीली व काली एवं अन्य वर्णों के लिए मिश्रित वर्ण की भूमि शुभ होती है।[5] नारद के मतानुसार ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लिये क्रम से घृत, रक्त, अन्न और मद्य गन्ध वाली भूमि सुखद होती हैं।[6]

भूमि का आठ दिशाओं में ढलाव का परीक्षण-

पूर्व दिशा की ओर भूमि ढ़ालदार हो तो धन प्राप्ति, अग्निकोण में दाह, दक्षिण में मृत्यु, नैर्ऋत्य में धननाश, पश्चिम में पुत्रहानि, वायव्य में परदेश में निवास, उत्तर में धनागम, ईशान में विद्यालाभ होता है। बीच में गड्ढ़ा वाली भूमि कष्टदायक होती है।[7] मतान्तर में ईशान कोण में भूमि ढालदार हो तो गृहपति को धन, सुख, पूर्व में वृद्धि, उत्तर में धनलाभ, अग्निकोण में मृत्यु तथा

---

1. बृहद्वास्तुमाला (श्लोक 27-28)
2. ,, (श्लोक 29)
3. ,, (श्लोक 30-31)
4. ,, (श्लोक 32)
5. ,, (श्लोक 33)
6. ,, (श्लोक 34)
7. ,, श्लोक-(35-36)

शोक, दक्षिण में गृहनाश, नैत्रृत्य में धन हानि पश्चिम में अपयश, वायव्य में मानसिक उद्वेग करती है।[8]

नारायण भट्ट के मतानुसार ब्राह्मण को उत्तर, क्षत्रिय को पूर्व, वैश्य को दक्षिण और शूद्र को पश्चिम की ओर ढलान युक्त भूमि शुभ है। अथवा ब्राह्मण के लिये सभी प्रकार की ढलान वाली भूमि शुभ होती है। शेष वर्णों के लिये कोई नियम नहीं हैं।[9]

पूर्व की ओर ढलान वाली भूमि अर्थनाश करने वाली और दक्षिण की ओर ढलानयुक्त भूमि गृहपति के मृत्यु का कारण होती है। जो भूमि पश्चिम में ऊँची और पूर्व में नीची हो उसको ''गोवीथी'' कहते है और जो भूमि पूर्व में ऊँची और पश्चिम में नीची हो उसको ''जलवीथी कहते हैं।[10] उत्तर की ओर ऊँची एवं दक्षिण की ओर नीची युक्त भूमि को ''यमवीथी'' और दक्षिण की ओर ऊँची तथा उत्तर की ओर नीची भूमि को ''गजवीथी'' कहते हैं।[11] ईशान कोण की ओर ऊँची एव नैर्ऋत्य की ओर नीची भूमि को ''भूतवीथी'', अग्नि कोण की ओर ऊँची तथा वायव्य कोण की ओर नीची भूमि को ''नागवीथी'' कहते है।[12] वायव्य कोण की ओर ऊँची तथा अग्नि कोण की ओर नीची भूमि को ''वैश्वानरी'' कहते है नैर्ऋत्य कोण की ओर नीची, ईशान कोण की ओर ऊँची भूमि को **''धनवीथी''**, अग्नि कोण के मध्य में ऊँची और पश्चिम तथा वायुकोण के मध्य नीची भूमि को पितामह वास्तु कहते हैं। ऐसी भूमि में निवास करना से सुखद होता है।[13] अग्निकोण एवं उत्तर के बीच में नीची नैर्ऋत्य, दक्षिण दिशा के बीच में ऊँची तथा वायव्य कोण एवं उत्तर के बीच में नीची भूमि को **''सुपथ''** वास्तु कहते है। यह भूमि सभी कर्मो के योग होती है।[14] उत्तर ईशान कोण के बीच में नीची नैर्ऋत्य, दक्षिण दिशा के बीच में ऊँची भूमि को **''दीर्घायुवास्तु''** कहते है। यह भूमि उत्तम तथा, वंश वृद्धिकारक होती है। ईशान कोण पूर्व के बीच में नीची और नैर्ऋत्य पश्चिम के बीच में ऊँची भूमि को **''पुण्यकवास्तु''** कहते हैं। यह भूमि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों के लिये सुखद होतो है।[15] पूर्व, अग्निकोण के बीच में नीची और वायव्य कोण पश्चिम के बीच में ऊँची भूमि को **''अपथवास्तु''** कहते है। यह भूमि लड़ाई-झगड़ा कराने वाली होती है। अग्निकोण दक्षिण के बीच में नीची और वायव्य कोण, उत्तर और मध्य में ऊँची भूमि को **''रोगकरवास्तु''** कहते है यह भूमि रोगकारक होती है।[16] नैर्ऋत्य कोण दक्षिण के बीच में नीची और ईशान कोण उत्तर के बीच में ऊँची भूमि को **''अर्गलवास्तु''** कहते है। यह भूमि ब्रह्महत्या आदि महापापों का विनाश

8. ,, श्लोक-(37-39)
9. ,, श्लोक-(40)
10. ,, श्लोक-(41-43)
11. ,, श्लोक-(44)
12. ,, श्लोक-(45)
13. ,, श्लोक-(46-47)
14. ,, श्लोक-(48)
15. ,, श्लोक-(49-50)
16. ,, श्लोक-(51-52)

करती है। ईशान कोण पूर्व के बीच में ऊँची और पश्चिम नैर्ऋत्य कोण में नीची भूमि को **''श्मशानवास्तु''** कहते हैं यह भूमि कुलनाशक होती है।[17]

अग्निकोण में नीची, नैर्ऋत्य, ईशान तथा वायव्य कोण में ऊँची भूमि को **''शोकवास्तु''** कहते है। यह भूमि सम्पत्तिनाशक एवं मृत्युकारक होती है। ईशान कोण, अग्निकोण तथा पश्चिम में ऊँची और नैर्ऋत्य कोण में नीची भूमि को **''श्वमुखवास्तु''** कहते हैं यह भूमि निवासकर्ता को दरिद्र बना देती।[18] नैर्ऋत्य, आग्नेय और ईशान कोण में ऊँची तथा पूर्व, वायव्य कोण में नीची भूमि को **''ब्रह्मघ्न''** वास्तु कहते है। यह भूमि प्राणियों के निवास योग्य नहीं होती, ऐसी भूमि पर खेती आदि करनी चाहिये। अग्निकोण में ऊँची और नैर्ऋत्य, ईशान, वायव्यकोण में नीची भूमि को **''स्थावरवास्तु''** कहते हैं। यह भूमि सब भांति शुभ होती है।[19] नैर्ऋत्य कोण में ऊँची तथा आग्नेय, वायव्य, ईशानकोण में नीची भूमि को **''स्थण्डिलवास्तु''** कहते है यह स्थिरता प्रदान करने के कारण शुभ है। ईशान कोण में ऊँची और आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य कोण में नीची भूमि को **''शाण्डुलवास्तु''** कहते है। यह भूमि सर्वथा निवास के अयोग्य है।[20] आग्नेय, नैर्ऋत्य, ईशानकोण में ऊँची तथा वायव्यकोण में नीची भूमि को **''सुस्थानवास्तु''** कहते है। यह भूमि ब्राह्मणों के लिये सुखद होती है। पूर्व में नीची और नैर्ऋत्य, वायव्यकोण एवं पश्चिम में ऊँची भूमि को **''सुतलवास्तु''** कहते है। यह भूमि क्षत्रियों के लिये हितकर होती है।[21] उत्तर, ईशानकोण, वायव्यकोण में ऊँची तथा दक्षिण में नीची भूमि को **''चरवास्तु''** कहते है यह भूमि वैश्यों के लिये विशेष लाभदायक होती है। पश्चिम में नीची ईशानकोण, पूर्व, आग्नेयकोण में ऊँची भूमि को **''श्वमुखवास्तु''** कहते है। यह भूमि शूद्रों के निवास योग्य होती है।[22]

पूर्व दिशा में ऊँची भूमि पुत्रनाश-कारक होती है, अग्नि कोण में ऊँची भूमि धन देती हैं अग्निकोण में नीची भूमि धन-नाश करती है। दक्षिण दिशा में ऊँची भूमि स्वास्थ्यप्रद होती है। नैर्ऋत्यकोण में ऊँची भूमि लक्ष्मी (धन-धान्य) दायक होती हैं। पश्चिम में ऊँची भूमि पुत्रप्रद होती हैं, वायव्यकोण में ऊँची भूमि द्रव्य हानि, उत्तर दिशा में आरोग्य हानि और ईशान कोण में महाक्लेशकारक होती है यह वास्तुशास्त्र का मत है।[23] जिस भूमि पर भवन निर्माण करना हो, वहाँ यदि पानी बहाव पूर्व उत्तर व ईशान दिशा की ओर हो तो सुख प्राप्त होता हैं। इसी तरह अग्निकोण की ओर बहाव से आगजनी का, दक्षिण की ओर होने से मृत्यु, नैर्ऋत्यकोण की ओर होने से चोर का डर, वायव्य कोण की ओर होने से अन्न का नाश तथा पश्चिम की ओर बहाव होने से दुःख

17. ,, श्लोक-(53-54)
18. ,, श्लोक-(55-56)
19. ,, श्लोक-(57-58)
20. ,, श्लोक-(59-60)
21. ,, श्लोक-61-62
22. ,, श्लोक-(63-64)
23. ,, (श्लोक-69-70)

की प्राप्ति होती हैं। दूसरी ओर कहा गया है कि उत्तर की ओर पानी के बहाव वाली भूमि ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठ है। इसी प्रकार पूर्व में बहाव वाली क्षत्रिय, दक्षिण में बहाव पर वैश्य तथा पश्चिम की ओर बहाव होने वाली भूमि शूद्रों के लिए उत्तम मानी है।[24]

गजकूर्मपृष्ठादि लक्षण से भूमि परीक्षण–

दक्षिण, पश्चिम नैर्ऋत्य एवं वायव्यकोण में ऊँचे आकार की भूमि को गजपृष्ठ भूमि कहते है[25] गजपृष्ठ भूमि पर निवास करने से लक्ष्मी, धन तथा आयु की वृद्धि होती है[26] मध्यम भाग में विशेष ऊँची ओर चारों दिशाओं में नीची भूमि को कूर्मपृष्ठ कहते हैं, ऐसी लक्षण युक्त भूमि निवास योग्य होती है।[27] कूर्मपृष्ठ लक्षण युक्त भूमि पर निवास प्रतिदिन उत्साह एवं धन-धान्य की वृद्धि करता है।[28] पूर्व ईशान तथा आग्नेयकोण में ऊँची और पश्चिम में नीची भूमि को दैत्यपृष्ठ कहते हैं।[29] दैत्यपृष्ठ लक्षण वाली भूमि पर भवन निर्माण किया जाए तो उस गृह में लक्ष्मी कभी प्रवेश नहीं करती और धन, पुत्र पशुओं का भी विनाश होता है, इसमें सन्देह नहीं।[30] पश्चिम की ओर लम्बी दक्षिण तथा पश्चिम में ऊँची भूमि को नागपृष्ठ कहते हैं। ऐसी भूमि निवासकर्ता के मन का उच्चाटन करती है अर्थात् मन को कभी शान्ति नहीं मिलती[31] । पूर्वोक्त नागपृष्ठ के लक्षणों से युक्त भूमि पर निवास करने से निःसन्देह गृहपति की मृत्यु, स्त्री हानि, पुत्र-नाश और शत्रुओं का भय बना रहता है।[32]

भूखण्ड का विस्तार–

वास्तुशास्त्र के अनुसार भूखण्ड के ईशान कोण में, पूर्व, उत्तर या दोनों ओर विस्तार होना या करना शुभ एवं भाग्यवर्धक होता है क्योंकि ईशान में वास्तुपुरुष का शिर होता है। किन्तु ईशानकोण के अलावा आग्नेय नैर्ऋत्य एवं वायव्य कोणों में किसी भी दिशा में भूखण्ड का विस्तार शुभ नहीं होता ।[33]

भूखण्ड कटाव–

वास्तुशास्त्र के ईशान दिशा का बहुत महत्व है क्योंकि ईशान कोण में वास्तुपुरुष का शिर

---

24. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् (पृ.-183, श्लोक-17)
25. बृहद्वास्तुमाला श्लोक-82
26. ,, श्लोक-83,
27. ,, श्लोक-84,
28. ,, श्लोक-84,
29. ,, श्लोक-86
30. ,, श्लोक-87
31. ,, श्लोक-88
32. ,, श्लोक-89
33. भारतीयवास्तुशास्त्र (अध्याय द्वितीय)

होता है अतः किसी प्रकार का कटाव या विस्तार, जो ईशान कोण में जगह बढ़ाता हो वह शुभ माना जाता हैं। आग्नेय या वायव्य कोण के अलावा किसी भी दिशा में या कोणों में भूखण्ड में कटाव होना अशुभ माना गया है। यदि ऐसे भूखण्ड पर मकान बनाना आवश्यक हो तो उसको आयाताकार बनाकर या वर्गाकार बनाकर ही भवन का निर्माण करना चाहिए।[34]

आकृति द्वारा भूमि परीक्षण (भूखण्ड का आकार)

निवास योग्य भूमि का विधिवत् चयन करते समय भूमि की आकृति का परीक्षण वास्तुशास्त्रीय रीति से करना चाहिए क्योंकि भूखण्ड विविध आकारों में हो सकते है और सभी भूखण्ड शुभ फलदायी नहीं होते।

स्थान चयन के अन्दर भूमि की आकृति (बनावट) भी आती है, इसके अनुसार समकोण समायत भूमि सर्वप्रकार की सिद्धि की द्योतक होती है। चतुष्कोण समचतुर्भुज भूमि पर निवास धनागम का स्रोत है। वृत्ताकार भूमि बुद्धि, भद्राकार भूमि सभी प्रकार के भद्र मंगलकारिणी होती है। चक्राकार (कुम्भाकार चक्रवत्) दरिद्रता की जननी, विषमबाहु भूमि शोकप्रद, त्रिकोण राजभीति, शकट (लोकप्रसिद्ध बैलगाड़ी) की आकृति की धननाश, दण्ड व यष्टि जैसी अनावश्यक अति लम्बी भूमि क्षय, सूर्पाकार भूमि गोनाशकारिणी (गो पशु विशेष एवं गो इन्द्रिय) अर्थात् इन्द्रियविकृत प्राणी की जन्मदात्री है। कूर्माकार बन्धन (कारागार) भय, धनुषाकारभूमि महद्भयोत्पादक, कुम्भाकृति भूमि कुष्ठरोग जननी, पवनाकार पूर्व-पश्चिम में आयत भूमि नेत्रदोषोत्पादिका, मृदंगाकार भूमि धन-बन्धुनाशकारिणी होती है, अतः भूमि की आकृति का विचार भी निवास में परमावश्यक है।[35]

भूखण्ड के समीपवर्ती मार्ग[36]

चारों ओर मार्ग–

जिस भूखण्ड के चारों ओर मार्ग हो, वह सर्वश्रेष्ठ होता है। क्योंकि इस पर द्वार स्थापना में कोई कठिनाई नहीं आती। अतः आवास व्यापार एवं उद्योग आदि के लिए भवन निर्माण हेतु ऐसा भूखण्ड श्रेष्ठ होता है।

तीन ओर मार्ग–

जिस भूखण्ड के तीन ओर मार्ग हो, वह मध्यम होता है। जिस भूखण्ड के उत्तर, पूर्व एवं पश्चिम में सड़क हो और दक्षिण दिशा बन्द हो, वह लाभदायक नहीं होता। ऐसे भूखण्ड पर उत्तर दिशा में द्वार रखना शुभ होता है। जिस भूखण्ड पर उत्तर दिशा में मार्ग हो और पश्चिम दिशा बन्द हो, उस पर पूर्व दिशा में द्वार रखना शुभ होता है। जिस भूखण्ड में पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में

---

34. भारतीय वास्तुशास्त्र अध्याय 2
35. वास्तुसारसङ्ग्रहः तृतीय सोपानम् (पृ 5–श्लोक–14-17)
36. भारतीय वास्तुशास्त्र (अध्याय 2 पृ. 64-72)

मार्ग हो तथा उत्तर दिशा बन्द हो ऐसे भूखण्ड पर दक्षिण दिशा में द्वार शुभ होता है। जिस भूखण्ड के उत्तर पश्चिम एवं दक्षिण में सड़क हो तथा पूर्व दिशा बन्द हो वह आवास के लिए साधारण फलदायक होती है। किन्तु ऐसा भूखण्ड व्यापार के लिए अच्छा होता है। इस पर पश्चिम में द्वार शुभ होता है।

दो ओर मार्ग–

जिस भूखण्ड के उत्तर एवं पूर्व में मार्ग हो, वह ईशान स्थल कहा जाता है। यह भूखण्ड आवास एवं व्यापार सभी के लिए प्रगति एवं समृद्धिदायक होता है। जिस भूखण्ड के पूर्व एवं दक्षिण में मार्ग हो वह आग्नेय स्थल कहा जाता है। यह आवास एवं व्यापार के लिए शुभ होता हैं जिस भूखण्ड के दक्षिण एवं पश्चिम में सड़क हो वह नैर्ऋत्य स्थल कहलाता है। ऐसा भूखण्ड आवास के लिए शुभ एवं व्यापार के लिए लाभदायक होता है। जिस भूखण्ड के उत्तर एवं पश्चिम में सड़क हो वह वायव्य स्थल कहलाता है। यह आवास के लिए शुभ किन्तु व्यापार के लिए हानिकारक होता है। जिस भूखण्ड के आमने सामने उत्तर एवं दक्षिण में दोनों ओर सड़क हो वह सामान्य श्रेणी का होता है इसमें उत्तर दिशा में द्वार शुभ होता हैं। जिस भूखण्ड के दोनों ओर पूर्व एवं पश्चिम में सड़क हो, वह सामान्य श्रेणी का भूखण्ड होता है इस पर पूर्व दिशा में द्वार शुभ होता है।

एक तरफ मार्ग–

अधिकांशतया नगरों में भवन निर्माण हेतु प्लाट के एक ही तरफ सड़क होती है। जिस भूखण्ड के उत्तर या पूर्व में सड़क हो वह श्रेष्ठ माना जाता है। इस पर रहने वालों को सुख एवं समृद्धि प्राप्त होती है। और व्यापार में निरन्तर लाभ होता है। जिस भूखण्ड के उत्तर में सड़क होती है वह आवास एवं व्यापार के लिए श्रेष्ठ होती है। जिस भूखण्ड के पूर्व में सड़क हो वह आवास और व्यापार के लिए श्रेष्ठ होता है। जिस भूखण्ड के दक्षिण में सड़क हो वह आवास के लिए साधारण तथा व्यापार के लिए शुभ होती है। जिस भूखण्ड के पश्चिम में सड़क हो वह आवास के लिए सामान्य तथा व्यापार के लिए शुभ होता है।

कोणो में स्थित भूखण्ड[37]–

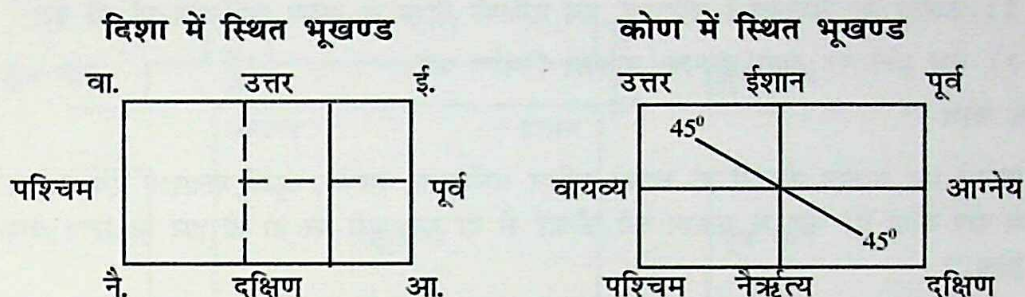
भवन निर्माण के लिए उपलब्ध भूखण्ड समुचित दिशाओं में कम ही मिलते है। सामान्य तथा उपलब्ध भूखण्ड से हटकर कुछ आगे-पीछे होते हैं।

जिस भूखण्ड मे चुम्बकीय किरण उसके बीचों बीच से होकर निकले वह भूखण्ड दिशा में होता है और भवन निर्माण के लिए श्रेष्ठ होता है। किन्तु जिस भूखण्ड में चुम्बकीय किरण भूखण्ड के अक्ष पर 45 अंश का कोण बनाती हुई गुजरे तब वह भूखण्ड कोण में स्थित भूखण्ड

---

37. भारतीय वास्तुशास्त्र (अ. द्वितीय पृ.74-76)

कहलाता हैं यथा–



कोणों में स्थित भूखण्ड परिस्थिति के अनुसार शुभ या अशुभ होते हैं, इस प्रकार के भूखण्ड़ों में चारों कोणों पर मार्ग या सड़क हो सकती है। किन्तु इनमें से केवल ईशान में मार्ग वाले भूखण्ड श्रेष्ठ होते हैं। बाकी भूखण्डों में से वायव्य एवं आग्नेय कोण में सड़क वाले भूखण्ड आवास के लिए शुभ नहीं होते। इनमें केवल कुछ खास प्रकार का व्यापार व्यवसाय किया जा सकता है–

(1) जिस भूखण्ड के ईशान कोण में सड़क हो उस पर आवास, फैक्ट्री होटल, रेस्ट्रा, हलवाई की दुकान, कचहरी वकील का आफिस, सौन्दर्य प्रसाधन कार्य, ब्यूटीपार्लर, बिजली, इलेक्ट्रानिक्स एवं कम्प्यूटर का कार्य किया जा सकता है।

(2) जिस भूखण्ड पर आग्नेयकोण में सड़क हो उस पर बेकरी, हलवाई, खान पान की चीजें, ऑटोमोबाईल, ईंजन, बिल्डिंग मेटेरियल, पत्थर, टाइल्स, मन्दिर एवं यज्ञशाला बनाई जा सकती है।

(3) जिस भूखण्ड के वायव्यकोण में सड़क हो उस पर आवास, दुकान, शोरूम, प्रोफेशनल के आफिस, फैक्ट्री, गैरेज, पेट्रोल पम्प, सिनेमा एयरकण्डीशनिंग का कार्य एवं खाद्यान्न का कार्य किया जा सकता है।

(4) जिस भूखण्ड के नैर्ऋत्य कोण में सड़क हो, उस पर आवास नहीं बनाना चाहिए। उस पर अस्पताल, नरसिंगहोम, डाक्टर का क्लीनिक बार, परमिटरूम, जुआघर, टायर, रबर हार्डवेयर, साइन्टीफिक एवं दवाई की दुकान का कार्य किया जा सकता है।

कोणों में स्थित भूखण्ड पर भवन निर्माण के समय कुछ बातें विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए–

(1) इन भूखण्ड़ों में ईशान कोण में ज्यादा खुली जगह छोड़ें।

(2) इन भूखण्डों पर निर्माण भूखण्ड की भुजाओं के समानान्तर करें।

(3) इन भूखण्ड़ों के कोणों में किसी प्रकार का कटाव या विस्तार हो तो उसको सुधार ले।

(4) बेसमेन्ट किसी हालत में 50 प्रतिशत से अधिक न बनावें।

(5) नैर्ऋत्य के समीपवर्ती पश्चिमी एवं दक्षिणी दिशा में कोण 90 अंश के ही हो।

(7) वेध होने पर आगे बरामदा बनाकर निर्माण करे।

वेध (शूल दोष)[38]

भूखण्ड एवं मकान के द्वार के सामने मन्दिर धर्मशाला, स्तम्भ, कुआँ,जलाशय एव सड़क होने से वेध दोष होता है। यदि ये मकान की ऊँचाई से दो गुना दूरी पर हो तो द्वार के लिए वेध दोष नही होता।[39]

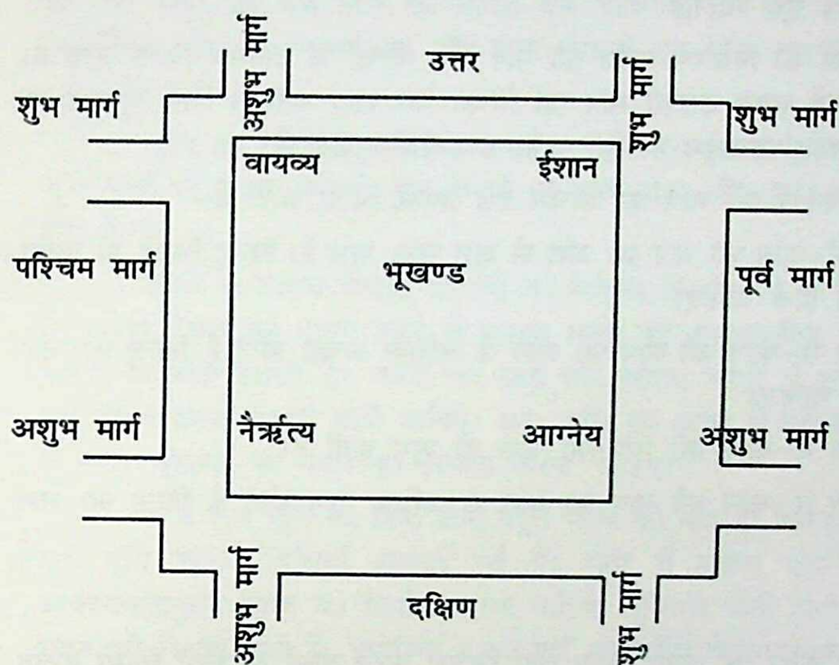
किन्तु भूखण्ड के वेध का विचार मुख्यरूप से मार्ग के आधार पर किया जाता है। यदि कोई सड़क इस प्रकार हो कि वह सीधा जाकर भूखण्ड को छूती हो तो वह भूखण्ड के लिए वेध या शूल होता है। यह मार्ग एक तीर की तरह आकर भूखण्ड को बेधता है।

भूखण्ड के पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशा में किसी भी ओर से कोई सड़क भूखण्ड के बीच के भाग को छूती हो तो वह वेध दोष होता हैं यदि यह वेध उत्तर और पूर्व दोनों दिशा में हो तो दोष नहीं होता तथा किसी गोल चक्कर के पास के भूखण्ड पर एक दो या तीन ओर सड़क हो तो भी वेध-दोष नहीं हो, अन्यथा दोष होता है।

यदि भूखण्ड की सीमा से लगी सड़क पर अन्य सड़क समकोण की सीध में आकर मिलती है, और वह सड़क जरा सी भी आगे बढ़ने पर भूखण्ड को छूती हो तो वेध या शूल होता है। यह वेध शूल दिशाओं में अशुभ तथा कोणों में विभिन्न स्थितियों में कभी शुभ एव कभी अशुभ होता है। यथा– चित्र द्वारा दर्शाया गया है–

---

38. भारतीय वास्तुशास्त्र- अ. द्वितीय पृ. 72-74)
39. बृहद्वास्तुमाला (श्लो-153, पृ.-93)
40. भारतीय वास्तुशास्त्र (अ. द्वितीय पृष्ठ 72)



शुभवेध–

वास्तुशास्त्र के अनुसार निम्न स्थितियों में वेध शुभ माना जाता है–

(1) जिस भूखण्ड के ईशान कोण पर वेध हो और पूर्व या उत्तर या दोनों ओर से आने वाली सड़के ईशान को छूती हो।

(2) जिस भूखण्ड के वायव्य कोने पर वेध हो और सड़क पश्चिम से आकर भूखण्ड को छूती हो।

(3) जिस भूखण्ड पर आग्नेय कोण पर वेध हो और सड़क दक्षिण से आकर भूखण्ड को छूती हो।

अशुभ वेध–

(1) यदि भूखण्ड के नैर्ऋत्य कोण पर वेध हो और सड़क दक्षिण या पश्चिम अथवा दोनों ओर से आती हो।

(2) यदि भूखण्ड के वायव्य कोण पर वेध हो और सड़क उत्तर से आती हो ।

(3) यदि भूखण्ड के आग्नेय पर वेध हो और सड़क पूर्व से आती हो।

भूखण्ड के कोनों की माप एवं गोलाई[41]

भूखण्ड की गुणवत्ता का निर्धारण कोनों की माप तथा गोलाई के अनुसार किया जाता है। अतः भूखण्ड का चयन करते समय उसकी माप का विचार कर लेना चाहिए। जिस भूखण्ड के चारों कोने 90 अंश के अर्थात् समकोण हो, वह भूखण्ड सर्वश्रेष्ठ होता है।

भूखण्ड के अन्य कोणों की माप का विचार इस प्रकार किया जाता है–

(1) ईशान कोण में–कोन की माप 90 अंश से कुछ कम, शुभ है। किन्तु किसी भी हालत में 90 अंश से अधिक नही होना चाहिए।

(2) आग्नेय कोण में–कोने की माप 90 अंश से अधिक अच्छी होती है किन्तु 90 अंश से कम कदापि नही होनी चाहिए।

(3) नैर्ऋत्य कोण में–कोने की माप 90 अंश ही शुभ होती है।

(4) वायव्य कोण में–कोने की माप 90 अंश से अधिक शुभ होती है किन्तु 90 अंश से कम नहीं होनी चाहिए।

कोनों की गोलाई–

भूखण्ड के ईशान कोण पर गोलाई होना वहाँ निवास करने वालों के लिए किसी हालत में शुभ नहीं होता। भूखण्ड के अन्य कोनों पर गोलाई हो तो उसमें सुधार कर मकान बनाया जा सकता है।

निवासयोग्यभूमि–जिस भूमि पर जाने से मन एवं नेत्र पूर्ण संतुष्ट हो जायें तो उस पर निवास करना गर्गादि ऋषि सम्मत होता है।[42]

ग्रामजीवितादिज्ञानफल–नाम, गाँव, दिशा की अक्षर संख्या में 7 (सात) जोड़कर तीन का भाग देने पर एक शेष में जीवित दो में मृत और शून्य शेष में शून्य गाँव होता है।[43]

भूमिजीवितादिज्ञान–भूमि के दीर्घ (लम्बाई) व विस्तार (चौड़ाई) की संख्या को जोड़कर उसमें ग्रामाक्षर संख्या को मिलाकर चार से गुणा कर पुनः नामाक्षर को जोड़कर तीन का भाग देना चाहिऐ।[44] एक शेष में भूमि जीवित, शेष में समता और शून्य शेष में शून्यता होती है। यह रुद्रयामल में कहा है।[45]

मतान्तर से–प्रश्नाक्षर को चार से गुणा करके उसमें तिथि, वार संख्या को जोड़कर तीन

---

41. वास्तुसारः (भूमिपरीक्षणप्रकरणम् वृ. वा. पृ.–20 श्लो 93)
42. वास्तुसारः (भूमिपरीक्षणप्रकरणम् बृ. दै. र. 86/56)
43. वास्तुसारः (भूमिपरीक्षणप्रकरणम् बृ. वा. 29 पृ. 97–98)
44. वास्तुसारः (भूमिपरीक्षणप्रकरणम् बृ. वा. 29 श्लोक 98)
45. वास्तुसारः (भूमिपरीक्षणप्रकरणम् बृ. वा. पृ. 22 श्लोक 99)

का भाग देकर शेष वश फल का आदेश देना चाहिये।[46] तीन का भाग देने पर एक शेष प्राप्त हो तो जीवित भूमि, दो मे समानता और शून्य शेष में मृत भूमि जाननी चाहिये, ऐसा आदियामल में कहा गया है।[47]

भूमि का जीवितमृतादिलक्षण—जिस भूमि पर वृक्ष होवे, घास हर्ष पूर्वक बढ़े वह जीवित भूमि होती हो इसके अन्यथा वृक्ष लगाने पर सूख जाय और घास की वृद्धि न हो वह भूमि मृत होती है।[48]

संसार में उत्पन्न समस्त प्राणियों को मातृवद् आश्रय देने के कारण यह धरती हमारी माता है। समस्त विश्व को धारण करने के कारण धरती को आधारशक्ति भी कहा गया है। धरती सभी भवनों का बोझ उठाती है। भवनों का सारा भार अंततः धरती में स्थानांतरित होता है। भवन की भार धारण क्षमता अच्छी होनी चाहिए। अतः भूमि का अच्छे से परीक्षा करके सभी प्रकार के दोषों से रहित भूखण्ड पर भवन का निर्माण करना चाहिए।

आज शुभ भूमि का प्राप्त होना बहुत भाग्य की बात है। शास्त्रों मे भूमि परीक्षण के अन्तर्गत कई भूमि शोधन विधियाँ बतलाई गई हैं। भूमि में व्याप्त दोषों का परिहार कर उस पर आवश्यकतानुसार वास्तु का निर्माण करना चाहिए। बुनियाद जैसी होती है उसी के आधार पर शेष भवन की स्थिति होती है, इसीलिए हमारे यहाँ आवासीय व्यावसायिक एवं धार्मिक वास्तु में भूमि परीक्षण का बहुत बड़ा महत्व है।

सर्वेक्षण-1

1. भूमि कब खरीदी? मकान कब बनाया? उसके पूर्व की स्थिति : 1996 में प्रॉपर्टी डीलर से खरीदी।

और सन् 2004 में उसे तुड़वा दुबारा मकान बनाया।

2. क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं परन्तु नक्शा बनाते समय बताया गया कि मकान वास्तु सम्मत बनाया जायेगा, परन्तु नहीं बना।

3. आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : परेशानियाँ लगी रहती है, पत्नी की तबियत खराब रहती है। जीवन में सिर्फ संघर्ष है।

निष्कर्ष

इस प्रकार का भूखण्ड जिसकी चारों भुजाओं की लम्बाई समान हो और प्रत्येक कोण 90 अंश का अर्थात् समकोण हो वह वर्गाकार कहलाता है। यह भूखण्ड भवन निर्माण के लिए श्रेष्ठ

---

46. वास्तुसारः (वृ. वा. पृ.-22 श्लोक 100)
47. वास्तुसारः (वृ. वा. पृ.-22 श्लोक 101)

होता है। जिस भूखण्ड के पश्चिम में सड़क हो वह आवास के लिए सामान्य तथा व्यापार के लिए शुभ होता है।

लेकिन इस भूखण्ड की भूमि पूर्व में ऊँची और पश्चिम में नीची है। इसे जलवीथी कहा जाता है और यह भूमि अशुभ होती है। इसके साथ साथ यह भूमि पूर्व ईशान में ऊँची तथा पश्चिम में नीची होने के कारण दैत्यपृष्ठ भूमि कहलाती है जो धन, पुत्र, एवं पशुओं की हानि करती हैं।

इस भूखण्ड का जल की निकासी नैर्ऋत्य कोण में होने के कारण प्राणघातक हैं। इस भूखण्ड का द्वार भी वास्तुपुरुष के पश्चिम में पितृ एवं दौवारिक स्थान में रखने के कारण अशुभ है। अतः इस प्रकार के भूखण्ड पर निवास करने के कारण इस भूखण्ड के स्वामी को परेशानियाँ, पत्नी की तबीयत खराब रहने के कारण जीवन में संघर्ष हैं।

सर्वेक्षण-2

1. भूमि कब खरीदी? मकान कब बनाया? उसके पूर्व की स्थिति : पुस्तैनी मकान है

2. क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

3. आपको इस भूमि पर कैसा लगा : परिवार में सुख-समृद्धि है।

निष्कर्ष-

जिस भूखण्ड के आमने-सामने की भुजाओं की लम्बाई समान हो और चारों कोण समकोण हो वह आयताकार कहलाता है। यहाँ चौड़ाई व लम्बाई का अनुपात 1:2 से अधिक नही होना चाहिए। अतः यह भूखण्ड श्रेष्ठ भूखण्ड है।

पश्चिम में सड़क होने पर शुभ है। इस भूखण्ड की दक्षिण दिशा की भूमि ऊँची एवं उत्तर दिशा में नीची होने के कारण गजवीथि कहलाती है। जो धन वृद्धि करती हैं इस भूखण्ड की जल की निकासी समुचित है, जो सुखदायक एवं राजसम्मान प्रदायक होती हैं। अतः इस प्रकार के भूखण्ड पर निवास करने के कारण परिवार में सुख-समृद्धि है।

सर्वेक्षण-3

भूमि कब खरीदी/ मकान कब

बनाया उसके पूर्व की स्थितिः प्रॉपर्टी डीलर से 1998 में बना बनाया मकान खरीदा

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : परेशानी है, घर में सुख शान्ति नहीं है। लड़का कहना बिल्कुल नहीं मानता।

निष्कर्ष–

इस भूखण्ड में ईशान कोण पर उत्तर दिशा में 1 फुट का कटान हैं भूखण्ड की दिशा और कोणों का कटाव उस पर रहने वाले लोगों को प्रभावित करता हैं।

वास्तुशास्त्र में ईशान कोण का बहुत महत्व है, क्योंकि ईशान कोण में वास्तुपुरुष का शिर होता है। ईशान कोण पर उत्तर दिशा में कटाव निर्धनता शत्रुता एवं परिवार में मेलजोल की कमी के कारण अशुभ होता है। इसी कारण भू-स्वामी के घर में सुख-शान्ति नहीं हैं और वह परेशान हैं।

सर्वेक्षण-4

भूमि कब खरीदी/ मकान कब

बनाया उसके पूर्व की स्थिति : पुस्तैनी है

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : अच्छा है घर में पैसा तो बहुत आता है लेकिन टिकता नहीं। छोटे भाई को ही परिवार में सभी मुख्य महत्त्व/स्थान देते हैं।

निष्कर्ष:–

जैसा कि सर्वेक्षण 2 में कहा गया है कि आमने सामने की भुआओं की लम्बाई समान हो और चारों कोण समकोण हो वह आयताकार कहलाता है। यहां लम्बाई से चौड़ाई का अनुपात 1:2 से अधिक है। अतः वास्तु की दृष्टि यह अशुभ भूखण्ड है।

पूर्व दिशा की ओर ढालदार भूमि धन-पैसा की वृद्धि करने के कारण भू-स्वामी के घर में पैसा तो आता है। लेकिन वास्तु की जानकारी न होने के कारण उनका कोषागार वायव्य दिशा में बनाया गया है और छोटे भाई का शयन कक्ष भी दक्षिण दिशा में, जहाँ परिवार के मुख्य का शयन का स्थान होना चाहिए वहाँ पर है। अतः भूमि के ढलान के हिसाब से तो शुभ होते हुए भी आन्तरिक वास्तु व्यवस्था में सुसम्मत न होने के कारण पैसा होते हुए भी उसका सही उपयोग न होना और छोटे भाई का परिवार में मुख्य स्थान है।

सर्वेक्षण–5

भूमि कब खरीदी/मकान

कब बनाया/ उसके पूर्व की स्थिति : 1975 में प्रापर्टी डीलर से खरीदकर 1978 में मकान बनाया,

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : घर में सुख शान्ति है। धन भी आता है। दोनों पुत्रों का विवाह हो गया है सम्पूर्ण सुखमय परिवार है।

निष्कर्ष–

इस भूखण्ड के ईशान कोण में उत्तर की ओर कटाव के कारण शुभ है। वास्तुशास्त्र में ईशान दिशा का बहुत महत्व है क्योंकि ईशानकोण में वास्तुपुरुष का सिर होता है, अतः किसी भी प्रकार का कटाव या विस्तार जो ईशान कोण में जगह बढ़ाता हो शुभ है।

यह भूखण्ड दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्य एवं वायव्य में ऊँचे आकार की होने के कारण गजपृष्ठ भूमि है। इस प्रकार की भूमि पर निवास करने से लक्ष्मी धन तथा आयु की वृद्धि होती है। अतः इस भूखण्ड पर बने घर में सुख शान्ति और सुखमय परिवार है।

सर्वेक्षण–6

भूमि कब खरीदी। मकान कब

बनाया। उसके पूर्व की स्थिति : पुस्तैनी मकान है।

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : परिवार में सुख है

निष्कर्ष–

इस भूखण्ड के वायव्य कोण पर उत्तर दिशा में कटान ईशान कोण में विस्तार करता है अतः यह शुभ भूखण्ड है। जैसा कि सर्वेक्षण 3 में भूखण्ड के कटाव का वर्णन है कि भूखण्ड की दिशा और कोणों का कटाव उस पर रहने वाले लोगों को प्रभावित करता है।

यह भूखण्ड की पूर्व दिशा ओर ढालदार हैं। भूमि ढालदार होने के कारण भू-स्वामी को धन प्राप्ति द्वारा परिवार में सुख हैं।

सर्वेक्षण–7

भूमि कब खरीदी/ मकान कब

बनाया/ उसके पूर्व की स्थिति : 1984 में 3 भाइयों ने मिलकर प्लाट खरीदकर मकान बनाया।

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : घर में झगड़े होते रहते हैं, छोटे भाई अलग होने के लिए मुकदमा की धमकी देता है।

निष्कर्ष–

इस भूखण्ड के नैर्ऋत्य कोण पर पश्चिम दिशा में विस्तार हैं इस प्रकार का विस्तार मुकदमेबाजी एवं नुकसानदायक होने के कारण अशुभ होता है।

इस भूखण्ड की लम्बाई का चौड़ाई का अनुपात भी 1:2 से अधिक है। जो अशुभ है। इस कारणवश घर में झगड़े होते रहते है और इनका छोटा भाई बार-बार मुकदमे की धमकी देता हैं।

सर्वेक्षण–8

भूमि कब खरीदी/ मकान कब बनाया

उसके पूर्व की स्थिति : अगस्त 2013 में यह भूखण्ड खरीदा है।

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता हैं: देखने पर अच्छा लगता है मैंने इस भूखण्ड पर मारूति गाड़ी का शोरूम व आफिस बनाना है।

निष्कर्ष–

इस भूखण्ड का आकार शकटाकार हैं। बैलगाड़ी रथ या तागे जैसी आकृति के भूखण्ड को शकटाकार कहते हैं। यह भवन निर्माण एवं आवास के लिए अशुभ होता है। ऐसे भूखण्ड पर निर्माण करने से अग्नि भय, अशान्ति व क्लेश होता है।

इस प्रकार निषिद्ध आकार वाले भूखण्ड में से चौकोर आकार निकालने या सुधार करने के बाद बची जमीन में पूर्व की ओर घास, पौधों की क्यारी, फुहारे एवं झरना आदि तथा पश्चिम दक्षिण में बड़े लगाये जा सकते है। किन्तु सुधार से बची जमीन पर किसी प्रकार का निर्माण नहीं करना चाहिए।

जाँच करने के उपरान्त यह पता लगा कि यह भूमि चिकनी और ठोस मिट्टी की है और यह हरित वर्ण कुछ पीलापान लिए वैश्य भूमि है। भू-स्वामी के भाग्यवश यह भूमि भी एक व्यापारी की है। मेरे पूछे जाने भूमि निरीक्षण के उपरान्त उसने मुझे वास्तुसम्मत अपना व्यवसायिक शोरूम बनाने के लिए आग्रह किया है।

सर्वेक्षण–9

भूमि कब खरीदी! मकान कब बनाया

उसके पूर्व की स्थिति : दो साल पहले 2012 में यह भूखण्ड खरीदा है और अब भवन निर्माण करना है।

क्या आपको वास्तु का ज्ञान था : नहीं

आपको इस भूमि पर कैसा लगता है : मकान बनेगा तब पता लगेगा

निष्कर्ष–

इस प्रकार का भुखण्ड जिसकी चारों भुजाओं की लम्बाई समान हो और प्रत्येक कोण 90^0 हो वर्गाकार कहलाता है। यह भवन निर्माण के लिए श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार के भूखण्ड पर निवास करने से सुख, समृद्धि एवं परिवार की प्रगति होती है।

इस भूखण्ड के उत्तर एवं पूर्व में मार्ग है। जिस भूखण्ड के उत्तर एवं पूर्व में मार्ग हो वह ईशान स्थल कहलाता है। यह भूखण्ड आवास एवं व्यापार सभी के लिए प्रगति एवं समृद्धिदायक होता है।

इस भूखण्ड की सफेद रंग की मिट्‌टी है। सुगन्धित मिट्‌टी है। यह ब्राह्मणी भूमि तथा शुभ भूमि मानी जाती हैं। यह भूखण्ड ठोस तथा चिकनी मिट्‌टी वाला है।

वास्तु के बारे में मैंने भूखण्ड स्वामी को और कई जानकारी दी अतः उन्होंने वास्तु के महत्त्व को जानकर वास्तु-सम्मत मकान बनाने का निश्चय किया।

विश्लेषण–

सारे विश्व में विभिन्न देशों-प्रदेशों में मिट्‌टी का अलग-अलग रंग हैं किन्तु वास्तुशास्त्र के अनुसार भवन निर्माण के लिए उचित भूखण्ड का चुनाव उस पर बनने वाले भवन के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भवन की नींव (बुनियादी) के आधार पर ही भवन टिकता है। अतः इस सन्दर्भ में मैंने भूमि परीक्षण कर विभिन्न भू-खण्डों का सर्वेक्षण किया।

मैंने सर्वेक्षण के दौरान यह पाया कि वर्गाकार व आयाताकार भूखण्ड भवन निर्माण के लिए शुभ तो होते है लेकिन उसमें कटाव या विस्तार हो जाय तो उसकी शुभता-अशुभता में अलग-अलग परिणाम होते हैं। भूमि के ढलाव का भी भूखण्ड में रहने वालों पर प्रभाव पड़ता है। भवन निर्माण के लिए प्रशस्त भूमि के अन्तर्गत शल्योद्धार, मिट्‌टी के गुण दोषों का विचार उसके रंग, गन्ध एवं स्वाद आदि के आधार पर ब्राह्मणादि भूमि का परीक्षण जरूरी है। मेरे इन नौ सर्वेक्षणों में भूमि के अलग अलग खण्डों का उन पर रहने वाले लोगों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है।



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली 110016